# जैन भारती

वर्ष 50 • अंक 3-4-5 • मार्च-मई, 2002

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**शुभू पटवा**
मानद संपादक
•
**बच्छराज दूगड़**
मानद सह-संपादक

# जैन भारती

मार्च-मई, 2002 • वर्ष 50 • अंक 3-4-5 • इस अंक का मूल्य रु. 100.00

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# इस अंक में

## विमर्श


11
*आचार्यश्री महाप्रज्ञ*
**अनेकांत और नए समाज की रचना**
●
**नय, अनेकांत और विचार के नियम**

22
*यशदेव शल्य*
**अनेकांत और स्याद्वाद : कैसे हो अस्पष्टता का निवारण**

27
*तुषार सरकार*
**अनेकांतवाद और स्याद्वाद : एक विमर्श**

38
*प्रो. सिद्धेश्वर प्रसाद*
**अनेकांत दर्शन : ऊर्ध्वारोहण की साधना**

44
*प्रो. दयाकृष्ण*
**अनेकांत : कुछ समस्याएं**

48
*डॉ. बच्छराज दूगड़*
**अनेकांत की व्यवहार्यता**

54
*डॉ. राजकुमारी जैन*
**अनेकांतात्मक स्वरूप : ज्ञानमीमांसीय संदर्भ**

64
*प्रो. सागरमल जैन*
**अनेकांत : सत्य के खोज की व्यावहारिक पद्धति**

74
*डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी*
**आधुनिक युग को जैन दर्शन का प्रदेय : नयवाद और अनेकांतवाद**

81
*डॉ. जे. पी. एन. मिश्रा*
**शारीरिक संरचना में झलकता अनेकांत**

87
*डॉ. आनंदप्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'*
**अनेकांत और अरस्तू**


## प्रसंग


7
*शुभू पटवा*
**आध्यात्मिक पुनरुज्जीवन**



**संपादकीय पता** : संपादक, जैन भारती, भीनासर 334403, बीकानेर ● फोन : 0151-270305, 202505
**प्रकाशकीय कार्यालय** : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा तेरापंथ भवन, महावीर चौक, गंगाशहर, बीकानेर 334401
**प्रधान कार्यालय** : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता 700001
**सदस्यता शुल्क** : वार्षिक 125/- रुपये ● त्रैवार्षिक 350/- रुपये ● दसवर्षीय 1000/- रुपये



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

93
*युवाचार्य महाश्रमण*
**व्यवहार में अनेकांत का प्रयोग**
95
*साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा*
**अनेकांत का सेतु : विचारों के तट**
98
*डॉ. रामजीसिंह*
**अनेकांत : महावीर का सत्यान्वेषण**
101
*नीरज जैन*
**अनेकांत : चिंतन का चरमचक्षु**
105
*डॉ. अनिल धर*
**अनेकांत के अनुप्रयोग**
110
*प्रो. (डॉ.) प्रेम सुमन जैन*
**अनेकांतवाद : समन्वय का आधार**
114
*डॉ. हरिशंकर पाण्डेय*
**वैदिक साहित्य में भाषिक अनेकांत**
119
कहानी
*रियूनोसुके अकूतागावा*
**कुंज के भीतर**
124
कविता
**अज्ञेय की कविताएं**

127
*डॉ. अशोककुमार जैन*
**अनेकांत : उद्भव एवं विकास**
134
*निहालचंद जैन*
**अनेकांत की वैज्ञानिकता**
138
*हेमलता बोलिया*
**समस्याओं का समाधान : अनेकांत**
141
*प्रकाश सोनी (वर्मा)*
**अनेकांतवाद : जैनेतर परंपरा में**
144
*हेमन्तकुमार डूंगरवाल*
**अनेकांत : न एकांत**
147
बोध कथन
*मुनि दुलहराज*
**अपराध और दंड तथा पांच प्रेरक प्रसंग**

आवरण
**अडिग**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'ईश्वर के संबंध में मेरा जैसा विश्वास है, ठीक वैसा ही मैं बोलता हूं...वह सृष्टिकर्ता भी है और अ-सृष्टिकर्ता भी। यह भी यथार्थ की अनेकता के सिद्धांत की मेरे द्वारा स्वीकृति का ही परिणाम है। मैं जैनियों के मंच से ईश्वर के अ-सृष्टिकर्ता होने की धारणा को सिद्ध करता हूं और रामानुज के मंच से उसके सृष्टिकर्ता होने की धारणा को। वस्तुतः हम सब अचिंत्य का चिंतन करने, अवर्णनीय का वर्णन करने और अज्ञेय को जानने का प्रयास करते हैं। इसीलिए हमारी वाणी लड़खड़ा जाती है, कभी-कभी हमें वाणी की अपर्याप्तता का भी एहसास होता है और प्रायः हम परस्पर विरोधी बातें भी कह जाते हैं। यही कारण है कि वेदों ने ब्रह्म का वर्णन करते हुए 'नेति-नेति' कहा है।

मेरी समझ में राम, रहमान, अहुरमज्द, गॉड या कृष्ण—मनुष्य द्वारा इस अदृश्य शक्ति—जो शक्तियों में सबसे बड़ी है—को कोई नाम देने के प्रयास ही हैं। अपूर्ण होते हुए भी पूर्णता की प्राप्ति के लिए निरंतर प्रयत्न करना मानवप्रकृति है। ऐसा करते हुए वह कभी दिवास्वप्न देखने लगता है। और जिस प्रकार कोई बालक खड़े होने का प्रयत्न करता है, बार-बार गिरता है और अंततः चलना सीख जाता है, उसी तरह आदमी भी, अपनी सारी बुद्धिमत्ता के बावजूद, उस असीम और अनंत ईश्वर के सामने निरा शिशु है। यह अतिशयोक्ति लग सकती है, पर है नहीं। मनुष्य ईश्वर का वर्णन अपनी तुच्छ भाषा में ही तो कर सकता है।'

—महात्मा गांधी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

योग्यता की दृष्टि से मनुष्य पांच इंद्रिय वाला होता है। एक काल में वह एक ही इंद्रिय से जानता है। जब एक आदमी सूखा लड्डू खाता है, तब उसे शब्द भी सुनाई देता है, उसे देखता भी है, उसकी गंध भी आती है, रस भी चखता है। लगता है पांचों की जानकारी या अनुभूति एक साथ हो रही है। परंतु ऐसा होता नहीं। इन सबका काल भिन्न होता है। दो ज्ञान एक साथ नहीं हो सकते। दो क्रियाएं एक साथ हो सकती हैं, किंतु अविरोधी हों तो। दो विरोधी क्रियाएं एक साथ नहीं हो सकतीं। दो प्रकार के विचार एक साथ नहीं हो सकते।

सम्यक् और असम्यक्—दोनों क्रियाएं एक साथ नहीं हो सकतीं। अहिंसा और हिंसा, धर्म और अधर्म का आचरण एक साथ नहीं किया जा सकता। सांसारिक उपकार सांसारिक व्यवस्था का मार्ग है। आत्मिक उपकार मोक्ष की साधना का मार्ग है। मिथ्यादृष्टि इन दोनों को एक मानता है, सम्यक्दृष्टि इनको अलग-अलग मानता है।

**'भिक्षु विचार दर्शन' से**

धर्म अरूप तत्त्व है। उसे लोक-जीवन में प्रतिष्ठित करने के लिए रूप देना जरूरी होता है। विचारों के वाहन पर बिठा देने से वह रूपवान बन सकता है। उसका रूप अनाविल और हृदयहारी रहे—इसके लिए विचारों को समन्वय के 'फ्रेम' में व्यवस्थित करने की अपेक्षा रहती है। असमन्वित विचारधारा से प्रवाहित तरंगें समग्र वातावरण का सन्तुलन तोड़ सकती हैं। इस दृष्टि से भगवान महावीर ने समता और समन्वय पर विशेष बल दिया।

समता और समन्वय के खंभों पर संगठन का प्रासाद खड़ा हो सकता है। भगवान महावीर ने समता और समन्वय के साथ संगठन को भी विशेष प्रतिष्ठा दी। कुछ विचारकों के अभिमत से संगठन हिंसा का प्रतीक है। पर महावीर के दर्शन में यह स्वर कहीं भी मुखर नहीं है। उन्होंने सत्य को उपलब्ध करते ही संगठन को अपनी स्वीकृति दे दी। आज तक जितने भी तीर्थंकर हुए हैं, उन सबने ऐसा ही किया है। क्योंकि तीर्थंकर बनने की पहली शर्त ही है—तीर्थ अर्थात् संघ की स्थापना। जहां संघ है वहां संगठन की अनिवार्यता है। कोई भी व्यक्ति अकेला रहकर साधना करे, वहां संगठन का मूल्य नहीं है। किंतु सामूहिक साधना संगठन के अभाव में अपनी तेजस्विता को मंद कर देती है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि साधना संगठन के लिए ही है। पर साधना के लिए संगठन का जो उपयोग है, उसी को ध्यान में रखकर भगवान महावीर ने एक संगठित धर्म-संघ का प्रवर्तन किया था।

**—आचार्यश्री तुलसी**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सांप्रदायिक कट्टरता अतीत में भी रही है, आज भी है। अतीत में भी एक संप्रदाय ने दूसरे संप्रदाय में विद्यमान असत्यांश को देखने का दृष्टिकोण विस्तृत किया, उसके प्रति जनता में घृणा का भाव उभारा। आज भी ऐसा हो रहा है। फलतः सांप्रदायिक संघर्ष की चिनगारी समय-समय पर उछलती रहती है। इस समस्या का सर्वोत्तम समाधान है—दूसरों में विद्यमान सत्यांश को ग्रहण करने वाली दृष्टि का विकास। इसी चिंतन के क्षणों में काका कालेलकर ने कहा था—'आज के विश्व को अनेकांत की जरूरत है।'

लोकतंत्र की प्रणाली में अनेकांत एक जीवन-शक्ति का काम करता है। अनेकांत का एक सिद्धांत है अर्पणा और अनर्पणा। किसी एक की अर्पणा करो, उसे आगे लाओ, मुख्य बनाओ। दूसरे की अनर्पणा करो, उसे पीछे ले जाओ, गौण कर दो। इस मुख्य और गौण बनाने की प्रक्रिया से ही बदलते हुए सत्यों की व्याख्या हो सकती है। हमारी गति का क्रम है—एक पैर आगे आता है, दूसरा पैर पीछे चला जाता है। दोनों पैरों की इस सापेक्षता से ही गति संभव बनती है। बिलौने में दोनों हाथों का भी यही क्रम है। पहले क्षण दायां हाथ आगे आता है, बायां हाथ पीछे। दूसरे क्षण दायां हाथ पीछे चला जाता है और बायां हाथ आगे आ जाता है। दोनों हाथ आगे रहें या पीछे रहें, नवनीत नहीं निकलता। कभी एक सत्यांश प्रमुख होता है तो दूसरा सत्यांश गौण बन जाता है। इस गतिशीलता ने ही दो भिन्न अथवा विरोधी सत्यांशों में समन्वय स्थापित किया है।

दर्शन के क्षेत्र में अनेकांत समन्वय का प्रवर्तक है। उसकी अनुक्रिया व्यवहार के क्षेत्र में भी होती है। यह समन्वय का सूत्र ही सह-अस्तित्व का आधार बनता है।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रसंग

# आध्यात्मिक पुनरुज्जीवन

अब यह माना जाने लगा है कि निरंतर बढ़ रही विश्व की विकट समस्याओं का समाधान अध्यात्म में ही निहित है और इसे छोड़कर किसी अन्य प्रणाली से विषमता का विषदंत बेअसर नहीं किया जा सकता। भौतिक विकास की लंबी छलांग ने मनुष्य और मनुष्य के बीच गहरी खाइयां खड़ी की हैं। एक ओर एक ऐसा वर्ग इस धरती पर है जिसके पास संसाधनों का बेशुमार अंबार है, तो दूसरी तरफ एक बड़ा वर्ग ऐसा भी है जो भूखा है, नंगा है और बीमार हालत में अपनी जिंदगी के दिन तोड़ रहा है। हालत यह भी है कि जो सबसे अधिक शक्तिसंपन्न है वह ही सबसे अधिक भयभीत है। जिसने हिंसा के सर्वाधिक संसाधन जुटा रखे हैं, उसका जीवन सर्वाधिक आशंकाओं, दुविधाओं और दुश्चिंताओं से घिरा हुआ है। कहा जा सकता है कि जो सबसे अधिक संपन्न है, वही सबसे ज्यादा विपन्न अवस्था में है।

मनुष्य समाज की ऐसी दुरवस्था के ही चलते अब यह माना जाने लगा है कि रास्ता एक ही है और वह है अध्यात्म। अध्यात्म है क्या? मनीषी-दार्शनिक आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के शब्दों में—"अध्यात्म और नैतिकता दोनों एक ही शृंखला की दो कड़ियां हैं। अध्यात्म-चेतना जागने पर कोई भी व्यक्ति अनैतिक नहीं हो सकता। नैतिक व्यक्ति ही अध्यात्म की दिशा में अग्रसर हो सकता है। कार्य-कारण की दृष्टि से अध्यात्म कारण तथा नैतिकता उसका फलित है। व्यवहार की दृष्टि से नैतिकता समाज की अपेक्षा है और अध्यात्म व्यक्ति की अपेक्षा है। व्यक्ति और समाज को सर्वथा विभक्त नहीं किया जा सकता। दोनों स्वस्थ रहें, यह संयुक्त अपेक्षा है। व्यक्ति-व्यक्ति में अध्यात्म चेतना जागे, वह सामाजिक चेतना में प्रतिबिंबित हो—यह सबसे बड़ी मांग है।"

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की ही तरह भारत के प्रमुख विचारक-दार्शनिक डॉ. राधाकृष्णन् भी मानते हैं कि अप्रिय घृणाओं को समाप्त कर डालने के लिए आध्यात्मिक पुनरुज्जीवन की आवश्यकता है। वे मानते हैं—"विचारों की कोई भी गंभीर साधना, विश्वासों की कोई भी खोज, सद्गुणों के अभ्यास का कोई भी प्रयत्न—ये सभी उन ही स्रोतों से उत्पन्न होते हैं, जिनका नाम धर्म है।" डॉ. राधाकृष्णन् तो यहां तक कहते हैं—"न्यायपूर्वक आचरण करना, सौंदर्य से प्रेम करना और सत्य की भावना के साथ विनम्रतापूर्वक चलना—यही सबसे ऊंचा धर्म है।"

मनुष्य और मनुष्य के बीच पनपती जा रही गहरी खाई को कम करने में धर्म की ऐसी ही परिभाषा सहायक हो सकती है। धर्म के नाम पर तथाकथित आग्रह-दुराग्रह और उसी के चलते होने वाले टकरावों ने जितना धर्म का अहित किया है, उससे कहीं अधिक धार्मिक संकीर्णता से मनुष्यता आहत हुई है। धर्म की निर्मल छवि पर छा रहे कल्मष को साफ करने का एकमात्र उपाय है—अनेकांत। अनेकांत से तात्पर्य ही आग्रहों-दुराग्रहों से मुक्त होकर, मत-मतांतरों के बीच उभरने वाले टकरावों का शमन कर समन्वय और सामंजस्य के साथ भिन्न विचारों को सम्मान देना है। असहमतियों के प्रति सम्मानजनक स्थितियां बनाए रखने में अनेकांत का सिद्धांत जितना कारगर हो सकता है, किसी अन्य मत में इतनी सामर्थ्य प्रतीत नहीं होती।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि हम एक बेहतर विश्व के निर्माण की दिशा में सोच रहे हों, एक ऐसी विश्व-व्यवस्था में हमारा विश्वास हो—जिसमें न दरिद्रता हो, न बेकारी हो और न विषमता, जिसमें युद्ध का उन्माद और रक्तपात की संभावनाएं सिरे से ही खारिज रहें—तो कोई ऐसा मार्ग तलाशना होगा जो आध्यात्मिक पुनरुज्जीवन का शंखनाद कर सके। अनेकांत इसके लिए सहज मार्ग हो सकता है। यद्यपि यह दुर्भाग्य ही है कि समन्वय और परस्पर सम्मान-दृष्टि रखने वाले इस सिद्धांत पर समग्र रूप से चिंतन कभी नहीं हो पाया। अनेकांत को धर्म की सीमाबंदी में इस तरह जकड़ा रखा गया कि इसका दार्शनिक-तात्त्विक स्वरूप तो उजागर हुआ, पर जीवन के विभिन्न पहलुओं और जटिलताओं के समाधान में भी इसकी कोई भूमिका हो सकती है, ऐसी क्षमता भी अनेकांत में विद्यमान है—विचार नहीं हो पाया। लेकिन अब, जब यह बात कही जाने लगी है कि समस्याओं से मुक्त होने के लिए अध्यात्म ही सर्व-सुलभ मार्ग है—अनेकांत की क्षमताओं पर विचार होना चाहिए।

क्या अनेकांत हमारे सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन पर असरदार हो सकता है? आज जो स्थितियां विश्वपटल पर नजर आ रही हैं— क्या उन पर अनेकांत दृष्टि से विचार किया जा सकता है? समूचे राजनीतिक-आर्थिक जीवन पर आज या तो बाजार की शक्तियों का प्रभाव है या आतंकवाद का। आतंकवाद ने केवल निहत्थों-निरपराधों की जानें ही नहीं ली है, सत्ता और विचारधारा को थोपने के लिए शक्तिसंपन्न राष्ट्रों, जनों की धौंसपट्टी भी प्रकारांतर से आतंकवाद ही है। हिंसा केवल जीवहत्या में ही नहीं है, जितनी यह हिंसा घृणास्पद है—मानसिक और वाचिक रूप से होने वाली हिंसा भी उतनी ही घृणित है।

आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के अनुसार भगवान महावीर कहते हैं—"दूसरों के प्रति ही नहीं, उनके विचारों के प्रति भी अन्याय मत करो। अपने को समझने के साथ-साथ दूसरों को समझने की भी चेष्टा करो।" महाप्रज्ञजी के अनुसार यही है अनेकांत दृष्टि, यही है अपेक्षावाद और इसी का नाम है बौद्धिक अहिंसा। भगवान महावीर ने इसे दार्शनिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखा, इसे जीवन-व्यवहार में भी उतारा। इसके समर्थन में महावीर के जीवनकाल की कई घटनाओं—चंडकौशिक सांप, संगम आदि का आचार्यश्री महाप्रज्ञजी उल्लेख करते हैं। वर्तमान संदर्भ में इन्हें आतंकवाद का रूप ही कहा जाएगा। महावीर ने तत्समय के ऐसे कथित आतंकवाद के बरक्स विश्व-मैत्री की दृष्टि प्रतिपादित की। महावीर की यही दृष्टि आज की समस्याओं के समाधान में सहायक हो सकती है—अतः इन पर विचार होना चाहिए। इस दृष्टि से **जैन भारती** का यह अंक आपके सम्मुख है।

**यह अंक—**

अनेकांत सिद्धांत पर जैन भारती का यह विशेष अंक अपने सुधी पाठकों व देश के विद्वत् समाज के हाथों में सौंपते हुए हमें अतीव आह्लाद हो रहा है। भगवान महावीर के छब्बीसवें जन्म शताब्दी वर्ष में 'जैन भारती' ने विचार किया कि महावीर के सिद्धांतों पर विविध दृष्टिकोणों से बेलाग चर्चा हो और सम-सामयिक परिस्थितियों में उनके विचारों की प्रासंगिकता को खंगाला जाए। इसी विचार की एक फलश्रुति है **'जैन भारती'** का यह **'अनेकांत विशेष'** अंक।

अनेकांत दृष्टि के विविध आयामों पर अधिकारी विद्वानों ने जो लेखकीय सहयोग दिया है—हम हृदय से उनके कृतज्ञ हैं। अनेकांत पर विविधपक्षी विचार एक ही स्थान पर अब तक उपलब्ध नहीं हैं। इस दृष्टि से जैन भारती का यह प्रयास अनेकांत पर वैचारिक उत्तेजना और चर्चा को आगे बढ़ाने में सहायक होगा—ऐसा हमारा मानना है। इस अंक में वैचारिक लेखों के साथ-साथ महावीर के जीवनकाल के प्रेरक प्रसंग भी हैं। कथा व कविताएं भी हैं—जिनमें पाठक अनेकांत दृष्टि की झलक पाएंगे। कहने का तात्पर्य यह कि रचनात्मक सृजन पर भी अनेकांत दृष्टि का प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रभाव हम देख सकते हैं। इस अंक की सामग्री में हर स्तर या वर्ग के पाठक को कुछ-न-कुछ अपने लिए अवश्य मिलेगा—यह हमारा विश्वास है। इस बृहत् विशेषांक के लिए अप्रतिम लेखकीय साझेदारी, सहृदय विज्ञापनदाताओं का उदार सहयोग श्लाघनीय है। सांखला प्रिंटर्स की पूरी टीम मनोयोग से इस 'अनेकांत विशेष' के लिए संलग्न रही—सभी का साधुवाद। लेकिन वे मही-जन जो निस्संग रूप में सदा साथ जुटे रहते हैं, जो अनुबोधक की तरह मेरे कार्यों को गति देते हैं—कैसे और किस रूप में उनके प्रति मैं कृतज्ञता प्रकट करूं? मैं उनका कृतज्ञ हूं। आप सबका भी।

**— शुभू पटवा**



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

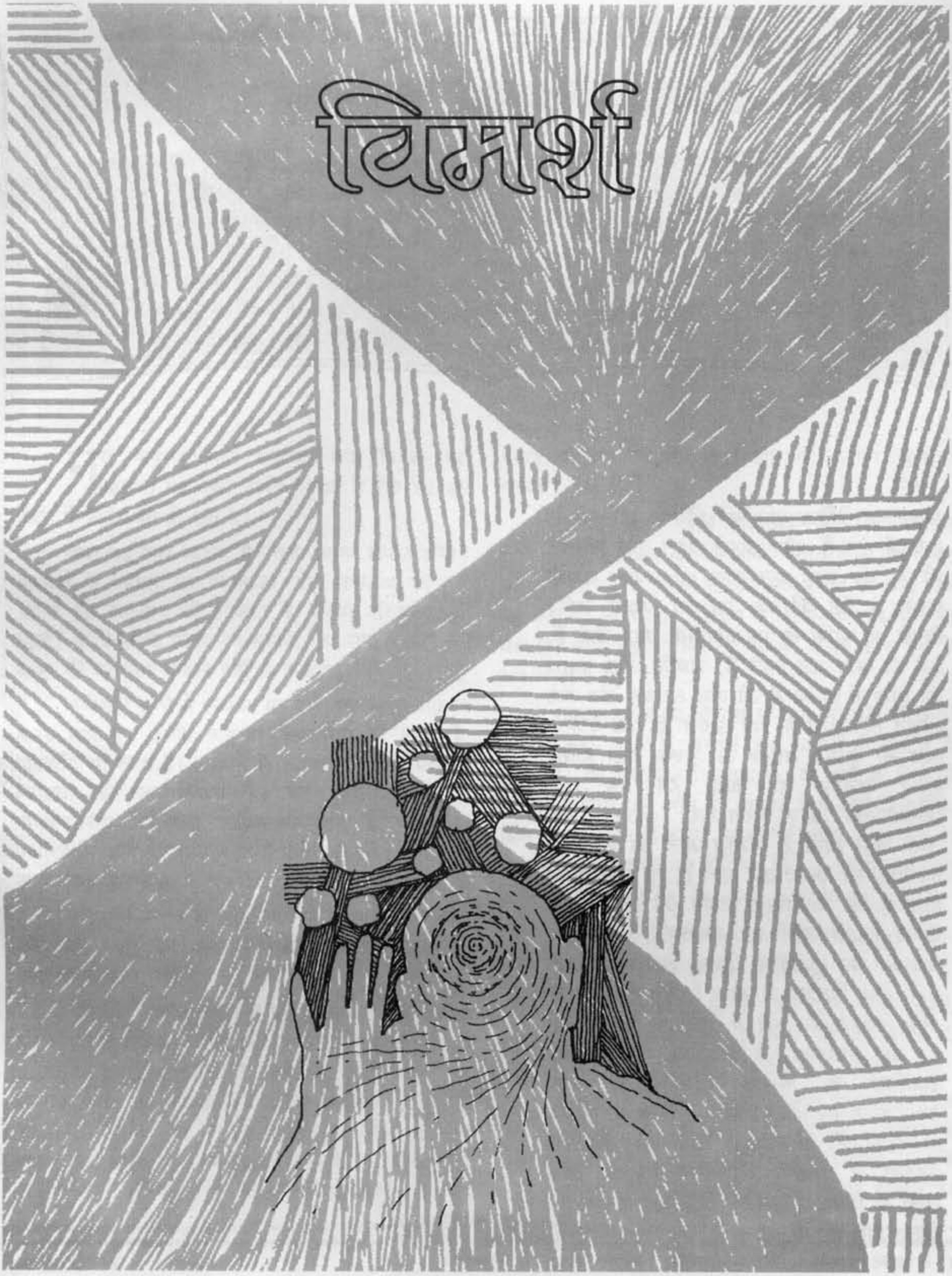


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'वैज्ञानिक जैविक वृद्धि को भौतिक राशियों के रूप में लेते हैं और उससे बहुत कुछ सीखते भी हैं, पर उन्हें इस बात की उपेक्षा करनी पड़ती है कि भौतिक राशियां बढ़ती नहीं। किसी भी राशि के परमाणविक कण जैसे हैं, वैसे ही सदा बने रहते हैं, जबकि जीव पदार्थ की वृद्धि में प्रारंभ में जो कुछ था वह अंत तक मौजूद तो रहता है, पर अपने ही एक पूर्णतर रूप में; कुरूप बत्तख का बच्चा बड़ा होकर सुंदर राजहंस हो जाता है। तब यदि संख्यात्मक और गुणात्मक, अजीव और जीव, कुछ बातों में समान माने जा सकते हैं पर फिर भी भिन्न बने रहते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि वास्तविक जगत को समझने के भिन्न-भिन्न मार्ग हो सकते हैं, और एक व्याख्या का दूसरी से विरोध होना आवश्यक नहीं, जैसे त्रिकोण में कोण निहित ही होता है, और विकर्णयुक्त वर्ग में दोनों ही निहित होते हैं। यह संभावना हमें वैज्ञानिक और धार्मिक दार्शनिक के विभिन्न दृष्टिबिंदुओं और अंतर्दृष्टियों पर लौटा लाती है। वे न केवल एक ही पदार्थ को विभिन्न मापदंडों और विभिन्न उद्देश्यों से परखते हैं, बल्कि निश्चय और सत्य के विषय में उनके दृष्टिकोणों के भिन्न-भिन्न होने की संभावना है।'

**—मार्टिन सिरिल डासी**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अनेकांत और नए समाज की रचना

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

**दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद और द्वैतवाद—दो सिद्धांत प्रचलित हैं। अद्वैत के बिना एकता की और द्वैत के बिना अनेकता की व्याख्या नहीं की जा सकती। अद्वैत और द्वैत—दोनों का समन्वय ही विश्व की व्याख्या का समग्र दृष्टिकोण बनता है। चेतन और अचेतन में एकता के सूत्र भी पर्याप्त हैं। उनके आधार पर हम सत्ता (अस्तित्व) तक पहुंच जाते हैं। चेतन और अचेतन में अनेकता के सूत्र भी विद्यमान हैं। इस आधार पर हम सत्ता के विभक्तीकरण तक पहुंच जाते हैं। समन्वय एकता की खोज का सूत्र है, किंतु उसकी पृष्ठभूमि में रही हुई अनेकता का अस्वीकार नहीं है। इसी आधार पर हम व्यक्ति और समाज की समीचीन व्याख्या कर सकते हैं।**

नया मनुष्य, नया समाज, नया विश्व—इस कल्पना का स्वर सर्वत्र सुनाई दे रहा है। इस दिशा में प्रयत्न भी हो रहा है।

क्या यह स्वर सार्थक है? क्या प्रयत्न सफल होगा? शाश्वत के आधार पर सार्थकता और सफलता को नहीं खोजा जा सकता। जो शाश्वत है, उसमें परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन के बिना नए मानव, नए समाज और नए विश्व की कल्पना साकार नहीं हो सकती।

अनेकांत दृष्टि में शाश्वत मान्य है, पर केवल शाश्वत मान्य नहीं है। उसके अनुसार अशाश्वत भी सत्य है, परिवर्तन भी सत्य है। शाश्वत के आधार पर अस्तित्व की व्याख्या की जा सकती है। वह अपरिवर्तनीय है। अपरिवर्तनीय का एक अविभाज्य अंग है परिवर्तन। अपरिवर्तन और परिवर्तन—दोनों पृथक् नहीं हैं। दोनों एक साथ रहने वाले हैं।

परिवर्तन संभव है, इसलिए नए मानव, नए समाज और नए विश्व की कल्पना असंभव कल्पना नहीं है, अशक्य कल्पना नहीं है।

परिवर्तन का मूल हेतु है दृष्टिकोण। उसके आधार पर बनता है सिद्धांत। सिद्धांत की क्रियान्विति का अर्थ है परिवर्तन। हम परिवर्तन करना चाहते हैं, किंतु उसके लिए सम्यक् दर्शन की अपेक्षा है। उसका विकास करना नहीं चाहते। परिवर्तन और सम्यक् दर्शन—इन दोनों के बीच सबसे बड़ी बाधा है मान्यता। हर व्यक्ति, हर संगठन की अपनी-अपनी मान्यताएं हैं। मान्यताओं के आधार पर नए मानव, नए समाज और नए विश्व की कल्पना नहीं हो सकती।

मान्यता अपने स्वार्थ और अपने हित पर आधारित हो जाती है, इसलिए व्यक्ति अपने स्वार्थ और अपने हित की बात सोचता है, दूसरे के हित और स्वार्थ की बात गौण कर देता है। जाति और संप्रदाय के अभिनिवेश की मूल जड़ यही है। इसी जड़ का विस्तार संघर्ष, कलह और युद्ध के रूप में होता है।

सम्यक् दर्शन का विकास होने पर मान्यता सत्य की खोज में बदल जाती है, विरोधी हितों का द्वंद्व भी समाप्त हो जाता है। दो जातियों, दो संप्रदायों, दो वर्गों के हित भी परस्पर विरोधी माने जाते हैं। वास्तव में वे विरोधी नहीं हैं, किंतु मिथ्या दर्शन के कारण उनको विरोधी माना जा रहा है। सम्यक् दर्शन का विकास होने पर विरोधी लगने वाले हित अविरोधी बन जाते हैं—एक-दूसरे के पूरक बन जाते हैं।

सम्यक् दर्शन का अर्थ है अनेकांतवाद।

मिथ्या दर्शन का अर्थ है एकांतवाद।

एक पर्याय—एक विचार को समग्र मान लेना, निरपेक्ष मान लेना, एकांतवादी दृष्टिकोण है। एक विचार को अपूर्ण और सापेक्ष मान लेना अनेकांतवादी दृष्टिकोण है।

सम्यक् दर्शन का विकास अनेकांत दृष्टि के आधार पर हो सकता है। अनेकांत की मौलिक दृष्टियां दो हैं—निरपेक्ष और सापेक्ष। अस्तित्व का निर्धारण करने के लिए निरपेक्ष दृष्टि का प्रयोग करना चाहिए। संबंधों का



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्धारण करने के लिए सापेक्ष दृष्टि का प्रयोग करना चाहिए।

**सापेक्षता**

अनेकांत का पहला सिद्धांत है सापेक्षता। एक जाति को दूसरी जाति से निरपेक्ष मानकर ही परस्पर विरोधी हितों की कल्पना की जा सकती है। एक संप्रदाय को दूसरे संप्रदाय से निरपेक्ष मानकर ही विरोध का ताना-बाना बुना जा सकता है। एक व्यक्ति, एक जाति और एक संप्रदाय, दूसरे व्यक्ति, दूसरी जाति और दूसरे संप्रदाय से सापेक्ष होकर ही जी सकता है, सापेक्ष हितों को सिद्ध कर सकता है। वास्तव में मिल मालिक और मजदूर दोनों के हित विरोधी नहीं हैं। मजदूर के हित की अपेक्षा रखी जाती है तो उत्पादन अधिक बढ़ता है, मिल मालिक का हित सधता है। मिल मालिक के हित की अपेक्षा रखी जाती है तो मजदूर का हित भी अधिक सधता है। यदि एक-दूसरे से निरपेक्ष हो तो न मिल मालिक का हित सधता, न मजदूर का हित सधता।

वर्गभेद और विरोधी हितों के सिद्धांत की सापेक्षता के संदर्भ में समीक्षा करना जरूरी है। सापेक्षता के आधार पर विरोधी हितों में भी समन्वय स्थापित किया जा सकता है। विरोधी हितों की निरपेक्षता के आधार पर मीमांसा की जाए तो उसका फलित होता है संघर्ष, हिंसा और साधनशुद्धि के सिद्धांत का परिहार।

**समन्वय**

अनेकांत का दूसरा सूत्र है समन्वय। वह भिन्न प्रतीत होने वाले दो वस्तु-धर्मों में एकता की खोज का सिद्धांत है। जो वस्तु-धर्म भिन्न हैं, वे सर्वथा भिन्न नहीं हैं। उनमें अभिन्नता भी है, एकता भी है। उस अभिन्नता के सूत्र को जानकर ही समन्वय स्थापित किया जा सकता है। सृष्टि संतुलन (इकोलॉजी) का सिद्धांत समन्वय का सिद्धांत है, एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ के संबंध का सिद्धांत है। 'मैं अकेला हूं'—इस सिद्धांत के आधार पर सृष्टि-संतुलन की स्थापना नहीं की जा सकती। 'मैं अकेला नहीं हूं', दूसरे का भी अस्तित्व है। हम दोनों में संबंध है। उस संबंध के आधार पर ही हमारी जीवन-यात्रा चलती है। इस संबंध की अवधारणा के आधार पर सृष्टि-संतुलन की व्याख्या की जा सकती है।

**सह-अस्तित्व**

यह अनेकांत का तीसरा सूत्र है। जिसका अस्तित्व है, उसका प्रतिपक्ष अवश्यंभावी है—यत् सत् तत् सप्रतिपक्षम्। प्रतिपक्ष के बिना नामकरण नहीं होता और लक्षण का निर्धारण भी नहीं होता। चेतन और अचेतन में अत्यंताभाव है। चेतन कभी अचेतन नहीं होता और अचेतन कभी अचेतन नहीं होता। फिर भी उनमें सह-अस्तित्व है। शरीर अचेतन है। आत्मा चेतन है। शरीर और आत्मा—दोनों एक साथ रहते हैं।

नित्य और अनित्य, सदृश और विसदृश, भेद और अभेद—ये परस्पर विरोधी हैं फिर भी इनमें सह-अस्तित्व है। एक वस्तु में ये एक साथ रहते हैं। नित्य अनित्य से सर्वथा वियुक्त नहीं है और अनित्य नित्य से सर्वथा वियुक्त नहीं है।

**प्रणाली, रुचि, मान्यता—ये भिन्न-भिन्न होती हैं, इनमें विरोध भी होता है। सह-अस्तित्व का नियम इन सब पर लागू होता है। लोकतंत्र और अधिनायकवाद, पूंजीवाद और साम्यवाद—ये भिन्न विचार वाली राजनीतिक प्रणालियां हैं। इनमें सह-अस्तित्व हो सकता है। 'या तू रहेगा या मैं', हम दोनों एक साथ नहीं रह सकते—यह एकांतवाद है। इस धारणा ने समस्या को जटिल बना दिया। एक धार्मिक विचारधारा के लोग यह सोचें—'मेरे धर्म की विचारधारा को मानने वाला ही इस दुनिया में रहे, शेष सबको समाप्त कर दिया जाए'—इस विचारधारा ने धार्मिक जगत की पवित्रता को नष्ट किया है।**

यह सह-अस्तित्व का सिद्धांत जितना दार्शनिक है, उतना व्यावहारिक है। प्रणाली, रुचि, मान्यता—ये भिन्न-भिन्न होती हैं, इनमें विरोध भी होता है। सह-अस्तित्व का नियम इन सब पर लागू होता है। लोकतंत्र और अधिनायकवाद, पूंजीवाद और साम्यवाद—ये भिन्न विचार वाली राजनीतिक प्रणालियां हैं। इनमें सह-अस्तित्व हो सकता है। 'या तू रहेगा या मैं', हम दोनों एक साथ नहीं रह सकते—यह एकांतवाद है। इस धारणा ने समस्या को जटिल बना दिया। एक धार्मिक विचारधारा के लोग यह सोचें—'मेरे धर्म की विचारधारा को मानने वाला ही इस दुनिया में रहे, शेष



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सबको समाप्त कर दिया जाए'—इस विचारधारा ने धार्मिक जगत की पवित्रता को नष्ट किया है। अहिंसा, मैत्री, भाईचारा—ये धर्म के प्रमुख अवदान हैं। एकांतवादी दृष्टिकोण ने मैत्री को शत्रुता में, अहिंसा को हिंसा में, भाईचारे को विरोध में बदलने की भूमिका निभाई है।

सह-अस्तित्व का सिद्धांत सहिष्णुता और वैचारिक स्वतंत्रता का मूल्य स्वीकार करता है। यदि हम सबको अपनी रुचि, अपने विचार, अपनी जीवन प्रणाली और अपने सिद्धांत में ही ढालने का प्रयत्न करें तो वैचारिक स्वतंत्रता और सहिष्णुता अर्थहीन हो जाती है।

प्रकृति में नानात्व है। नानात्व प्रकृति का सौंदर्य भी है। यदि सब पेड़-पौधे एक जैसे हो जाएं, यदि सब पुष्प एक जैसे हो जाएं तो सौंदर्य की परिभाषा का भी कोई अर्थ नहीं रहता। अनेकता में एकता और एकता में अनेकता का सिद्धांत सत्यं शिवं सुन्दरं—तीनों के समन्वय का सिद्धांत है। यह समन्वय ही सह-अस्तित्व की आधार-भूमि बनता है।

दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद और द्वैतवाद—दो सिद्धांत प्रचलित हैं। अद्वैत के बिना एकता की और द्वैत के बिना अनेकता की व्याख्या नहीं की जा सकती। अद्वैत और द्वैत—दोनों का समन्वय ही विश्व की व्याख्या का समग्र

# नय, अनेकांत और विचार के नियम

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

**जैन दर्शन की विचार-सरणि पर चिंतन करते समय हम सम्यक् दर्शन की उपेक्षा नहीं कर सकते। विचार ज्ञान का एक आयाम है। सम्यक् दर्शन मोह विलय की चेतना का आयाम है।**

**हमारे पास जानने के दो स्रोत हैं—इंद्रिय चेतना और अतींद्रिय चेतना। विचार का संबंध इंद्रिय चेतना से है। अतींद्रिय चेतना में दर्शन है, साक्षात्कार है—वहां विचार नहीं है।**

**जैन दृष्टि के अनुसार इंद्रिय चेतना से होने वाला ज्ञान द्रव्य के अंश का ज्ञान है, समग्र द्रव्य का ज्ञान नहीं है। इंद्रिय चेतना वाला व्यक्ति द्रव्यांश को जानता है। वह अंशज्ञान विवाद का विषय भी बनता है। पांच व्यक्ति किसी एक द्रव्य के पांच अंशों का ज्ञान करते हैं और अपने-अपने ज्ञान को सम्यक् मान दूसरे के ज्ञान को मिथ्या मान लेते हैं। इस मिथ्यावाद को सम्यक्वाद बनाने का एक उपाय खोजा गया, वह है नयवाद।**

**नय एक दृष्टि है, एक विचार है। सिद्धसेन दिवाकर ने लिखा—जितने वचन के पथ हैं, उतने ही नय हैं—**

**जावइया वयणपहा, तावइया चेव हुंति नयवाया।**

**यह विस्तारवादी दृष्टिकोण चिंतन के क्षेत्र को दुर्गम बना देता है। श्रोता अथवा जिज्ञासु के लिए किसी निष्कर्ष पर पहुंचना कठिन हो जाता है। इस समस्या को सुलझाने के लिए जैन आचार्यों ने संपूर्ण विचार के दो क्षेत्र निर्धारित किए—**

**1. द्रव्यार्थिक नय—ध्रौव्य अथवा नित्य के विषय में होने वाला चिंतन।**

**2. पर्यायार्थिक नय—उत्पाद-व्यय अथवा अनित्य के विषय में होने वाला चिंतन।**

**विचार की सुविधा और सत्यपरक व्यवस्था के लिए इन दो क्षेत्रों का निर्धारण किया गया। वास्तव में ध्रौव्य और उत्पाद-व्यय अथवा नित्य और अनित्य को सर्वथा विभक्त कर विचार को सत्यपरक नहीं बनाया जा सकता। ध्रौव्य का प्रतिपादन करने के लिए द्रव्यार्थिक नय और परिवर्तन का प्रतिपादन करने के लिए पर्यायार्थिक नय की व्यवस्था की गई। ये दोनों नय परस्पर सापेक्ष हैं। ध्रौव्य से विमुक्त परिवर्तन और परिवर्तन से विमुक्त ध्रौव्य कहीं भी नहीं है। फिर भी अस्तित्व के समग्र स्वरूप को समझने के लिए यह व्यवस्था अत्यंत समीचीन है। द्रव्यार्थिक नय ध्रौव्य अथवा अभेद का विचार करता है, किंतु परिवर्तन का निरसन नहीं करता, प्रत्येक नय की अपनी सीमा है। वह अपने प्रतिपाद्य विषय के आगे किसी खंडन-मंडन में नहीं जाता। सापेक्षता का तात्पर्य यह है—नय समग्रता का आग्रह नहीं करता। वह समग्र के एक अंश का प्रतिपादन करता है। वह एकांश का विचार करता है, इसीलिए दूसरा अंश उससे जुड़ा हुआ है। यह जोड़ ही सापेक्षता है।**

**'जितने विचार, उतने नय'—इस वाक्य में सापेक्षता का सत्य अभिव्यक्त हुआ है। विचार का आधार कोई पर्याय है। पर्याय संख्यातीत होते हैं इसलिए नय भी असंख्य हैं। असंख्य अंशों का समन्वय करने पर द्रव्य की समग्रता का बोध होता है। एक पर्याय को समग्र मानने का आग्रह मिथ्या दृष्टिकोण है।**



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दृष्टिकोण बनता है। चेतन और अचेतन में एकता के सूत्र भी पर्याप्त हैं। उनके आधार पर हम सत्ता (अस्तित्व) तक पहुंच जाते हैं। चेतन और अचेतन में अनेकता के सूत्र भी विद्यमान हैं। इस आधार पर हम सत्ता के विभक्तीकरण तक पहुंच जाते हैं। समन्वय एकता की खोज का सूत्र है, किंतु उसकी पृष्ठभूमि में रही हुई अनेकता का अस्वीकार नहीं है। इसी आधार पर हम व्यक्ति और समाज की समीचीन व्याख्या कर सकते हैं।

### वैयक्तिकता के आधार

हर व्यक्ति में वैयक्तिक और सामुदायिक दोनों प्रकार की चेतना होती है। कुछ विचारक व्यक्ति को अधिक महत्त्व देते हैं और कुछ समाज को अधिक महत्त्व देते हैं। यह समन्वय के सिद्धांत का अतिक्रमण है। वैयक्तिक विशेषताओं को छोड़कर हम व्यक्ति का सही मूल्यांकन नहीं कर सकते। जन्मजात वैयक्तिकता के सात आधार हैं—

1. शरीर रचना,
2. आनुवंशिकता,
3. मानसिक चिंतन की शक्ति,
4. भाव,
5. संवेदन,
6. संवेग,
7. ज्ञान अथवा ग्रहण की क्षमता।

### समाज-रचना के आधार

वैयक्तिक विशेषताओं की उपेक्षा कर केवल समाज-रचना की कल्पना करने वाले अपनी कल्पना को साकार नहीं कर पाते। यदि समाजवाद और साम्यवाद के साथ जन्मजात वैयक्तिक विशेषताओं का समीकरण होता तो समाज-रचना को स्वस्थ आधार मिल जाता। समाजीकरण के लिए जिन आधार सूत्रों की आवश्यकता है, वे जन्मजात वैयक्तिक विशेषताओं से जुड़े हुए हैं।

**व्यक्ति और समाज—दोनों का समन्वय साध कर यदि व्यवस्था, नियम, कानून बनाए जाएं तो उनका अनुपालन सहज और व्यापक होगा।**

**कहीं व्यक्ति को गौण, समाज को मुख्य तथा कहीं समाज को गौण, व्यक्ति को मुख्य करना आवश्यक होता है। यह गौण और मुख्य का सिद्धांत समीचीन व्यवस्था के लिए बहुत उपयोगी है। भेद को गौण किए बिना समाज नहीं बनता और अभेद को गौण किए बिना व्यक्ति की स्वतंत्रता सुरक्षित नहीं रहती। अनेकांत का यह गौण मुख्य का सिद्धांत व्यवस्था की सफलता के लिए बहुत उपयोगी है।**

समाज-रचना का एक आधार है—परस्परोपग्रह अथवा परस्परावलंबन।

समाज-रचना का दूसरा आधार है—संवेदनशीलता।

समाज-रचना का तीसरा आधार है—स्वामित्व की सीमा।

समाज-रचना का चौथा आधार है—स्वतंत्रता की सीमा।

समाज-रचना का पांचवां आधार है—विकास—भाषा का विकास, बौद्धिक विकास, चिंतन का विकास, शिल्प और कला का विकास।

संग्रह नय अभेदप्रधान दृष्टि है। उसके आधार पर समाज-निर्माण होता है।

व्यवहार नय भेदप्रधान दृष्टि है। उसके आधार पर व्यक्ति की वैयक्तिकता सुरक्षित रहती है।

व्यक्ति और समाज—दोनों का समन्वय साध कर यदि व्यवस्था, नियम, कानून बनाए जाएं तो उनका अनुपालन सहज और व्यापक होगा।

कहीं व्यक्ति को गौण, समाज को मुख्य तथा कहीं समाज को गौण, व्यक्ति को मुख्य करना आवश्यक होता है। यह गौण और मुख्य का सिद्धांत समीचीन व्यवस्था के लिए बहुत उपयोगी है। भेद को गौण किए बिना समाज नहीं बनता और अभेद को गौण किए बिना व्यक्ति की स्वतंत्रता सुरक्षित नहीं रहती। अनेकांत का यह गौण-मुख्य का सिद्धांत व्यवस्था की सफलता के लिए बहुत उपयोगी है।

### व्यक्तित्व का वर्गीकरण

समाज, संगठन अथवा राष्ट्र की सबसे बड़ी समस्या है—भाव (इमोशन)। व्यक्ति-व्यक्ति के भाव अलग होते हैं। उनका वर्गीकरण चार कोटियों में किया गया है :

1. दलदल के समान, 2. कीचड़युक्त जल के समान, 3. बालूयुक्त जल के समान, 4. चट्टान पर टिके हुए जल के समान।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रथम कोटि की भावधारा वाले (अति अशुद्ध पर्यायार्थिक नय वाले) व्यक्ति समाज को नारकीय बना देते हैं। वे न तो समाज को अच्छी व्यवस्था दे सकते हैं और न व्यवस्था का पालन कर सकते हैं।

दूसरी कोटि की भावधारा वाले (अशुद्ध पर्यायार्थिक नय वाले) व्यक्ति समाज में पाशविक वृत्तियों को प्रोत्साहन देते हैं। वे स्वस्थ समाज अथवा अहिंसक समाज की रचना में सहायक नहीं बन सकते।

तीसरी कोटि की भावधारा वाले (शुद्ध पर्यायार्थिक नय वाले) व्यक्ति स्वस्थ समाज की रचना में सहयोगी बन सकते हैं, समाज की व्यवस्था को स्वस्थ रूप प्रदान कर सकते हैं।

चौथी कोटि की भावधारा वाले (विशुद्ध पर्यायार्थिक नय वाले) व्यक्ति समाज में दिव्य चेतना का विकास कर सकते हैं, साधनशुद्धि और पारमार्थिक दृष्टिकोण का उन्नयन कर सकते हैं।

प्रथम दोनों कोटि के व्यक्ति दंडशक्ति में विश्वास करते हैं। अंतिम दो कोटि के व्यक्ति हृदय-परिवर्तन और साधनशुद्धि में विश्वास करते हैं।

महात्मा गांधी जैसे आध्यात्मिक पुरुष अहिंसक समाज-रचना का स्वप्न देखते रहे, मार्क्स जैसे व्यक्ति

नय एकांतवाद है, फिर भी वह दृष्टि का मिथ्या कोण नहीं है। उसमें अंश में समग्रता का आग्रह नहीं है, निरपेक्ष सत्य का प्रतिपादन नहीं है। इसीलिए नय की भूमिका में स्वस्थ चिंतन का अवकाश है।

चिंतन के दो बड़े क्षेत्र हैं—अभेद और भेद। अभेद के द्वारा व्यवहार का संचालन नहीं होता। भेद विवाद और संघर्ष का हेतु बनता है। तत्त्व चिंतन के क्षेत्र में यह भेद ही संघर्ष को जन्म दे रहा है।

जैन दार्शनिकों ने अभेद और भेद का समन्वय कर वैचारिक संघर्ष को कम करने का प्रयत्न किया है। जीव और पुद्गल अथवा चेतन और अचेतन में भी सर्वथा भेद नहीं है। चैतन्य जीव का विशेष गुण है और पुद्गल चैतन्य-शून्य है। उसका विशेष गुण है वर्ण, गंध, रस और स्पर्श का चतुष्टय। विशेष गुण की दृष्टि से जीव और पुद्गल—दोनों भिन्न हैं। किंतु प्रदेश की दृष्टि से दोनों भिन्न नहीं हैं। जीव के भी प्रदेश हैं और पुद्गल स्कंध के भी प्रदेश हैं। ज्ञेयत्व, प्रमेयत्व और परिणामित्व की दृष्टि से भी दोनों भिन्न नहीं हैं। अनेकांत चिंतन के अनुसार सर्वथा अभेद और सर्वथा भेद एकांतवादी दृष्टिकोण हैं। उनके द्वारा सत्य की समीचीन व्याख्या नहीं की जा सकती।

अनेकांत चिंतन के आठ मुख्य क्षेत्र हैं—

1. सत्, 2. असत्, 3. नित्य, 4. अनित्य, 5. सदृश, 6. विसदृश, 7. वाच्य, 8. अवाच्य।

### सत्-असत्

सत् की व्याख्या द्रव्य के आधार पर की जा सकती है। द्रव्य का ध्रौव्यांश सत् है। वह त्रैकालिक है—अतीत में भी था, वर्तमान में है और भविष्य में भी होगा। जहां ध्रौव्यांश का प्रश्न है वहां केवल सत् है, असत् कुछ भी नहीं।

द्रव्य के पर्यायांश में सत् और असत्—दोनों की व्यवस्था है। वर्तमान पर्याय सत् है। भूत और भावी पर्याय असत् है। इस सत्-असत् की सापेक्षता का विचार के विकास में बहुत योगदान है।

द्रव्य में दो प्रकार की क्रियाएं होती हैं—

1. प्रतिक्षण होने वाली क्रिया—इसके अनुसार निरंतर परिवर्तन होता है। पहले क्षण में जो है, दूसरे क्षण में वह नहीं होता, उसका नया रूप बन जाता है। इस परिवर्तन का नाम है—अर्थ पर्याय।
2. दूसरी क्रिया क्षण के अंतराल से होने वाली क्रिया है। इसकी संज्ञा व्यंजन पर्याय है।

अर्थ पर्याय सूक्ष्म और क्षणिक होता है। व्यंजन पर्याय स्थूल और दीर्घकालिक होता है। अर्थ पर्याय द्रव्य को दूसरे क्षण के सांचे में ढालने का काम करता है। परिवर्तन के बिना पहले क्षण का द्रव्य दूसरे क्षण में अपने अस्तित्व को टिकाए नहीं रख सकता, इसलिए दार्शनिक दृष्टि से अर्थ पर्याय का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—ये तीनों समन्वित होकर सत् का बोध कराते हैं। इनका विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि ध्रौव्य की दृष्टि में असत् कुछ भी नहीं है। असत् से सत् उत्पन्न नहीं होता। असत् कभी सत् नहीं बनता और सत् कभी असत् नहीं बनता। उत्पाद-व्यय की दृष्टि में सत्-असत् की व्याख्या कारण-कार्य सापेक्ष है। जो कारण रूप में सत् और कार्य रूप में असत् है, वह सत्-असत् कार्यवाद है। मिट्टी के परमाणु-स्कंध मिट्टी के रूप में सत्



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

साम्यवादी समाज-रचना की प्रकल्पना करते रहे, अब तक दोनों के सपने साकार नहीं हुए। न अहिंसक समाज की रचना हुई, न साम्यवादी समाज अपने यौवन में आ सका। इसका हेतु यह भाव की तरतमता है अथवा एकांतवादी दृष्टिकोण है। यदि हम उक्त प्रकल्पनाओं को एकांतवादी न बनाएं तो नए समाज की रचना हो सकती है।

मनुष्य में स्वभावतः वैयक्तिक स्वार्थ और सुविधा के प्रति आकर्षण है। उसे केवल सामुदायिकता के बंधन में बांधने का प्रयत्न सफल नहीं हो सकता। अनेकांत दृष्टि के अनुसार वैयक्तिकता और सामुदायिकता—दोनों में संतुलन स्थापित कर साम्यवाद की धारा को गतिशील बनाया जा सकता है।

व्यक्ति-व्यक्ति में भावात्मक तरतमता है। कुछ व्यक्तियों का आवेश उपशांत होता है, कुछ व्यक्तियों का आवेश बहुत तीव्र होता है, इसलिए केवल हृदय-परिवर्तन के आधार पर अहिंसक समाज की रचना नहीं की जा सकती। केवल हृदय-परिवर्तन एकांतवादी दृष्टिकोण है। केवल दंडशक्ति भी एकांतवादी दृष्टिकोण है। हृदय-परिवर्तन और दंडशक्ति—दोनों के संतुलित योग के आधार पर अहिंसक समाज की रचना की जा सकती है। यह अनेकांतवादी दृष्टिकोण है।

**आर्थिक दौड़ ने उपभोग की जो आकांक्षा पैदा की है, उससे गरीबी घटने के बजाय बढ़ रही है। आर्थिक संपदा कुछेक राष्ट्रों और कुछेक व्यक्तियों तक सिमट रही है। यह सब विकास के प्रति होने वाले एकांगी दृष्टिकोण का परिणाम है। यदि अर्थनीति के केंद्र में मनुष्य हो और उसका उपयोग आर्थिक साम्राज्य के लिए न किया जाए तो एक संतुलित अर्थनीति की कल्पना की जा सकती है। मनुष्य निरपेक्ष अर्थनीति की मकड़ी अपने ही जाल में फंसी हुई है। एकांगी या निरपेक्ष दृष्टिकोण द्वारा कभी उसे बाहर नहीं निकाला जा सकता।**

## अनेकांत और लोकतंत्र

तारतम्य मनुष्य की प्रकृति है। रुचि की भिन्नता है। सबके विचार भी समान नहीं हैं। आचार भी सबका एक जैसा नहीं है। अनेक भाषाएं, अनेक संप्रदाय, इस बहुविध अनेकता को एकता के सूत्र में पिरोए रखने का लोकतंत्र का एक सिद्धांत है—मौलिक अधिकारों की समानता। असमानता के आधार पर पृथक्करण की नीति का नहीं, किंतु असमानता में समानता के सूत्र को खोजने का प्रयत्न है लोकतंत्र।

अनेकता और एकता में सामंजस्य किए बिना लोकतंत्र की प्रतिमा प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। इस सामंजस्य की प्रणाली का दार्शनिक आधार है अनेकांत। उसके अनुसार कोई भी वस्तु सर्वथा सदृश नहीं है और कोई भी वस्तु सर्वथा विसदृश नहीं है। एक सामान्य गुण सबको सदृश बनाता है और विशेष गुण उन्हें विसदृश बना रहा है। समानता का ऐकांतिक आग्रह उपयोगिता को समाप्त कर देता है। उस स्थिति में व्यक्तिगत विशेषताओं का उपयोग नहीं हो पाता। असमानता का ऐकांतिक आग्रह वस्तु की मौलिकता को विनष्ट कर देता है, इसलिए अनेकांत की यह घोषणा रही—

वस्तु कथंचित सदृश है—किसी अपेक्षा से सब वस्तुएं समान हैं।

वस्तु कथंचित विसदृश है—किसी अपेक्षा से सब वस्तुएं असमान हैं।

सदृशता के आधार पर एकता को पुष्ट कर सकते हैं। विसदृशता के आधार पर व्यक्ति की विशेषताओं का उपयोग कर सकते हैं। इसलिए समानता और असमानता—दोनों की सीमा का बोध करना जरूरी है।

यांत्रिक समानता का आग्रह राष्ट्र को योग्य प्रतिभाओं से वंचित कर देता है। असमानता का एकांगी आग्रह राष्ट्र की अखंडता को खंडित कर देता है। इसलिए असमानता और समानता में सामंजस्य स्थापित करने का दर्शन विकसित होना चाहिए। एकता का सूत्र एक भूखंड है। किसी एक भूखंड में रहने वाले नागरिक क्षेत्र की दृष्टि से समान हैं, इसलिए रोटी, कपड़ा, मकान आदि-आदि मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उनमें भेद-रेखा नहीं खींची जा सकती। सबको विकास करने का समान अवसर है। इसी आधार पर लोकतंत्र में हर व्यक्ति को सर्वोच्च सत्ता पर आसीन होने का—राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री आदि बनने का अधिकार है। व्यक्तिगत विशेषता है, इस अधिकार का सीमांकन कर दिया। विकास की उच्च भूमिकाओं पर वे ही व्यक्ति जा सकते हैं, जिनमें बौद्धिक,



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रशासनिक क्षमता विकसित है। प्रकृति से और भी बहुत-कुछ प्राप्त है। असमानता और समानता—इन दोनों सचाइयों को समझकर ही लोकतंत्र की प्रणाली को स्वस्थ आधार दिया जा सकता है।

जयाचार्य ने अनेकांत के आधार पर तेरापंथ धर्मसंघ में सामान्य और विशेष की सामंजस्यपूर्ण प्रणाली का प्रयोग किया। उससे धर्मसंघ विकास की दिशा में आगे बढ़ता रहा, आपसी विवादों में नहीं उलझा। उनका विधायक दृष्टिकोण आज भी आदर्श है। जयप्रकाश बाबू ने एक बार आचार्य तुलसी से कहा—'आपके संघ में सवा सोलह आना समाजवाद है। अब अपेक्षा है वह नीचे उतरे—समाज तक पहुंचे, जन-जन तक पहुंचे।'

### अनेकांत और अर्थनीति

हिंसा बढ़ रही है। यह बात यत्र-तत्र-सर्वत्र सुनने को मिलती है। वह क्यों बढ़ रही है? उसके कारणों की खोज भी समय-समय पर होती रही है। अनेक कारण सामने आए हैं। उनमें सबसे बड़ा कारण है आर्थिक प्रलोभन। आर्थिक प्रलोभन को बढ़ाने का सबसे बड़ा कारण है मिथ्या अवधारणा। अपने पास एक रुपया है तो चौदह रुपये का कर्ज लो। उस कर्ज को चुकाने के लिए अधिक श्रम होगा, अधिक व्यवसाय होगा, अधिक

हैं और घट के रूप में असत्। मिट्टी का घट बन जाता है तब असत् से सत् के निर्माण का सिद्धांत प्रतिपादित किया जा सकता है। जैन चिंतन में असत् कार्यवाद और सत् कार्यवाद—ये दोनों विकल्प मान्य नहीं हैं। तीसरे विकल्प—सत्-असत्-कार्यवाद को मान्य किया गया। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है—द्रव्यार्थिक नय को असत् कार्यवाद और सत् कार्यवाद दोनों मान्य नहीं हैं। कारण-कार्य का नियम पर्याय पर ही लागू होता है। पर्यायार्थिक नय कारण की दृष्टि से सत् और कार्य की दृष्टि से असत्—दोनों को मान्य कर सत्-असत्-कार्यवाद की स्थापना करता है।

### नित्य-अनित्य

नित्य और अनित्य के विचार का आधार सत् और असत् है। सत् का एक अंश है ध्रौव्य। उसका कभी उत्पाद और व्यय नहीं होता, इसलिए वह नित्य है। सत् का दूसरा अंश है पर्याय, उसमें उत्पाद और व्यय दोनों होते हैं, इसलिए वह अनित्य है। ध्रौव्य पर्याय से वियुत नहीं होता और पर्याय ध्रौव्य से वियुत नहीं होते। इसलिए सत् अथवा द्रव्य नित्यानित्य होता है। केवल नित्य और केवल अनित्य के आधार पर सत् व्याख्येय नहीं है। आकाश सत् है, इसलिए वह केवल नित्य नहीं है। पर्याययुत होने के कारण वह अनित्य भी है। घट एक पर्याय है, इसलिए वह अनित्य है, किंतु वह जिन परमाणुओं से बना है, वह परमाणुपुंज सत् है, इसलिए घट नित्य भी है।

### सदृश-विसदृश

द्रव्य में सामान्य और विशेष दोनों प्रकार के गुण होते हैं। विशेष गुण के कारण द्रव्य विसदृश होता है। जीव में चैतन्य नामक विशेष गुण है, इसलिए वह परमाणु पुद्‌गल से विसदृश है। अनेकांत दर्शन में सदृश और विसदृश सापेक्ष हैं। विशेष गुण की अपेक्षा विसदृश और सामान्य गुण की अपेक्षा सदृश—इसलिए एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से सर्वथा सदृश और सर्वथा विसदृश नहीं होता। सामान्य गुण की अपेक्षा जीव और परमाणु पुद्‌गल में वैसदृश्य नहीं खोजा जा सकता। इस सिद्धांत को व्यावहारिक उदाहरण के द्वारा भी समझा जा सकता है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के सदृश नहीं है। 'जीन' की भिन्नता के कारण प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य से भिन्न है, किंतु पांच इंद्रियां, मन आदि सामान्य गुणों के कारण एक मनुष्य दूसरे मनुष्यों के तुल्य है।

### वाच्य-अवाच्य

शब्द और अर्थ के पारस्परिक संबंध का बोध किए बिना व्यवहार का सम्यक् संचालन नहीं होता। अर्थ वाच्य है और शब्द वाचक। हम वाचक के द्वारा वाच्य का ज्ञान करते हैं। वाचक का सम्यक् प्रयोग होता है तो वाच्य का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। वाचक का मिथ्या प्रयोग होने पर अर्थ का अवबोध नहीं हो सकता। नय की विचारणा में वाचक के सम्यक् प्रयोग पर सूक्ष्मता से ध्यान दिया गया।

अर्थ के अनेक पर्याय हैं। सब पर्यायों को एक साथ नहीं कहा जा सकता। अनंत पर्यायों को पूरे जीवन में भी नहीं कहा जा सकता। अनंत पर्यायों का प्रतिपादन करने के लिए अनंत वाचक चाहिए। हमारा शब्दकोश इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए बहुत छोटा है। इस दृष्टिकोण के आधार पर कहा जा सकता है—द्रव्य वाच्य नहीं है।

हम द्रव्य के एक पर्याय का कथन करते हैं। एक पर्याय के वचन के आधार पर उसे वाच्य नहीं कहा जा सकता।

वचन का व्यवहार विशेष या भेद के आधार पर होता है। अर्थ नय के द्वारा अभेद या सामान्य का अवबोध होता



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पैदा होगी। कर्ज आज एक प्रेरणा का स्रोत बन गया है, आर्थिक विकास का आधार बन गया है।

आर्थिक विकास का एकांगी दृष्टिकोण शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शांति, भावात्मक संतुलन और पर्यावरण विशुद्धि से निरपेक्ष बन गया। यह आर्थिक विकास का एकांतवाद मानवीय मस्तिष्क को यांत्रिक बनाए हुए है। हर मनुष्य के मन में आर्थिक साम्राज्य स्थापित करने की लालसा प्रबल हो उठी है।

अनेकांत की चार प्रमुख दृष्टियां हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। किसी भी वस्तु का मूल्यांकन द्रव्य सापेक्ष, क्षेत्र सापेक्ष, काल सापेक्ष और भाव सापेक्ष होना चाहिए। निरपेक्ष मूल्यांकन अनेक उलझनें पैदा करता है। आर्थिक विकास के लिए शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शांति, भावनात्मक संतुलन और पर्यावरण विशुद्धि गौण हो जाएं, यह अर्थनीति की विडंबना है।

जनसंख्या की वृद्धि के कारण उपायों के द्वारा वस्तुओं की वृद्धि आवश्यक मानी गई। गरीबी को मिटाने के लिए भी आर्थिक विकास आवश्यक माना गया। रासायनिक छिड़काव खाद्यान्नों, साग-सब्जी और फलों को विषैला बनाते हैं। मनुष्य जानते हुए भी विवश होकर उस जहर को निगल जाता है। आर्थिक दौड़ ने उपभोग की जो आकांक्षा पैदा की है, उससे गरीबी घटने के बजाय बढ़ रही है। आर्थिक संपदा कुछेक राष्ट्रों और कुछेक व्यक्तियों तक सिमट रही है। यह सब विकास के प्रति होने वाले एकांगी दृष्टिकोण का परिणाम है। यदि अर्थनीति के केंद्र में मनुष्य हो और उसका उपयोग आर्थिक साम्राज्य के लिए न किया जाए तो एक संतुलित अर्थनीति की कल्पना की जा सकती है। मनुष्य-निरपेक्ष अर्थनीति की मकड़ी अपने ही जाल में फंसी हुई है। एकांगी या निरपेक्ष दृष्टिकोण द्वारा कभी उसे बाहर नहीं निकाला जा सकता।

भगवान महावीर ने उपभोग की सीमा का जो सूत्र दिया था, उसकी विस्मृति आज की बड़ी समस्या है। अनेकांत के आलोक में उसे फिर देखने का प्रयत्न करें।

**स्वतंत्रता और परतंत्रता**

स्वतंत्रता और परतंत्रता का प्रश्न भी विवाद से परे नहीं है। एकांतवादी दृष्टिकोण के आधार पर उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। भावात्मक अभिनिवेश वाला कोई भी व्यक्ति पूर्ण स्वतंत्र नहीं हो सकता। वैयक्तिक स्वतंत्रता, सामाजिक स्वतंत्रता, संवैधानिक स्वतंत्रता—स्वतंत्रता के अनेक विकल्प बन जाते हैं। इन सबकी सापेक्षता के आधार पर व्याख्या की जा सकती है। जो स्वतंत्रता परतंत्रता-सापेक्ष है, वह स्वतंत्रता है। परतंत्रता से निरपेक्ष कोई भी स्वतंत्रता व्यक्ति और समाज के लिए कल्याणकारी नहीं हो सकती।

अर्थ संग्रह के लिए पूरी स्वतंत्रता, उपभोग के लिए भी पूरी स्वतंत्रता—स्वतंत्रता का यह एकांतवाद आर्थिक विषमता और पर्यावरण को दूषित करने का हेतु बन रहा है।

गरीबी, पर्यावरण-प्रदूषण, संघर्ष, शस्त्र-निर्माण और युद्ध—ये सब एकांगी आग्रह की निष्पत्तियां हैं।

आध्यात्मिक और भौतिक—दोनों दृष्टियों के समन्वय के बिना गरीबी की समस्या को कभी नहीं सुलझाया जा सकता।

उपभोग-संयम और भौतिक प्रयत्न दोनों के समन्वय के बिना पर्यावरण की समस्या को भी नहीं सुलझाया जा सकता।

आवेग-संतुलन और व्यवस्था—इन दोनों के समन्वय के बिना संघर्ष को नहीं टाला जा सकता।

स्वत्व की सीमा के आध्यात्मिक दृष्टिकोण और अनाक्रमण की मनोवृत्ति का विकास किए बिना शस्त्र-निर्माण के संकल्प को निरस्त नहीं किया जा सकता।

मानवीय दृष्टिकोण को व्यापक बनाए बिना तथा अहं और लोभ को नियंत्रित किए बिना युद्ध की वृत्ति को समाप्त नहीं किया जा सकता।

उक्त विरोधी समस्याओं में समन्वय स्थापित करना सरल नहीं है। इनकी वक्रता को मिटाने के लिए भावात्मक संतुलन और व्यवस्था—इन दोनों का समन्वय आवश्यक है।

अनेकांत के द्वारा विरोधी प्रतीत होने वाली घटनाओं में भी समन्वय स्थापित किया जा सकता है। वस्तु जगत में पूर्ण सामंजस्य और सह-अस्तित्व है। विरोधी की कल्पना हमारी बुद्धि ने की है। उत्पाद और विनाश, जन्म और मृत्यु, शाश्वत और अशाश्वत—ये सब साथ-साथ चलते हैं।

सुविधा की आकांक्षा और विलासिता की मनोवृत्ति की संतुष्टि करना बहुत कठिन है, इसलिए भौतिक विकास और आध्यात्मिक विकास में सामंजस्य स्थापित करना अनिवार्य है।


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समस्या चाहे व्यक्ति की हो, समाज, राष्ट्र अथवा विश्व की हो, एकांगी दृष्टिकोण से किया जाने वाला उसका समाधान समीचीन समाधान नहीं होता। वह समाधान का आभास देता है, किंतु किनारे तक नहीं पहुंचाता।

सापेक्ष एकांगी दृष्टि ही समाधान की दिशा में ले जाती है। निरपेक्ष एकांगी दृष्टि से समस्या का समाधान नहीं होता।

विचार वैयक्तिक हैं। दो व्यक्ति विपरीत दिशा में सोचते हैं। यदि दोनों का संगम हो तो विचार पर आग्रह हावी हो जाएगा। एक का वक्तव्य होगा—जो मैं कहता हूं, वही सत्य है। तू जो कहता है, वह सत्य नहीं है। यह आग्रह एक-दूसरे को मिथ्या प्रमाणित करता है। या तुम्हारा विचार सत्य है, या मेरा विचार सत्य है—दोनों विचार सत्य नहीं हो सकते। यह है आग्रह। यह एकांगी दृष्टिकोण का उत्पाद है। सापेक्षवाद के दृष्टिकोण का विकास होने पर यह आग्रह टूट जाता है। विरोधी प्रतीत होने वाले दोनों विचार सत्य हो सकते हैं, यदि देश, काल, परिस्थिति के संदर्भ में उनको देखा जाए।

अनेकांत की फलश्रुति है—व्यक्ति में अनाग्रह की चेतना पैदा हो। वह घटना का विश्लेषण अनेक कोणों के आधार पर करता है, इसलिए सत्यांशों के समन्वय की दृष्टि

है। अभेद में शब्द प्रधान नहीं होता, अर्थ प्रधान होता है। शब्द नय में अर्थ का बोध शब्द के माध्यम से होता है। उसमें शब्द प्रधान होता है, अर्थ प्रधान नहीं होता। प्रत्यक्ष ज्ञान में वाच्य-वाचक का संबंध खोजना आवश्यक नहीं है। परोक्ष ज्ञान में वाच्य-वाचक के संबंध की खोज अनिवार्य है। अर्थ का शब्दाश्रयी ज्ञान चिंतन और भाषा—दोनों को नया आयाम देता है।

शब्दाश्रयी अर्थ ज्ञान का एक दृष्टिकोण है—दीर्घकालिक पर्याय की एक रूप में स्वीकृति, जैसे अमुक मनुष्य था, है और होगा।

कोशकारों ने एक अर्थ का ज्ञान कराने के लिए पर्यायवाची या एकार्थक शब्दों का संकलन किया है। समभिरूढ़ नय की दृष्टि में यह प्रयत्न निरर्थक है। एक अर्थ या पर्याय का ज्ञान एक शब्द के द्वारा हो सकता है। दूसरा शब्द उसका वाचक नहीं हो सकता। तड़ित्वान् और धाराधर—दोनों मेघ के पर्यायवाची शब्द हैं, किंतु तड़ित्वान् शब्द का निर्माण विद्युत के कारण हुआ है और धाराधर शब्द का निर्माण धारा निपात के कारण हुआ है। इसलिए ये दो पर्याय हैं। एक शब्द इन दोनों पर्यायों का वाचक नहीं हो सकता। हर पर्याय की अभिव्यक्ति के लिए एक नए शब्द की अपेक्षा होती है।

शब्द अर्थ का बोध कराने के लिए जिस समय अर्थक्रियाकारी हो, उसका जो पर्याय विद्यमान हो, उसका वाचक शब्द सम्यक् अर्थ-ज्ञान करा सकता है। मनुष्य शब्द के द्वारा मनुष्य संज्ञक अर्थ का बोध होता है। शब्द नय की दृष्टि में यह सम्यक् प्रयोग है। एवंभूत नय अर्थक्रियाकारी पर्याय को ग्रहण करता है इसलिए मनन क्रिया के अभाव में मनुष्य नामक प्राणी को मनुष्य नहीं मानता। जो मनन करता है, वह मनुष्य है—इसलिए मनुष्य शब्द मनन क्रिया के क्षण में मनुष्य का वाचक बनता है। घट का उदाहरण भी प्रस्तुत किया जा सकता है। शब्द नय की विचारणा में एक निश्चित आकार वाला मिट्टी का पात्र घट कहलाता है। जलाहरण और जलधारण की क्रिया में जो प्रवृत्त नहीं है, एवंभूत नय उसे घट शब्द का वाच्य नहीं मानता।

शब्द नय—घट घट है, भले फिर वह जलाहरण की क्रिया में प्रवृत्त हो या नहीं।

एवंभूत नय—घट इसलिए घट है कि वह जलाहरण की क्रिया कर रहा है। जिस क्षण वह जलाहरण की क्रिया नहीं कर रहा है, उस समय वह घट नहीं है।

एवंभूत नय का दृष्टिकोण अर्थज्ञान का विशुद्ध दृष्टिकोण है। उसके आधार पर रूढ़ि से मुक्त होकर गतिशील चिंतन का विकास किया जा सकता है।

### विचार के नियम

नय के आधार पर विचार के आठ नियम बनते हैं—

1. द्रव्य वास्तविक है। उसी के आधार पर विचार का विकास हुआ है।
2. द्रव्य शून्य विचार अवास्तविक है। उसे कल्पना से अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सकता। जिसका अर्थक्रियाकारित्व स्पष्ट है, उसे काल्पनिक नहीं माना जा सकता।
3. समग्र द्रव्य को जाना नहीं जा सकता—द्रव्य के सब पर्यायों को एक साथ जानने की हमारे ज्ञान में सामर्थ्य नहीं है।
4. समग्र द्रव्य को अभेद वृत्ति और अभेदोपचार से ही जाना जा सकता है।
5. द्रव्य को साक्षात् जानने का सामर्थ्य नहीं है। उसे पर्याय के माध्यम से ही जाना जा सकता है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निर्मित हो जाती है। इस भाषा के आधार पर हम कह सकते हैं—सत्याशों को सापेक्ष और समन्वय-दृष्टि से देखने का नाम है अनेकांत।

सामाजिक समस्याएं भी अनेक होती हैं। उन्हें एकांगी दृष्टिकोण से नहीं सुलझाया जाता। सामाजिक जीवन संबंधों का जीवन है। संबंधों की व्याख्या सापेक्ष दृष्टि से ही की जा सकती है। विवाह, तलाक आदि के विषय में देश और काल के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार का चिंतन रहा है। किसी एक दृष्टिकोण से औचित्य या अनौचित्य की स्थापना नहीं की जा सकती।

समानता, विषमता, गरीबी, अमीरी—ये सब प्रश्न हैं। इनका अनेकांत दृष्टि से समीक्षात्मक पर्यालोचन करना आवश्यक है। भाषा, प्रांत, स्वायत्तता, जातीयता, सांप्रदायिक कट्टरता आदि राष्ट्र की प्रमुख समस्याएं हैं। उनका समाधान इसलिए नहीं हो रहा है कि समस्या सुलझाने वालों का दृष्टिकोण सापेक्ष और समन्वय-मूलक नहीं है।

स्वत्व का विस्तार, प्रभुत्व का विस्तार, बाजार पर एकाधिकार आदि अंतरराष्ट्रीय समस्याएं हैं। अपने-अपने विकास का अधिकार भी अंतरराष्ट्रीय समस्याओं के समाधान में बाधा बना हुआ है। युग की अपेक्षा है, विश्व-शांति की अपेक्षा है कि परिवार, समाज, राष्ट्र और अंतरराष्ट्रीय क्षेत्र के प्रमुख व्यक्तियों का दृष्टिकोण अनेकांतमय होना चाहिए। उन्हें सापेक्षता, समन्वय, सह-अस्तित्व और स्वतंत्रता का प्रशिक्षण लेना चाहिए। यह प्रशिक्षण विश्वशांति की समस्याओं को सुलझाने का एक सर्वोत्तम उपाय होगा।

व्यावहारिक चेतना का निर्माण करने से पहले दार्शनिक चेतना का निर्माण आवश्यक है। दर्शन के आधार पर ही व्यवहार का प्रवर्तन होता है। व्यवहार-परिवर्तन के लिए दर्शन के इन सूत्रों पर मनन करना अत्यंत महत्त्वपूर्ण होगा—

सत्य सत्य ही है। वह मेरे लिए एक प्रकार का और दूसरे के लिए दूसरे प्रकार का नहीं होता। फिर भी यह हो रहा है कि मैं जिसे सत्य मानता हूं, दूसरा उसे असत्य मानता है। दूसरा जिसे सत्य मानता है, मैं उसे असत्य मानता हूं। सत्य का यह विवादास्पद रूप असत्य की ओर ले जाता है। इस प्रश्न को सुलझाने के लिए अनेकांत की स्थापना करते हुए महावीर ने कहा—'सत्य का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। प्रतिपादन सत्यांश का ही हो सकता है। कोई भी मनुष्य अपने जीवन में सत्य के हजारों पर्यायों से अधिक पर्यायों को अभिव्यक्ति नहीं दे पाता।'

- जैन दर्शन ने प्रत्ययवाद और वस्तुवाद—इन दोनों सत्यांशों की सापेक्ष व्याख्या की है।
- प्रत्ययवाद और वस्तुवाद एक-दूसरे से निरपेक्ष होकर असत्यांश हो जाते हैं और परस्पर सापेक्ष होकर सत्यांश बन जाते हैं।
- विश्व का प्रत्येक तत्त्व नित्य और अनित्य—इन दोनों धर्मों की स्वाभाविक समन्विति है।
- सत्य की खोज चिंतन-मनन और दर्शन से हुई है। उसका विकास सामाजिक संदर्भ में हुआ है।
- चेतन और अचेतन—दोनों निरपेक्ष सत्य हैं तथा उनसे होने वाले परिवर्तन सापेक्ष सत्य हैं। निरपेक्ष और सापेक्ष—दोनों सत्यों की समन्विति ही वास्तविक सत्य है।

**सत्य की खोज और संवादिता**

सत्य शाश्वत है। सत्य का अन्वेषण करने वाला उसका प्रवर्तन नहीं करता, व्याख्या करता है। भगवान महावीर सत्य के प्रवर्तक नहीं, किंतु व्याख्याता थे। उन्होंने दीर्घ तपस्या के द्वारा सत्य का साक्षात्कार किया और भाषा की सीमा में उसे अनावृत किया। उन्होंने देखा—सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है, उसकी समग्रता का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। प्रतिपादन सत्यांश का ही किया जा सकता है। ज्ञान अपने लिए होता है और प्रतिपादन दूसरों के लिए। ज्ञान अपने-आपमें प्रत्यक्ष होता है। ज्ञेय को जानते समय वह प्रत्यक्ष भी होता है और परोक्ष भी होता है। वह अपने-आप में न प्रमाण होता है और न अप्रमाण। ज्ञेय को जानते समय वह प्रमाण भी होता है और अप्रमाण भी होता है। संशयित और विपर्यस्त ज्ञान अप्रमाण होता है। निर्णयात्मक ज्ञान प्रमाण होता है। ज्ञान-विकास की तरतमता, स्वार्थ और परार्थ, प्रत्यक्ष और परोक्ष, प्रामाण्य और अप्रामाण्य—ज्ञान के इन विविध रूपों ने सत्य को विविध रूपों में विभक्त कर दिया।

अनेकांत ने ऋजुता और अनाग्रह का पथ प्रशस्त किया। सत्य उसे उपलब्ध होता है, जो ऋजु होता है। वह जो जैसा है उसे उसी रूप में स्वीकार करता है, यथार्थ को अपने पूर्वाग्रह के सांचे में ढालने का प्रयत्न नहीं करता, वस्तु-सत्य के दर्पण को अपनी रुचि और संस्कार के फ्रेम में


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मंढ़ने का प्रयत्न नहीं करता। वस्तु-सत्य के विरोधी, विसंगत प्रतीत होने वाले पर्यायों में अपने तर्क-बल से सामंजस्य और संगति स्थापित करने का प्रयत्न नहीं करता। यह ऋजुता की साधना झुकाव-शून्यता की साधना है, विचार-शून्यता की साधना है। ऋजु व्यक्ति न महावीर के प्रति झुकाव रखता है और न किसी दूसरे के प्रति। उसका मन और मस्तिष्क खाली होता है, शून्य होता है।

सत्य की खोज के मार्ग में जितने प्रश्न, जितनी समस्याएं और जितनी उलझनें हैं, वे सब एकांतवादी लोगों ने उत्पन्न की हैं। एक एकांतवादी व्यक्ति 'क' के सत्यांश को पूर्ण सत्य मानकर 'ख' के सत्यांश को असत्यांश बतलाता है तो दूसरा व्यक्ति 'ख' के सत्यांश को पूर्ण सत्य मानकर 'क' के सत्यांश को असत्यांश बतलाकर सत्य की खोज में प्रश्न पैदा करता है। वे यथार्थ को यथार्थ रूप में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। वे वचन-प्रामाण्य या शास्त्र-प्रामाण्य से ही सत्य को उपलब्ध करना चाहते हैं। उसके लिए ऋजुता या विचार-शून्यता की साधना करना नहीं चाहते। ऐसे ही लोगों ने सत्यांशों में विरोधाभास दिखाकर सत्य की अनेकरूपता और सत्यदर्शी तपस्वियों की परस्पर विसंवादिता के प्रश्न को उजागर किया है। ❖

6. एक समय में एक पर्याय को ही जाना जा सकता है।
7. एक पर्याय के ज्ञान के आधार पर भावी अनंत पर्यायों की व्याख्या नहीं की जा सकती, इसलिए सापेक्ष सत्य की व्याख्या करना उचित है।
8. अस्तित्व निरपेक्ष सत्य है। उसका पर्याय के आधार पर अनुमान किया जा सकता है, किंतु उसका साक्षात् ज्ञान नहीं किया जा सकता।

अस्तित्व इंद्रिय ज्ञान से ज्ञेय नहीं है, इसलिए वह अज्ञेय है। वह परिणमन धर्मा है। उसका एक परिणमन अथवा एक पर्याय एक समय में इन्द्रिय-चेतना से ज्ञेय बनता है। उसके शेष सब पर्याय एक साथ ज्ञेय नहीं बनते। वे कालक्रम से ज्ञेय बनते हैं। जो ज्ञेय नहीं बनते, उन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ज्ञेय पर्याय और अज्ञेय पर्याय की युगपत् स्वीकृति का सूचक शब्द है 'स्यात्'। आगम साहित्य में नय के साथ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग हुआ है, अतः आगम युग में नय और स्याद्वाद दोनों भिन्न नहीं हैं। अनेकांत का आधार भी नय है इसलिए अनेकांत भी नय से भिन्न नहीं है। दार्शनिक युग में जैन दर्शन के आचार्यों ने दार्शनिक समस्याओं पर विचार करने की दृष्टि से प्रमाण और नय का विभाग किया। द्रव्य के समग्र स्वरूप का ज्ञान करने के लिए प्रमाण की व्यवस्था की। उसके ज्ञानात्मक और वचनात्मक—दोनों विधि प्रकल्पों के साथ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया गया। ज्ञान काल में 'स्यात्' शब्द स्वार्थानुमान की तरह अंतर्भूत रहता है, वचन काल में पदार्थानुमान की तरह वह वाक्प्रयोग बनता है।

द्रव्य के एक पर्याय का ज्ञान करने के लिए नय की व्यवस्था की। उसके साथ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया, केवल 'एवकार' (निरपेक्ष बोध अथवा वचन) का प्रतिषेध किया गया। आचार्य हेमचन्द्र ने इन तीनों का आकार इस प्रकार प्रस्तुत किया—

1. सदैव दुर्नय, एकांत बोध अथवा एकांत वचन। 2. सत्-सापेक्ष बोध अथवा सापेक्ष वचन। 3. स्यात् सत्-प्रमाण बोध अथवा प्रमाण वाक्य।

नय का एक वर्गीकरण और मिलता है—निश्चय नय और व्यवहार नय। द्रव्यार्थिक नय वस्तुतः निश्चय नय है और पर्यायार्थिक नय व्यवहार नय। इंद्रिय ज्ञानी सत् को जानने के लिए पर्यायार्थिक अथवा व्यवहार नय का उपयोग करता है। अतींद्रिय ज्ञानी सत् के व्यक्त पर्याय को ही नहीं जानता, वह उसके अव्यक्त पर्याय को भी जानता है। उसके लिए निश्चय नय उपयोगी है। सत् का समग्र रूप व्यक्त और अव्यक्त—दोनों पर्यायों से संवलित है। इंद्रियज्ञानी अतींद्रियज्ञानी के वचन के आधार पर उसका ज्ञान कर सकता है। अपने ज्ञान से उसे नहीं जान पाता। अनुमान और गणित से वह अतींद्रिय वस्तु को भी जान सकता है, इसलिए गणितीय युग में सत् के अव्यक्त पर्यायों को भी जानने की क्षमता विकसित हुई है। इस आधार पर सिद्धसेन के उस सूक्त की सार्थकता प्रमाणित होती है। उसे कुछ परिवर्तन के साथ इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है।

जितने ज्ञान पथ उतने नय।
जितने नय उतने ज्ञान पथ।
जितने वचन पथ उतने नय।
जितने नय उतने वचन पथ।

नय की मीमांसा किए बिना सत् के अव्यक्त और व्यक्त रूप तथा ज्ञान की सीमा का सम्यक् आकलन नहीं किया जा सकता। ❖



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अनेकांत और स्याद्वाद
# कैसे हो अस्पष्टता का निवारण

यशदेव शल्य

•

**किंतु अनेकांतवाद निश्चित रूप से तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत ही है क्योंकि यह वस्तु के विभिन्न पक्षों को उनकी विभिन्नता में वस्तुगत ही मानता है, और स्याद्वाद इन पक्षों की विभिन्नता का उसी रूप में कथन करने की विधि है। किंतु तब प्रश्न होता है कि जब हम कहते हैं कि 'वस्तु इस अपेक्षा से ध्रुव और इस अपेक्षा से परिवर्तमान है, इस अपेक्षा से अस्ति और इस अपेक्षा से अनस्ति है' और कि 'वह अवक्तव्य भी है', अर्थात् 'अस्ति-अनस्ति उभयतः भी है' तब हम वस्तु के निरपेक्ष ग्रहण को पूर्वगृहीत किए बिना यह कैसे कह सकते हैं? हाथी के उदाहरण में भी वही बात है, कि कोई सूंड को ही हाथी मान रहा है और दूसरा पैर को ही, किंतु यह भ्रांति है—इसे वही जान सकता है जो हाथी को उसकी समग्रता में जानता हो।**

अनेकांतवाद और स्याद्वाद के सिद्धांत या सिद्धांतों को लेकर जैन विद्वानों में भी और जैनेतर विद्वानों में भी, गहरी अस्पष्टता है। यह अस्पष्टता दर्शाने के लिए हम तीन उद्धरण देंगे और उनकी आलोचना के द्वारा उस अस्पष्टता का निवारण करने का प्रयत्न करेंगे। सर्वप्रथम सर्वदर्शन संग्रह के श्रीमाधवाचार्य का प्रतिपादन देखें—'जैन लोगों के अनुसार हमें किसी वस्तु का ज्ञान पूरा नहीं होता। किसी वस्तु के कई पहलू होते हैं, उनमें सब पहलुओं का एक साथ ज्ञान प्राप्त करना केवली के लिए ही संभव होता है, शेष के लिए नहीं, क्योंकि अकेवली जन का ज्ञान एकांगी ही हो सकता है। (जैनों के अनुसार) दार्शनिकों में विवाद का यही कारण है। परमार्थ के केवल एक पक्ष का अवलोकन कर सकने के कारण वे केवल एक पक्ष को ही जान सकते हैं। इसे जैन लोग 'नय' कहते हैं। नय का विषय एकदेश विशिष्ट होता है (न्यायावतारसूत्र, 29)।'[1] इसके निदर्श रूप में जैनों में हाथी के सूंड, पैर आदि को ही हाथी समझने का उदाहरण प्रचलित है। इसका अर्थ है कि अनेकांतवाद मनुष्य के ज्ञान को, वस्तुस्वरूप को, उसकी समग्रता में ग्रहण में असमर्थ, केवल अंश-ग्राही ही मानता है और इस प्रकार ज्ञान में निराग्रही जिज्ञासुभाव का परामर्श देता है।

दूसरा उद्धरण प्रोफेसर सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त से देखें। दासगुप्त ने 'अनेकांतवाद' का अंग्रेजी में अनुवाद 'रेलेटिव प्लूरलिज्म' किया है, अर्थात् सापेक्ष अनेकतावाद। इसका भी यही अर्थ बनता है कि वस्तु मनुष्य के लिए केवल पक्षतः ही गम्य होती और हो सकती है, अपनी समग्रता में नहीं, क्योंकि मनुष्य की ज्ञान-शक्ति, बल्कि कहें ज्ञान के उपकरण, परिमित हैं और वस्तु का आकार अपरिमित, या कम-से-कम इतने बड़े परिमाण का कि वह मनुष्य को अपनी पूर्णता में गम्य नहीं हो सकता। इस दृष्टि की व्याख्या वे इस प्रकार करते हैं—'इसे हम उपनिषदों के आत्यंतिक निरपेक्षतावाद या अद्वयवाद (एब्सोल्यूटिज्म) और बौद्धों के पूर्ण अनेकांतवाद के विपरीत सापेक्ष अनेकांतवाद कह सकते हैं। जैन सब वस्तुओं को अनेकात्मक मानते हैं अथवा दूसरे शब्दों में, वे मानते हैं कि कोई निरपेक्ष कथन संभव नहीं है, क्योंकि सब कथन कुछ परिस्थितियों और कुछ सीमाओं में ही किए जा सकते हैं। उदाहरणतः एक स्वर्ण-कलश द्रव्य के रूप में एक परमाणु-संघात है, किसी दूसरे प्रकार का, जैसे आकाश के प्रकार का, द्रव्य नहीं है। अर्थात् स्वर्ण-कलश केवल एक अर्थ में द्रव्य है, सब अर्थों में नहीं....आदि।'[2] अब, इस उद्धरण को ध्यान से पढ़ें तो आप एक गहरा व्यामिश्र पाएंगे। यहां वस्तु-स्वरूप और उसके ज्ञान को व्यामिश्रित किया जा रहा है। 'कलश किस प्रकार का द्रव्य है, यह उसके स्वरूप के संबंध में कथन है, किंतु 'वह किस-किस प्रकार का द्रव्य नहीं है' यह उसके स्वरूप विषयक बात नहीं है, यह उसके ज्ञान विषयक



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या कथन विषयक बात है। किंतु 'तत्त्व अद्वय चैतन्य रूप है या क्षण-संतान रूप है' इसका विषय हमारा ज्ञान या कथन नहीं है, इसका विषय तत्त्व का स्वरूप है। अब आचार्यश्री महाप्रज्ञ की व्याख्या देखें। वे कहते हैं—'अनेकांत का मूल प्रतिपाद्य है नित्यानित्यतावाद। विश्व की व्याख्या तथा द्रव्य की व्याख्या केवल नित्य और केवल अनित्य के आधार पर नहीं की जा सकती। जैन दर्शन के अनुसार कोई द्रव्य नित्य और कोई अनित्य, यह विभाग नहीं है। प्रत्येक द्रव्य का एक अंश है ध्रौव्य, इसलिए वह नित्य है, उसका दूसरा अंश है पर्याय, इसलिए वह अनित्य है।'[3] यहां आचार्यश्री महाप्रज्ञ 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग 'वस्तु' के अर्थ में कर रहे हैं क्योंकि द्रव्य ध्रुव, अर्थात् नित्य ही होता है, जबकि वस्तु नित्यानित्य होती है। जो भी हो, आचार्यश्री के उपर्युक्त प्रतिपादन के अनुसार अनेकांत का संबंध वस्तु-स्वरूप से है—वस्तु स्वरूपतः अनेकात्मक है। यह अनेकांतवाद का अभिप्राय है। आपेक्षिकता वस्तुगत नहीं होती, वह ज्ञानगत या कथनगत ही हो सकती है। किंतु तब अनेकांतवाद अनेक प्रकार के हैं—न्याय-वैशेषिक प्रकार का, सांख्यीय प्रकार का, बौद्ध प्रकार का और दूसरे अनेक प्रकार के भी। महाप्रज्ञजी अनेकांतवाद को तत्त्वमीमांसीय कहते भी हैं, जिसका अर्थ है कि ज्ञानमीमांसीय अर्थ में यह अनैकांतिक दृष्टि नहीं है, उस अर्थ में यह ऐकांतिक दृष्टि ही है। ज्ञानमीमांसीय अर्थ में अनेकांत दृष्टि यह होगी कि 'वस्तुएं हमें द्रव्य और पर्याय उभयात्मक प्रतीत होती हैं, यद्यपि यह कहना कठिन है कि ये जैसी प्रतीत होती हैं वैसी ही हों, ये मात्र द्रव्यात्मक भी हो सकती हैं, मात्र पर्यायात्मक भी हो सकती हैं, ऐसी भी हो सकती हैं जिन पर ऐसी कोई कोटि लागू नहीं होती हो, और ऐसी भी कि जैसे जादूगर द्वारा रचित इंद्रजाल।' किंतु जैन लोग ऐसी अनिश्चयात्मकता नहीं रखते। यह अस्पष्टता तब और बढ़ जाती है जब वे अनेकांत को ही नहीं स्याद्वाद और नय को भी तत्त्वमीमांसीय कहते हैं। ये कैसे तत्त्वमीमांसीय हैं यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। यह अस्पष्टता इसलिए है क्योंकि वे स्याद्वाद को 'प्रतिपादन शैली' भी कहते हैं और मेलेनोविस के अनुसार इसे सांख्यिकी से भी जोड़ते हैं।[4] अब, सांख्यिकी वह ज्ञान-विधि है जो घटनाओं में कारण-कार्य संबंध सिद्ध नहीं कर पाने पर संख्यात्मक अनुपात के आधार पर संभावनात्मक भविष्यवाणी करती है। यद्यपि स्याद्वाद को सांख्यिकी से जोड़ना और 'प्रतिपादन शैली' कहना दोनों भ्रांतिमूलक हैं, क्योंकि ये सापेक्षतया निश्चयात्मक कथन ही होते हैं—देश की अपेक्षा से, काल की अपेक्षा से आदि, जबकि सांख्यिकीय कथन संभावनात्मक होते हैं, किंतु यदि कोई इन्हें सांख्यिकीय रूप से देखता है तो वह इन्हें किसी भी प्रकार से तत्त्वमीमांसीय नहीं कह सकता।

किंतु अनेकांतवाद निश्चित रूप से तत्त्वमीमांसीय सिद्धांत ही है क्योंकि यह वस्तु के विभिन्न पक्षों को उनकी विभिन्नता में वस्तुगत ही मानता है, और स्याद्वाद इन पक्षों की विभिन्नता का उसी रूप में कथन करने की विधि है। किंतु तब प्रश्न होता है कि जब हम कहते हैं कि 'वस्तु इस अपेक्षा से ध्रुव और इस अपेक्षा से परिवर्तमान है, इस अपेक्षा से अस्ति और इस अपेक्षा से अनस्ति है' और कि 'वह अवक्तव्य भी है', अर्थात् 'अस्ति-अनस्ति उभयतः भी है' तब हम वस्तु के निरपेक्ष ग्रहण को पूर्वगृहीत किए बिना यह कैसे कह सकते हैं? हाथी के उदाहरण में भी वही बात है, कि कोई सूंड को ही हाथी मान रहा है और दूसरा पैर को ही, किंतु यह भ्रांति है—इसे वही जान सकता है जो हाथी को उसकी समग्रता में जानता हो। अब, इस दृष्टि को ज्ञानात्मक अनेकांत दृष्टि और निराग्रही दृष्टि नहीं कह सकते, ज्ञानात्मक रूप से तो यह ऐकांतिक दृष्टि ही है, और यह बात अतिरिक्त कि यह अपने को पूर्ण सत्य की ज्ञापक मानती है और दूसरी दृष्टियों को खंड सत्य को अखंड सत्य मानने वाली मानती है।

**जहां तक स्याद्वाद का संबंध है, यह हमारे साधारण भाषा-प्रयोग में पूर्वगृहीत बातों को केवल विस्तार से कहना है। उदाहरणतः जब हम कहते हैं 'यह घट है' तब इसमें 'वह' की और 'था' और 'होगा' की व्यावृत्तियां पूर्वगृहीत रहती हैं। 'यह घट है' इस वाक्य को निरपेक्ष रूप से कोई भी नहीं लेता। यदि कोई लेता है तो इसका अर्थ है कि वह साधारण भाषा-ज्ञान से वंचित है। किंतु यह वस्तु विषयक लोकधारणा है। यदि कोई इस लोकधारणा को ही, जिसे महात्मा बुद्ध 'पृथग्जन की धारणा' कहते हैं, परमार्थ का स्तर दे देता है और इस पर ही अपनी सारी विवेचन-शक्ति का अपव्यय करता है तो वह हमारी सहानुभूति का पात्र तो हो सकता है, आदर का पात्र नहीं।**



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहां तक स्याद्वाद का संबंध है, यह हमारे साधारण भाषा-प्रयोग में पूर्वगृहीत बातों को केवल विस्तार से कहना है। उदाहरणतः जब हम कहते हैं 'यह घट है' तब इसमें 'वह' की और 'था' और 'होगा' की व्यावृत्तियां पूर्वगृहीत रहती हैं। 'यह घट है' इस वाक्य को निरपेक्ष रूप से कोई भी नहीं लेता। यदि कोई लेता है तो इसका अर्थ है कि वह साधारण भाषा-ज्ञान से वंचित है। किंतु यह वस्तु विषयक लोकधारणा है। यदि कोई इस लोकधारणा को ही, जिसे महात्मा बुद्ध 'पृथग्जन की धारणा' कहते हैं, परमार्थ का स्तर दे देता है और इस पर ही अपनी सारी विवेचन-शक्ति का अपव्यय करता है तो वह हमारी सहानुभूति का पात्र तो हो सकता है, आदर का पात्र नहीं। पीछे इंग्लैंड के 'साधारण भाषा या कहें लोक-भाषा परमार्थवादी' (ऑर्डिनरी लेंग्वेज अनेलेइस्ट्स) दार्शनिकों ने, जिनमें 'सी.डी. ब्रॉड'[5], और पी.एफ. स्ट्रॉसन[6] के नाम उल्लेखनीय हैं, जैनों से भी अधिक सूक्ष्म किंतु ऊबाऊ विश्लेषण प्रस्तुत किया था। किंतु दार्शनिक विचार को भौतिक वस्तुओं विषयक लोकधारणा को समर्पित कर देना और आत्मा आदि संबंधी विचार को भी इसी निदर्श पर करना प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। किंतु बौद्ध जब सब-कुछ को क्षण-संतान कहते हैं, जब अवयवी की सत्ता अस्वीकार कर उसे केवल अवयव-संघात कहते हैं, या उपनिषद जब सब-कुछ को ब्रह्म कहते हैं, तब ऐसा नहीं है कि उन्हें लोक-भाषा का ज्ञान नहीं होता या वस्तु विषयक लोकधारणा का पता नहीं होता। किंतु वे इस जानकारी के बावजूद अपने सिद्धांतों का भिन्न प्रकार से प्रतिपादन करते हैं। इसका कारण यह है कि वे लोक-धारणाओं को परमार्थ-विचार में युक्तिसंगत नहीं पाते। इसी प्रकार के विचार के क्रम में महात्मा बुद्ध, महायानी बौद्धों और शंकर ने व्यवहार और परमार्थ का भेद किया है और व्यवहार को 'मिथ्या' कहा है। उनकी दृष्टि पूर्णतः युक्तिसंगत है, यहां यह हमारा प्रतिपाद्य नहीं है, किंतु उनकी दृष्टि के विरुद्ध बिना कोई युक्ति दिए लोकसाधारण बोध को परमार्थ बोध मानकर अपने को हाथी का ज्ञाता बताना और उन्हें सूंड और पैर को हाथी मानने वाले कहना केवल उपहासास्पद बालिशता ही प्रदर्शित करना है। दूसरे, यदि अकेवली मनुष्य परमार्थ तत्त्व को उसकी समग्रता में जान पाने में असमर्थ हैं तो आप अकेवली यह कैसे जानते हैं कि आपकी ज्ञान-विषय सूंड किसी हाथी अवयवी की अंग है, कि परमार्थ तत्त्व अनेकांत है, कि आपके प्रकार की सापेक्षता को केवली निरपेक्ष रूप में जान सकता है? आप वैज्ञानिक सापेक्षतावाद से अपने सापेक्षतावाद की अनुरूपता कहते हैं, किंतु आइन्स्टाइनीय सापेक्षता-सिद्धांत ज्ञान की निरपेक्षता को संभव ही नहीं मानता और न पारमाणविक अनिर्धार्यता का सिद्धांत केवली के लिए भी निर्धारण को संभव मानता है। विज्ञान की बात छोड़ें, उसे गौरव देना और उससे अनुरूपता बताकर अपने को गौरवान्वित करना दार्शनिक अधकचरेपन को ही प्रकट करता है। यहां प्रासंगिक बात यह है कि यदि आप परमार्थ ज्ञान केवल केवली के लिए ही संभव मानते हैं तो अपनी अभिवृत्ति महात्मा बुद्ध के जैसी होनी चाहिए कि 'तत्त्व केवल संबोधि का विषय है, इसलिए उसके संबंध में बोध के लौकिक स्तर पर रहते हुए विचार करना व्यर्थ है, उस स्तर पर तो केवल इतना समझना ही अपेक्षित है कि 'व्यवहार-लोक अविद्यामूलक संस्कार प्रवाह मात्र है। यदि परमार्थ को जानना है तो व्यवहार की अविद्यामूलकता जानकर अपना दीपक स्वयं बनो—अप्प दीपो भव। उसके संबंध में दर्शन-चर्चा मत करो।' किंतु जैन इसके विपरीत कहते हैं कि उनका मत ही ऐकांतिक रूप से युक्त मत है।

**घट यदि पर्याय है तो वह सर्वथा अनित्य ही हो सकता है, वह नित्य कैसे होगा? इसी प्रकार, आकाश यदि द्रव्य है तो वह सर्वथा नित्य ही हो सकता है, वह अनित्य कैसे होगा? यदि आप कहते हैं कि नहीं, कुछ भी केवल द्रव्य या केवल पर्याय नहीं हो सकता, तो आपको 'घट नित्यानित्य है' ऐसा नहीं कह कर ऐसा कहना चाहिए कि 'वह वस्तु जो परमाणु पक्ष में द्रव्य और घट पक्ष में पर्याय है वह नित्यानित्य है।' किंतु यह कोई कहने की बात ही नहीं है, क्योंकि आप अस्तित्व मात्र को द्रव्य-पर्यायात्मक ही मानते हैं और परिणामतः आपके लिए ऐसा कुछ हो ही नहीं सकता जो केवल द्रव्य या केवल पर्याय हो।**



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

खैर यदि वे ऐसा कहें तो यह उनकी मर्जी किंतु तब वे अपने सापेक्षतावाद को निराग्रहता, अन्य मतों के प्रति उदारता और विनम्रता आदि का द्योतक नहीं कहें, इनसे इस सापेक्षतावाद का कोई संबंध नहीं है।

अब जैनों के प्रतिपादन की असमीचीनता और स्थूलता देखें। जैन घट-पट आदि को परमाणु-द्रव्य के पर्याय कहते हैं। प्रथम तो, परमाणु-संघात एक-द्रव्य है और यह परमाणु-संघात, या एक-एक परमाणु भी, अपरिवर्तनशील होते हैं, यही स्वीकार करने का कोई आधार नहीं है। किंतु इसे यदि जाने भी दें तो भी, घट-पट आदि परमाणुओं के पर्याय हैं, यह कहना अविचार की पराकाष्ठा है, क्योंकि घट या पट वस्तुगत कुछ होते ही नहीं, ये तो मनुष्य द्वारा कल्पित आकार या दृष्ट प्रत्यय होते हैं जो द्रव्य-पर्यायात्मक भौतिक वस्तु को उपादान कर इंद्रिय-ग्राह्य रूप में व्यक्त होते हैं। इसी से ये एक बार किसी उपादान में आविर्भूत होकर उस उपादान की संहति के छिन्न होने तक अपरिवर्तित रूप में ही बने रहते हैं। उपादानों में आविर्भूत इन अलौकिक सत्त्वों का केवल प्रागभाव और ध्वंसाभाव ही होता है, बीच की अवधि में ये ज्यों-के-त्यों ही बने रहते हैं। यह बात पुस्तक के उदाहरण से अधिक स्पष्ट हो जाएगी—कागज या मसि के परिवर्तन से पुस्तक में कोई परिवर्तन होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यही बात घट-पट आदि में भी है। द्रव्य-पर्याय की दृष्टि से तो वास्तव में ये अवस्तुएं हैं, जिन्हें वेदांती और बौद्ध ठीक ही विकल्प या नाम-रूप कहते हैं अथवा आप इन्हें दूसरे प्रकार की वस्तुएं कह सकते हैं—लोकोत्तर प्रकार की, जो द्रव्य-पर्यायात्मक नहीं होतीं। निश्चय ही ये भी किसी ज्ञान के लिए अपनी समग्रता में गम्य नहीं होतीं, किंतु इनका पक्ष-ग्रहण स्याद्वाद की सप्तभंगी या अभंगी का विषय नहीं होता, क्योंकि इनकी सत्ता देश या कालपरक नहीं होती। इनकी समग्रता केवल एक आयाम में अगम्य होती है और वह है गहनता का आयाम, जो अपने को अन्तःसाक्षात्कार की गहनता के अनुपात में उद्घाटित करता है। विचार और भाव आदि इसी प्रकार की सत्ताएं हैं।

द्रष्टव्य है कि जैन इसके आगे भी व्यामिश्र करते हैं। अपने अनेकांत को सर्वव्यापी दिखाने के लिए वे ऐसी बातें भी करते हैं, जैसे 'नित्यानित्य का सिद्धांत कुछ दर्शनों को मान्य है, किंतु वह (उनके लिए) सार्वभौम नहीं है, वह विभाग रूप से मान्य है। जैसे (उनके अनुसार) घट अनित्य है, आकाश सर्वथा नित्य है, दीपकनिका अनित्य है, आत्मा सर्वथा नित्य है। (किन्तु) जैन दर्शन के लिए नित्यानित्य का सिद्धांत सार्वभौम है। जैसे आकाश नित्यानित्य है वैसे ही घट भी नित्यानित्य है।'[7] किंतु वह कैसे? घट यदि पर्याय है तो वह सर्वथा अनित्य ही हो सकता है, वह नित्य कैसे होगा? इसी प्रकार, आकाश यदि द्रव्य है तो वह सर्वथा नित्य ही हो सकता है, वह अनित्य कैसे होगा? यदि आप कहते हैं कि नहीं, कुछ भी केवल द्रव्य या केवल पर्याय नहीं हो सकता, तो आपको 'घट नित्यानित्य है' ऐसा नहीं कह कर ऐसा कहना चाहिए कि 'वह वस्तु जो परमाणु पक्ष में द्रव्य और घट पक्ष में पर्याय है वह नित्यानित्य है।' किंतु यह कोई कहने की बात ही नहीं है, क्योंकि आप अस्तित्व मात्र को द्रव्य-पर्यायात्मक ही मानते हैं और परिणामतः आपके लिए ऐसा कुछ हो ही नहीं सकता जो केवल द्रव्य या केवल पर्याय हो। ऐसी अवस्था में आपको कहना चाहिए कि 'घट, जोकि पर्याय है, अनित्य है और आकाश, जोकि द्रव्य है, नित्य है, क्योंकि इसमें यह पूर्वगृहीत है कि घट का कोई द्रव्य पक्ष भी है जो नित्य है और आकाश का पर्याय पक्ष भी है जो अनित्य है।' किंतु यह कहना कि घट भी नित्यानित्य है और आकाश भी, भ्रांतिजनक है। यह भ्रामकता तब द्विगुणित हो जाती है जब आप वैशेषिक दर्शन को अपने से विपरीत ऐकांतिक बताते हुए कहते हैं कि 'वैशेषिक पृथ्वी को कारण रूप से नित्य और कार्य रूप से अनित्य मानते हैं और इस प्रकार नित्य और अनित्य को विभागशः देखते हैं।' वह तो आप भी द्रव्य और पर्याय का विभाग कर वस्तु को एक विभाग में नित्य और दूसरे विभाग में अनित्य देखते हैं।

इसी प्रकार स्याद्वाद के संबंध में भी हम संक्षेप में विचार करेंगे। सर्वप्रथम यहां यह देखना चाहिए कि स्याद्वाद का संदर्भ क्या है, ज्ञान या कि कथन? इस संबंध में भी जैनों में मतभेद और अस्पष्टता है। उदाहरणतः आचार्यश्री महाप्रज्ञ इसे 'प्रतिपादन-शैली' कहते हैं जबकि आचार्य समन्त भद्र 'क्रमभावि ज्ञान' कहते हैं। यों जैसा कि हमने पीछे देखा, आचार्यश्री महाप्रज्ञ इसे तत्त्वमीमांसीय भी कहते हैं। इसके ये दोनों ही निरूपण युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होते। 'प्रतिपादन-शैली' का क्या अर्थ है? कोई भी लेखक जैसे लिखता है उसे उसकी प्रतिपादन-शैली कहते हैं और प्रायः किन्हीं भी दो मौलिक लेखकों की प्रतिपादन-शैलियां भिन्न होती हैं। किंतु इसी शैली-भेद का प्रतिपाद्य से कोई अनिवार्य संबंध नहीं होता। उदाहरणतः शंकराचार्य, श्रीहर्ष और व्यासतीर्थ की प्रतिपादन-शैलियों में मौलिक भेद है जबकि उनका सिद्धांत



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एक ही है। जहां तक 'क्रमभावि ज्ञान' का संबंध है, इसका कोई अर्थ ही नहीं बनता, क्योंकि सप्तभंगी के सातों भंग ज्ञान की अक्रमकता को पूर्वगृहीत करके ही संभव हो सकते हैं। स्याद्वाद में स्यात् शब्द 'किसी अपेक्षा से' का वाचक है। अब कोई भी कथनात्मक सापेक्षता किसी ज्ञानात्मक समग्रता को पूर्वगृहीत करके ही संभव हो सकती है। उदाहरणतः 'स्यात् घट है' इस वाक्य में यह कथन है कि इस देश और इस काल में कुछ भी ऐसा नहीं है जो अघट है। इस प्रकार 'यह घट है' इस कथन में 'यह' अघट नहीं है और 'वह' अघट भी हो सकता है और घट भी, यह पूर्वगृहीत रूप से निहित है यद्यपि इस कथन में इसका कथन नहीं हो रहा है। किंतु 'स्यात् यह घट है' में इस अकथित पूर्वगृहीत पक्ष का वक्ता को ज्ञान है और वह इसकी अपेक्षा से ही इस वाक्य को स्यात्पूर्वक कह रहा है, यह संकेत किया गया है। इस प्रकार यह वैसा ही वाक्य है जैसा 'यह दाईं भुजा है' वाक्य है, जिसमें यह पूर्वगृहीत है कि कहने वाला यह वाक्य इस अपेक्षा को ध्यान में रखकर ही बोल रहा है कि एक भुजा ऐसी है जो बाईं है। इसी प्रकार 'स्यात् घट है' कथन में यह भी पूर्वगृहीत है कि 'यह जो है, वह घट नहीं होकर कुछ और भी हो सकता था,' इस प्रकार, 'यह जो घट है वह यहां इस समय तो है, अन्य समय या अन्यत्र यह नहीं भी हो सकता है।' इस प्रकार स्याद्वाद ज्ञान-विषयक सिद्धांत नहीं ठहरता, कथन-विषयक सिद्धांत ही ठहरता है। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि स्याद्वाद की सप्तभंगी में एक भंग अवक्तव्य का भी है, जिसका यह अर्थ है कि 'स्यात् है' में 'स्यात् नहीं है' यद्यपि पूर्वगृहीत है और इस प्रकार वस्तु विशेष के सापेक्षतः होने और नहीं होने का ज्ञान युगपद रूप से होता है, किंतु 'युगपद रूप से होने-न-होने' का कथन नहीं किया जा सकता। यद्यपि हमें यह बात समझ में नहीं आई कि अस्ति-अनस्ति का युगपद कथन अवक्तव्य कैसे है, क्योंकि यह कहा जा ही सकता है कि 'प्रत्येक भौतिक वस्तु में अस्तित्व-अनस्तित्व सापेक्षतः युगपद रूप से रहते हैं।' जैनों का कहना है कि यह अनुक्रमशः ही कहा जा सकता है, जबकि इसके कथ्य में यौगपद्य है, इसलिए यह कथ्य अवक्तव्य है। किंतु तब तो सभी कुछ अवक्तव्य हो जाएगा क्योंकि शब्द में अक्षरों का और वाक्य में शब्दों का अनुक्रम होता है जबकि शब्द और वाक्य का वाच्य अक्रमिक होता है। शब्द-स्फोट और वाक्य-स्फोट का सिद्धांत इसी कठिनाई के अतिक्रमण के लिए है, 'अवक्तव्य' कहे जाने वाले भंग की अवक्तव्यता इससे अलग प्रकार की नहीं है, केवल इसके समान यह वास्तव नहीं है। इसकी अवास्तवता इस बात में है कि यदि हम यह मानें कि 'यह घट है' कथन कुछ अपेक्षाओं के अधीन है तो शेष अपेक्षाएं इसके कथन करने के साथ ही इसमें अपोहात्मक रूप से निहित हो जाती हैं, प्रथम दो और स्यादात्मक वाक्य उनका केवल प्रकटीकरण करते हैं। तृतीय अवक्तव्य का भंग पृथक-पृथक कथित भंगों का युगपद कथन है। किंतु यह युगपद् कथन वास्तव में अकथित रूप से प्रथम दोनों भंगों में ही रहता है अथवा कहें प्रथम दो भंग इस तीसरे भंग के आंशिक कथन मात्र हैं, पूरा कथन वही है जिसे जैन अवक्तव्य कहते हैं। किंतु इसे छोड़ते हुए, क्योंकि यहां यह बात अवांतर है, यहां यह देखना महत्त्वपूर्ण है कि स्याद्वाद का संबंध हमारे ज्ञान की अनिवार्य सीमितता के स्वीकार से और इस प्रकार अनाग्रहभाव और विनम्रता से नहीं है बल्कि वस्तु-स्वरूप विषयक निश्चित और आग्रही दृष्टि और भाषा की वाचकता के स्वरूप-विषयक आग्रही दृष्टि से है। ये दोनों दृष्टियां जैन दर्शन की अपनी व्यवस्था के अंतर्गत कहां तक समीचीन-असमीचीन हैं—यह एक अलग प्रश्न है जिस पर हमने अपने ऊपर उल्लिखित लेख में विस्तार से विचार किया है। किंतु यहां अवांतरतः यह पुनः द्रष्टव्य है कि स्याद्वाद के कथन-विषयक होने, महाप्रज्ञजी के शब्दों में शैली-विषयक होने से इसका कोई भी संबंध सांख्यिकी से नहीं है। यदि इसे तत्त्वमीमांसा-मूलक मानें तो भी इसे सांख्यिकीय नहीं कह सकते, क्योंकि सांख्यिकी में घटनाओं में कारण-कार्य संबंध निर्धारित करने में असमर्थ रहने पर संख्यात्मक अनुपात का कथन होता है और इस प्रकार सांख्यिकी केवल ज्ञानमीमांसीय विधि-विषयक सिद्धांत है। ❖

**पाद-टिप्पणियां :**


1. माधवाचार्य—सर्वदर्शन संग्रह, अनुवाद-उमाशंकर शर्मा, चौखंभा विद्याभवन, वाराणसी, पृ. 170
2. सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त—हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसाफी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पृ. 175
3. आचार्य महाप्रज्ञ—'नय, अनेकांत और स्याद्वाद', जैन भारती, वर्ष 49, अंक 4, अप्रैल, 2001, पृ. 10
4. वही, पृ. 10
5. सी. डी. ब्रॉड—माइंड एंड इट्स प्लेस इन नेचर, अध्याय सेंसपर्सेप्शन एंड मैटर, रटलज एंड केगन पॉल, लंदन, 1923
6. पी. एफ. स्ट्रॉसन—दि इंडिविडुअल्स, यूनीवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1959
7. आचार्य महाप्रज्ञ, वही


❖❖



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अनेकांतवाद और स्याद्वाद : एक विमर्श

तुषार सरकार

•

कहा जा सकता है कि हमारी व्याख्या समीचीन होने पर भी बहुत दूरगामी नहीं है। हमने प्रारंभ में अवश्य यह कहा है कि जैन मत सभी विधेयों को सापेक्ष मानते हैं। किंतु क्या सुदृढ़ वस्तुवादी व्याख्या के आधार पर वे निरपेक्षतावादी जैसे दिखाई नहीं देते? मेरा उत्तर यह है कि प्रथमतः सत् भी एक योजना के अंतर्गत सापेक्ष हो सकता है और इस प्रकार मेरी व्याख्या निरपेक्षवादी नहीं है, यद्यपि यह सुदृढ़ वस्तुवादी है। आज के विज्ञान के दर्शन में एक आंतरिक वस्तुवाद (internal realism) की प्रवृत्ति चल रही है, जिसमें सापेक्षता और वस्तुवाद के बीच समन्वय किया गया है। यह बड़ा व्यापक विषय है। मैं इसकी चर्चा नहीं करूंगा क्योंकि मैंने इसकी चर्चा अन्यत्र की है। यहां यह उल्लेख करना उचित होगा कि जैनों का वस्तुवादी अनेकांतवाद आंतरिक वस्तुवादी व्याख्या से सहज ही मेल खाता है।

यह सर्वविदित है कि जैन मत के तीन मूल सिद्धांत हैं—(क) अनेकांतवाद (ख) स्याद्वाद और (ग) नयवाद। इनमें नयवाद की अपेक्षा प्रथम दो अधिक चर्चित हैं।

अनेकांतवाद का कथन है कि वस्तु के अनेक धर्म होते हैं, अर्थात् जो सत् है वह अनिवार्यतः अनंत धर्मात्मक होने के कारण अनेक प्रकार से विशेषित किया जा सकता है।

स्याद्वाद का कथन है कि घट के समान वस्तु का वर्णन सापेक्ष ही होना चाहिए। अतः 'घटोऽस्ति' अथवा 'घटो नास्ति' के स्थान पर हमें अपेक्षया 'स्यात् घटोऽस्त्येव' तथा 'स्याद् घटः नास्त्येव' कहना चाहिए। राधाकृष्णन, हिरियन्ना, आप्टे और दामोदरन जैसे कुछ विद्वानों ने स्यात् का अनुवाद संभवतः, 'शायद' अथवा 'हो सकता है' किया है। ये अनुवाद उचित नहीं हैं। मैं बताऊंगा कि ये अनुवाद क्यों उचित नहीं हैं।

नयवाद का कहना है कि वस्तु के अनंत-धर्म हैं और इसलिए उसे उतनी ही दृष्टियों से जानना संभव है। इनमें से प्रत्येक दृष्टि नय कहलाती है। वस्तु के किसी एक विशेष धर्म को केंद्र में रखकर विवेचन करने वाली नय अनंत हैं और वे वस्तु के स्वरूप को केवल अंशतः ही ग्रहण कर पाती हैं।

जैन दर्शन के चिंतन के ये तीन अभेद्य अंग हैं। इनके संबंध में दो मौलिक प्रश्न उपस्थित होते हैं :

(अ) इन तीनों के बीच क्या भेद है?

(आ) ये तीनों भिन्न होने पर भी तार्किक दृष्टि से परस्पर किस प्रकार जुड़े हुए हैं?

अनेकांतवाद के संबंध में मेरा विचार है कि, क्योंकि यह वस्तु के स्वरूप को धर्मतः व्याख्यायित करता है इसीलिए यह मूलतः सत्तामूलक अवधारणा है।

स्याद्वाद के संबंध में मेरा मानना है कि, क्योंकि यह बताता है कि वस्तु के स्वरूप का तर्क-संगत कथन कैसा है, अतः यह मूलतः तार्किक अवधारणा है।

नयवाद के संबंध में मेरा मत है कि, क्योंकि नयवाद दूसरी दृष्टियों की अपेक्षा किसी एक दृष्टि-विशेष से वस्तु को जानने की बात करता है, अतः यह मूलतः एक ज्ञानात्मक अवधारणा है।

ऊपर हमने अपने विवेचन में 'मूलतः' शब्द का प्रयोग इसलिए किया है कि ये तीनों अन्योन्य-व्यावर्तक नहीं हैं। जैन दर्शन में सत्ता, तर्क और ज्ञान एक-दूसरे से गुंथे हुए हैं। इसलिए इनमें से किसी एक को, शेष दो के समझे बिना नहीं समझा जा सकता और न ही इनमें से कोई एक विशुद्ध रूप में सत्तापरक, तर्कपरक अथवा ज्ञानपरक हो सकता है।

अब हम जैन दर्शन के इन तीन मौलिक सिद्धांतों के तार्किक रूप से पारस्परिक संबंध के प्रश्न पर आते हैं। प्रथमतः, जैसा कि हमने कहा है, वस्तु अनेक धर्मात्मक है, अतः वस्तु के स्वरूप को समग्र रूप में जानने के लिए यह आवश्यक है कि हम उन धर्मों में से प्रत्येक धर्म को जानें। दूसरे, अनंत धर्मों को अनंत ज्ञान से ही जाना जा सकता है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतः सामान्य मनुष्य अपने ज्ञान के सीमित होने के कारण वस्तु को पूर्णतः नहीं जान सकता। अतः हम सामान्य मनुष्य अधिक से अधिक एक विशेष दृष्टि अपनाकर एक समय में वस्तु के कतिपय धर्मों को ही जान सकते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि वस्तु का कोई भी ज्ञान जब भाषा में अभिव्यक्त किया जाता है तो वह एक विशेष दृष्टिकोण से ही संबद्ध होता है। अनेकांतवाद और नयवाद के बीच यह तार्किक संबंध है।

स्पष्ट है कि यदि वस्तु के संबंध में हमारा कोई भी ज्ञान एक सीमित दृष्टि को लेकर होता है, वह वस्तु के केवल किसी धर्म-विशेष के संबंध में ही है तो यह कहना मिथ्या होगा कि वस्तु केवल उसी धर्म-विशेष से जुड़ी है। स्वयं जैन इसे स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण देते हैं—चार अंधे व्यक्ति हाथी को देखने गए। उनमें से प्रत्येक छू कर हाथी को जानता है, किंतु वह हाथी के शरीर के एक विशिष्ट, किंतु भिन्न-भाग को छूता है। जो टांगों को छूता है वह कहता है कि हाथी स्तंभ की तरह है। जो पूंछ को छूता है वह कहता है कि हाथी रस्सी की तरह है। जो शरीर को छूता है वह कहता है कि हाथी दीवार की तरह है और इस प्रकार वे परस्पर विवाद प्रारंभ कर देते हैं कि हाथी वस्तुतः कैसा है? इन व्यक्तियों में प्रत्येक का वक्तव्य अंशतः सत्य है। किंतु उस वक्तव्य को ऐकांतिक रूप से यह रूप दे देना कि हाथी केवल स्तंभ के समान है और अन्य किसी प्रकार का नहीं है, अर्थात् वक्तव्य को निरपेक्ष रूप में सत्य मान लेना मूलतः सत्य को मिथ्या बना देना है। वक्तव्य की सत्यता को सुरक्षित रखने के लिए प्रत्येक वक्तव्य को सापेक्ष रूप में ही प्रस्तुत करना होगा। अर्थात् उन वक्तव्यों को सशर्त ही कहा जाना चाहिए था। जैनों के अनुसार यह सापेक्षता प्रत्येक वाक्य के पहले 'स्याद्' अव्यय लगाकर प्रकट की जा सकती है। अतः यह कहने के स्थान पर कि 'गजः स्तम्भवत् एव', हमें कहना चाहिए—'स्याद् गजः स्तम्भवत् एव'।

अब तक यह स्पष्ट हो गया होगा कि अनेकांतवाद से प्रारंभ करके हम नयवाद के माध्यम से तर्क द्वारा स्याद्वाद तक पहुंच जाते हैं। यह भी स्पष्ट है कि स्याद्वाद अभिव्यक्ति की प्रक्रिया से जुड़ा होने के कारण भाषात्मक अभिव्यक्ति से संबद्ध है।

मैंने जिस प्रकार रखा है, उससे अनेकांतवाद, स्याद्वाद और नयवाद का परस्पर भेद बिल्कुल स्पष्ट है और उनका पारस्परिक तार्किक संबंध भी स्पष्ट है।

आचार्य हेमचंद्र जैसे मौलिक जैन चिंतक **'सिद्ध हेम शब्दानुशासन'** में कहते हैं—स्यादित्यव्ययं अनेकांतद्योतकं ततः स्याद्वादः अनेकांतवादः। पंडित एस.सी. न्यायाचार्य ने भी अपने जैन संबंधी ग्रंथ (पृ. 5) में इसी मत का समर्थन किया है। वे बहुत बलपूर्वक कहते हैं कि स्याद्वाद और अनेकांतवाद एक ही वस्तु को अभिव्यक्त करने के दो प्रकार हैं, किंतु अन्य अनेक जैन पंडितों के आधिकारिक और मूल लेखों के समुचित उद्धरणों से यह सिद्ध किया जा सकता है कि जो भेद हमने दिखाया है वह सही है।

हमने जो सत्तापरक, तर्कपरक और ज्ञानपरक—त्रिविध विभाग किया है उसके समर्थन में कुछ प्रमाण विचारणीय हैं। कुछ उद्धरण नीचे दिए जाते हैं—

(क) एकत्र वस्तुनि एकैकधर्मपर्यानुयोगवशादविरोधेन व्यास्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभंगीति।

(प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार)

(ख) एकस्मिन् वस्तुनि एकैकधर्मपर्यनुयोगवशात् अविरोधेन व्यास्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कित सप्तधा वाक्प्रयोगः सप्तभंगी।

(जैनतर्कभाषा)

(ग) स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयोविशेषकः इति।

(आप्तमीमांसा)

(घ) स्याद्वादोऽर्थप्रकरणादिनां घटादिशब्दार्थविशेष-स्थापना हेतूनामानुकूलः कुतः? सर्वथा एकान्तत्यागात्, तेषां अर्थप्रकरणादिनां प्रतिकूलस्य एकान्तस्य त्यागात्।

(आप्तमीमांसा वृत्तिः)

(च) कथंचिदित्यादि किंवृत्तचिद्विधिः स्याद्वाद आपरपयायः सोऽयमनेकान्तं अभिप्रेत्य सप्तभंगनयापेक्ष स्वभावपरभावाभ्यां सदसदादि व्यावस्थां प्रतिपादयतीति।

(प्रमाण संग्रह)

(छ) स्यात् कथंचित् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया इत्यर्थः।

(जैनतर्कभाषा)

(ज) प्रमाणपरिच्छिन्नस्य अनन्तधर्मात्मकस्य वस्तुना एकदेशग्राहिणः तदितरांश अप्रतिक्षेपिनो अध्यावसायविशेषः नयः।

(प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार)



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(झ) अनन्तधर्माध्यासितवस्तुस्वरूपम् अनेकान्तः।

(सन्मति-तर्क)

ऊपर उद्धृत संदर्भों से स्पष्ट हो जाता है कि—

(1) वस्तु में सचमुच अनंत धर्म रहते हैं। यह अनेकांत का सत्तामूलक पक्ष है। (देखें क)

(2) स्याद्वाद कथंचित् का पर्यायवाची है। इसका अर्थ है—किसी दृष्टि से, किसी अपेक्षा से इसमें हम यह प्रयत्न करते हैं कि हम अनंत धर्मात्मक वस्तु के किसी एक पक्ष को ग्रहण करें (देखें ख)। यह स्याद्वाद है और यह उससे संबद्ध तार्किक पक्ष है।

(3) नय का अर्थ है कि ज्ञाता का अभिप्राय वस्तु के एक पक्ष पर अपने को केंद्रित करना है और साथ ही उसे यह बात भी नहीं भूलनी है कि उस वस्तु के दूसरे भी उतने ही महत्त्वपूर्ण पक्ष हैं। इस प्रकार नय ज्ञानात्मक पक्ष से जुड़ा है। (देखें ज)

अब हम उन समस्याओं पर अपना ध्यान केंद्रित करेंगे जो जैन अभिमत की तर्कसंगत व्याख्या करते समय हमारे सम्मुख आती हैं। जैन चिंतको का कहना है कि वस्तु में युगपत् सत्ता और असत्ता तथा नित्यता और अनित्यता दोनों रहते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है। क्योंकि हम वस्तुतः ऐसा अनुभव करते हैं। इस प्रकार वस्तु के भावाभावात्मक स्वरूप स्थापित हो जाने पर किसी प्रकार के विवाद का अवसर नहीं रह जाता। इसके समर्थन में निम्न दो वाक्य उद्धृत किए जाते हैं—कथंचित् प्रतीयमाने स्वरूपादि-अपेक्षया विवक्षितयोः सत्त्वासत्त्वयोः प्रतीयमानयोः न विरोधः।

(सप्तभंगीतरंगिणी, पृ. 83)

...इति चेदुच्यते, घटस्य घटाभावात्मकत्व सिद्धे अस्माकं विवादो विश्रान्तः।

(सप्तभंगीतरंगिणी, पृ. 85)

किंतु एक ही वस्तु में सत्त्व और असत्त्व जैसे अनंत धर्म कैसे रह सकते हैं, जो कि ऊपर से देखने में विरोधी हैं? इसके तीन उत्तर संभव हैं। पहला उत्तर यह है कि जैन चिंतकों का अभिप्राय ऐसे सापेक्ष धर्मों से है, जैसे—उसकी अपेक्षा बड़ा, उसकी अपेक्षा छोटा इत्यादि। स्पष्ट है कि किसी पदार्थ में ऐसे धर्म दूसरे की अपेक्षा ही रहते हैं। अतः कोई मनुष्य अपने पुत्र की अपेक्षा बड़ा हो सकता है और अपने पिता की अपेक्षा बड़ा नहीं भी हो सकता। ऐसा युगपत् होने पर भी संगतता की हानि नहीं होती है। विभिन्न जैन ग्रंथों में इसके समर्थन में उद्धरण मिल जाते हैं—

ननु एकस्य युगपदुभयरूपता कथं घटते इति चेत् न, यतो यथा एकस्यैव पुरुषस्य अपेक्षावशात् लघुत्वागुरुत्व-वृद्धत्वयुवत्व - पुत्रत्व - पितृत्व - गुरुत्व - शिष्यत्वादिनि परस्परविरुद्धानि अपि युगपत् अविरुद्धानि तथा सत्त्वासत्त्वादीनि अपि तस्मात् न सर्वथा भावानां विरोध घटते, कथंचित् विरोधस्तु सर्वभावेषु तुल्यः, न बाधकः।

(षड्दर्शनसमुच्चय, पृ. 260)

दूसरा संभव विकल्प यह है कि जैन दार्शनिकों के अनुसार सिद्धांत यह है कि सत्-असत् समेत सभी धर्म पूरी तरह सापेक्ष हैं, जैसे कि 'अपेक्षाकृत बड़ा' या 'अपेक्षाकृत उसके बाएं' इत्यादि।

इस प्रकार की व्याख्या के साथ समस्या यह है कि हम सत् और असत् को भी बड़े-छोटे की तरह सापेक्ष धर्म मान रहे हैं। सत् को प्रथम तो विधेय मानने में ही तार्किक समस्या है और उससे भी बड़ी समस्या यह है कि हमें सत् को भी छोटे-बड़े की तरह सापेक्ष विधेय मानना पड़ेगा।

इस कठिनाई से निकलने का एक उपाय यह है कि हम यह मान लें कि जैन चिंतकों के अनुसार सत् और असत् भी छोटे-बड़े के समान सापेक्ष धर्म ही हैं। जैन मत के अनुसार सभी धर्मों को सापेक्ष मानने के पक्ष में दो संभव हेतु दिए जा सकते हैं—

(1) कुछ जैन ग्रंथों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि और सभी धर्म अस्तित्व की स्वीकृति पर निर्भर हैं और क्योंकि अस्तित्व स्वयं सापेक्ष है, इसलिए उसके आधार पर अन्य धर्मों की सापेक्षता स्थापित हो जाती है। षड्दर्शनसमुच्चय में कहा गया है कि एक स्कंध के घटक परमाणुओं की संख्या भी प्रसंगानुसार परिवर्तनशील है। अतः सापेक्ष है।

(2) यह भी कहा जा सकता है कि 'अस्तित्व सापेक्ष है क्योंकि जब वह किसी के द्वारा जाना जाता है' तब ही उसको अस्तित्ववान कहा जा सकता है। संक्षेप में जैनों पर यह मत आरोपित किया जा सकता है कि वे मानते हैं कि वस्तु सत् इसलिए है कि वह हमें दिखाई देती है जैसा कि वार्कले ने कहा कि esse est percipi किंतु हमें यह विकल्प इसलिए स्वीकार्य नहीं है कि इसमें भाववाद अंतर्गर्भित है और जैन कट्टर भाववाद विरोधी वास्तववादी हैं।


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इसलिए हमें तीसरा विकल्प लेना होगा। इस विकल्प के अनुसार भिन्न-भिन्न अवच्छेदकों के संदर्भ में एक ही पदार्थ में एक साथ सत्-असत्, नित्य-अनित्य जैसे आपाततः विरोधी धर्म युगपद् रह सकते हैं। अवच्छेदक का कभी-कभी अर्थ किया जाता है—सीमा बनाने वाला। यहां जैन दर्शन पर नव्यन्याय का प्रभाव स्पष्ट है। इस विकल्प के अनुसार जैन चिंतक कहेंगे कि—'घटत्वेन घटः अस्ति पटत्वेन नास्ति।'

स्पष्ट है कि यह एक तुच्छ शब्दजाल का सहारा लेकर सामान्य व्यक्तियों को समझाकर उनके चिंतन पर आघात पहुंचाने का एक तरीका है जिससे आम आदमी को लगने लगे कि एक पदार्थ वस्तुतः एकसाथ 'पी' और 'नोन-पी' धर्मयुक्त होने के बावजूद भी न स्वविरोधी होता है न असत्।

इस संदर्भ में कुछ जैन ग्रंथों के प्रसंग नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

(क) अस्तित्वानस्तित्वयोः अवच्छेदक-भेदेन अर्पमानयोः विरोधाभावात्।

(सप्तभंगीतरंगिणी)

(ख) सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च।

(प्रमाणमीमांसा, पृ. 26)

(ग) स्यात् कथंचित स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया इत्यर्थः। अस्ति हि घटादिकं द्रव्यतः पार्थिवादित्वेन, न जलादित्वेन। क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकादित्वेन, न कान्यकुब्जादित्वेन।

(जैनतर्कभाषा, पृ. 22)

(घ) आपेक्षिक-धर्माणामेकत्र स्थितो विरोधो न्यायदर्शनमते न स्वीक्रियते।

(न्यायसिद्धान्तमुक्तावली प्रभाटीका, पृ. 39—दोशी द्वारा उद्धृत)

स्वाभाविक है कि नैयायिक भी, कि जिनका यह मत है कि जैन अनेकांत की इस व्याख्या से प्रसन्न होते हैं। जैसा कि पंडित एस.सी. न्यायाचार्य का कहना है, इस संबंध में गंगेश के वक्तव्य पर मथुरानाथ की टीका उल्लेखनीय है—

अथेदं वाच्यं ज्ञेयत्वादित्यादौ समवायितया वाच्यत्वाभावो घटः एव प्रसिद्धः।

(जैन दर्शन दिग्दर्शन, पृ. 8)

इसलिए मथुरानाथ का कहना है कि क्योंकि पट का घटत्व व्यधिकरण धर्म है, अतः 'घटत्वेन पटो नास्ति' कहना शब्दजाल नहीं है, अपितु महत्त्वपूर्ण है।

इस दावे के बावजूद इस प्रकार के वक्तव्य की निरर्थकता स्पष्ट है। इस निरर्थकता के अतिरिक्त इस तीसरे विकल्प में एक दूसरी भी समस्या है। स्वयं जैन चिंतक दूसरे दार्शनिकों द्वारा अनेकांत पर लगाए गए आरोपों का उत्तर देते समय जो कहते हैं, उसकी इस तृतीय विकल्प के साथ संगति नहीं बैठती। जैन चिंतकों के अपने उत्तर में यह बात निहित रहती है कि अनेकांत के विरोधी भी, चाहे अनजाने में ही, अनेकांत का अनुसरण करते हैं। उदाहरणतः न्याय, वैशेषिक और सांख्य को लिया जा सकता है। जैन अपने विरोधियों को जो उत्तर देते हैं उनमें से कुछ उत्तर नीचे दिए जाते हैं—

सांख्य की आपत्ति के विरोध में जैन का कहना है, जो आपत्ति सांख्य की तरफ से स्याद्वाद के विरुद्ध उठाई जाती है (कि दो विरोधी विधेयों का एक ही पदार्थ में बतलाना असंगत है), वह आपत्ति स्वयं सांख्य पर भी लागू होती है, क्योंकि वह प्रकृति को तीन परस्पर विरोधी गुणों का समाहार बताता है—

(अ) 'इच्छन् प्रधानं सत्त्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुम्फितं गुणैः सांख्य संख्यावतां मुख्यःनानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्।'

(वीतरागस्तोत्र —जैन दर्शन दिग्दर्शन, पृ. 6)

जैनों का कहना है कि वेदांतियों पर भी इसी प्रकार की आपत्ति आती है, क्योंकि वे आत्मा को स्वभावतः मुक्त मानते हुए भी व्यावहारिक स्थिति में उसे बद्ध मानते हैं—

(आ) 'आबद्धं परमार्थेन, बद्धं च व्यवहारतः ब्रुवाणो ब्रह्मवेदान्ती नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत्।'

(अध्यात्मोपनिषद्, पृ. 7)

स्याद्वाद पर असंगति का आरोप लगाने वाले अन्य दर्शनों की आलोचना का भी इसी प्रकार का उत्तर दिया गया है।

वस्तुतः सत्त्व, रजस् और तमस् प्रकृति के घटक तत्त्व हैं न कि केवल सापेक्ष अथवा शब्दजाल द्वारा निर्धारित किए गए धर्म। यदि जैन मत का यह दावा ठीक हो कि वस्तु में सत् और असत् उसी प्रकार रहते हैं जिस प्रकार प्रकृति में सत्त्व, रजस् और तमस् रहते हैं तो महत्त्वहीन शब्दजाल की बात अप्रासंगिक हो जाती है। जैन



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मत द्वारा वेदांती को दिए गए उत्तर में भी यही बात लागू हो जाएगी। पारमार्थिक सत्य अर्थात् ब्रह्म तथा व्यावहारिक सत्य अर्थात् जगत् के बीच केवल शाब्दिक संबंध नहीं है और इसलिए माया माननी पड़ती है और अंततोगत्वा माया और ब्रह्म के बीच उस संबंध को अनिर्वचनीय कहना पड़ता है। जैन दार्शनिकों के सामने यह समस्या है कि यदि अर्थहीन शब्दजाल वाली व्याख्या स्वीकार कर ली जाए तो ऊपर दिए गए उनके प्रत्युत्तर व्यर्थ हो जाते हैं; दूसरी ओर यदि उनके उपर्युक्त प्रत्युत्तर समीचीन हैं तो अर्थहीन शब्दजाल वाली व्याख्या छोड़नी पड़ेगी और साथ-साथ जैनियों को ऐसा कोई कार्यकारी उपाय खोजना होगा, जिससे पता चले कि यह कैसे किया जा सकता है?

हेमचंद्र के निम्न श्लोक से यह संकेत मिल सकता है कि आपाततः अर्थहीन शब्दजाल वाले दृष्टिकोण के पीछे कौन-सा गंभीर, दार्शनिक तथ्य छिपा है—

सर्वमस्ति स्वरूपेण पररूपेण नास्ति च। अन्यथा सर्वसत्त्वं स्यात् स्वरूपस्यापि असंभवः।

इसका संबंध बौद्धों के अपोहवाद से है, किंतु इसकी चर्चा हमें विषयांतर में ले जाएगी, अतः हम इसे छोड़ देते हैं।

हम यह कहना चाहते हैं कि यदि जैन मत के उपर्युक्त प्रत्युत्तर केवल शास्त्रार्थ में जीतने के लिए किए गए शाब्दिक खेल न माने जाएं और इसे गंभीरता से लिया जाए तो फिर हमें यह व्याख्या माननी होगी कि जैन मत के अनुसार सत् सहित सभी धर्म सापेक्ष हैं। अर्थात् जैन मत के अनुसार 'बाईं' और 'लघुत्तर' इत्यादि की तरह सभी धर्म सापेक्ष धर्म हैं और 'X' है 'P' जैसा वक्तव्य केवल संदर्भ-विशेष में सत्य है। चाहे 'X' का कोई भी उद्देश्य (Subject) हो और 'P' का कोई भी धर्म (Property) हो। यदि यह सत्य है तो जैन दर्शन के कुछ छिपे हुए पक्षों पर फ्यूजि तर्कशास्त्र (Fuzzy-Logic) के प्रयोग द्वारा समुचित प्रकाश पड़ने का लाभ हमें मिल सकता है, किंतु यह एक भिन्न विषय है और मैं इसे स्याद्वाद पर विशेष रूप से लिखे जाने वाले एक स्वतंत्र निबंध में चर्चित करने का विचार रखता हूं।

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि अनेकांतवाद, नयवाद और स्याद्वाद—ये सभी वक्तव्यों की सापेक्षता से जुड़े होने के कारण जैन के शब्द और अर्थ के संबंध संबंधी सिद्धांत से जुड़े हैं। यह बहुत व्यापक विषय है जिस पर अलग से विचार होना चाहिए। अभी तो जैनों के भाषा-दर्शन पर विस्तार से विचार किए बिना हम इतना ही कह सकते हैं कि जैनों के अनुसार वस्तु के संबंध में सभी संभव सापेक्ष वक्तव्य सात प्रकार के ही हो सकते हैं, न कम न ज्यादा।

इसे सप्तभंगी नय कहते हैं। सप्तभंगी नय का महत्त्व यह है कि यद्यपि नय अनंत हैं, तथापि उन सबका समावेश इन सात में से किसी एक में हो सकता है।

(क) सर्वत्रायं ध्वनिर्विधिनिषेध प्रतिषेधाव्यं स्वार्थां आभिदधानः सप्तभंगीमनुगच्छति।

(प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार)

प्रश्न होता है कि भाषा अपना अर्थ देने के बाद सात भागों में सात प्रकार से ही क्यों फैलनी चाहिए? जैन ग्रंथ इस प्रश्न का उत्तर देने में पूरी तरह अस्पष्ट हैं। अधिकतर ग्रंथ एक ही प्रकार का उत्तर यांत्रिक रूप से दोहराते रहते हैं। जैन तर्क भाषा में हमें यह उत्तर मिलता है—

(ख) इयञ्च सप्तभंगी वस्तुनि प्रति-पर्यायं सप्तविध धर्माणां। संभवात् सप्तविधोसंशयोत्थापित सप्तविध जिज्ञासामूल-सप्तविध-प्रश्नानुरोधात् उपपाद्यते।

(जैन तर्क भाषा, पृ. 22)

वादिदेवसूरि के प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार में यही उत्तर थोड़ा विस्तार से दिया गया है, किंतु कोई नया तथ्य उसमें नहीं है।

फिलहाल यह प्रश्न छोड़ दिया जाए कि जैन मत किस प्रकार अन्योन्यव्यावर्तक इन सप्तभंगों तक पहुंचे। पहले हम जैन मत के अनुसार सप्तभंगों की सूची देखें। वे इस प्रकार हैं—

1. स्याद् घटः अस्ति एव।
2. स्याद् घटः नास्ति एव।
3. स्याद् घटः अस्ति नास्ति।
4. स्याद् घटः अवक्तव्यः एव।
5. स्याद् घटः अवक्तव्यः अस्ति च।
6. स्याद् घटः अवक्तव्य नास्ति च।
7. स्याद् घटः अवक्तव्य अस्ति नास्ति च।

जैसा कि प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार और जैन तर्क भाषा के देखने से पता नहीं चलता है कि यह विकल्प संख्या सात ही क्यों है? और इनसे कम या अधिक विकल्प


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्यों नहीं हो सकते—यह भी बिल्कुल स्पष्ट नहीं है। यह भी पता नहीं चलता, ये सात विकल्प अन्योन्यव्यावर्तक किस प्रकार हैं और इनकी अपेक्षा कम विकल्प क्यों नहीं हो सकते?

(जैन तर्क भाषा-21; प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार-IV, 14-21)

इस स्थिति से बहुत परेशानी पैदा होती है कि शास्त्रों में इन सात भंगों के अन्योन्यव्यावर्तक होने का तथा सब विकल्पों का इन सात में ही समाविष्ट होने का कोई स्पष्ट और घुमाव-रहित युक्तिसंगत उत्तर नहीं दिया गया है। अतः वर्तमान समय के बी.के. मतिलाल जैसे विद्वानों ने सप्तभंगी का औचित्य सिद्ध करने के लिए हेतु दिया है। मतिलाल ने '+' का चिह्न यह बताने के लिए इस्तेमाल किया है कि 'S' में 'P' धर्म (जैसा कि अस्तित्व) रहता है। '—' का चिह्न यह बताने के लिए इस्तेमाल किया है कि 'P' का प्रतिपक्षी धर्म 'Not P' अर्थात् अनस्तित्व 'S' में रहता है। और 'O' का उपयोग यह बताने के लिए किया है कि 'S' में न 'P' (अस्तित्व) है, न 'P' का प्रतिपक्षी 'Non-P' (अर्थात् अनस्तित्व), दूसरे शब्दों में 'O' का यह अर्थ है कि 'S' में कोई भी धर्म नहीं है। गणित द्वारा इन तीन मूलभूत वाक्यों के ठीक संयोग (Combination) दिखाने संभव हैं। तीन अलग वस्तुओं से कुल सात संयोग ही बन सकते हैं क्योंकि—
$\Sigma^{3}_{r=1}\ {}^{n}C_{r}=2^{3}-1=7$

मतिलाल की यह योजना औपचारिक रूप से उत्तम है और सप्तभंगी की व्याख्या कर देती है, किंतु इसमें यह नहीं बताया गया कि 'O' जो कि अस्ति और नास्ति का संयोग है, उसे अस्ति और नास्ति के समकक्ष मूलभूत तत्त्व क्यों माना जाना चाहिए।

मैं मतिलाल की व्याख्या से भिन्न सप्तभंगी के औचित्य सिद्ध करने के लिए एक दूसरी विधि देना चाहता हूं। जो व्याख्या सप्तभंगी की संगति बैठाने के लिए मैं देना चाहता हूं, उसके लिए भाषा और भाषा के द्वारा अभिव्यक्त की जाने वाली वस्तु के पारस्परिक संबंध के बारे में जैन दृष्टि को समझना आवश्यक है। जैन दृष्टि से (1) भाषा और उसके द्वारा वाच्य वस्तु एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। (2) कोई भी वस्तु भाषा के द्वारा तभी अभिव्यक्त हो सकती है जब उसमें कोई न कोई धर्म रहता हो। 'S' के धर्म विशिष्ट होने का यह अर्थ नहीं है कि उसे भाषा में अभिव्यक्त किया ही जा सके। दूसरे शब्दों में यह संभावना सदा बनी रहती है कि किसी पदार्थ की धर्मविशिष्टता भाषा द्वारा वाच्य हो अथवा न हो। इस प्रकार 'S' के 'P' धर्म को निम्न चतुर्भंगी में अभिव्यक्त किया जा सकता है—(अ) 'S' में 'P' है, (ब) 'S' में 'P' नहीं है, (स) 'S' में 'P' है भी और 'P' नहीं भी है, (द) 'S' में न 'P' है, न 'अ-P' (Not-P) है। यदि इन चारों वाक्यों के साथ हम यह कहें कि ये चारों स्थितियां भाषा में कही भी जा सकती हैं, नहीं भी कही जा सकतीं, तो शुद्ध तर्क की दृष्टि से आठ संभावनाएं बनती हैं। किंतु ऊपर दी गई चार संभावनाओं में अंतिम भाषा द्वारा वक्तव्य है ही नहीं, इसलिए हमारे पास सात ही संभावनाएं शेष रहती हैं।

'S' जैसी वस्तु दो प्रकार से वाचिक रूप से अवक्तव्य हो सकती है—(1) यदि 'S' में कोई धर्म है ही नहीं तो ऊपर दिए गए दूसरे नियम के अनुसार उसे भाषा में कहा ही नहीं जा सकेगा अथवा, (2) 'S' भाषा में इसलिए नहीं कहा जा सकता कि, यद्यपि इसमें कुछ धर्म है तो सही, किंतु उसमें वह इस प्रकार से है कि भाषा की पकड़ में नहीं आता। एक उदाहरण द्वारा यह स्थिति स्पष्ट की जा सकती है। ब्रह्म निर्गुण है इसलिए उसे भाषा में नहीं कहा जा सकता, यह प्रथम प्रकार की अवाच्यता हुई। दूसरी प्रकार की अवाच्यता ब्रह्म और माया के बीच परस्पर संबंध की है, किंतु इस अवाच्यता का दूसरा कारण है। ऐसा नहीं है कि दोनों के बीच कोई संबंध ही नहीं है, क्योंकि माया चार बाहुयुक्त त्रिभुज की तरह सर्वथा असत् नहीं है। किंतु यह उस संबंध का स्वभाव है जो कि भाषा की अभिव्यक्ति की क्षमता से परे है। इनमें प्रथम प्रकार की अवक्तव्यता शुद्ध अवक्तव्यता है जो कि स्याद्वाद के चतुर्थ भंग 'स्यात् अवक्तव्य' में बताई गई है। जबकि सत्ता की दृष्टि से धर्मयुक्त होने पर भी अवक्तव्यता के कारण अंतिम तीन भंग उत्पन्न होते हैं, अर्थात् 'स्यात् अवक्तव्यम् च अस्ति च' इत्यादि। अब होता यह है कि एक रोचक समरूपता उत्पन्न होती है। जबकि हम 'S' के धर्मों की सांभावनिक (Modal) जटिलता को आरोह क्रम में रखते हैं, तो पहले वाच्य धर्मों को रखते हैं और फिर अवाच्य धर्मों को। सबसे सरल वक्तव्य प्रथम भंग बन जाता है—'स्यात् घटोस्ति।' दूसरा वक्तव्य बनेगा—'स्यात् घटः नास्ति।' इन दो वक्तव्यों का संयोग अधिक जटिल, तीसरा भंग बनेगा—'स्यात् घटः अस्ति च नास्ति च।' चौथा भंग अवाच्य के अंतर्गत होगा जिसमें हम किसी


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तु को निर्धर्मक होने के कारण अवाच्य कहेंगे। यह 'स्यात् अवक्तव्यम्' नाम का चौथा भंग है। इससे भी अधिक जटिल वह स्थिति है जबकि हम वस्तु को प्रथम भंग के रूप में मानते हों, किंतु फिर भी उसे कह नहीं सकते, क्योंकि वस्तु 'P'- धर्मक होने पर भी वक्तव्यता की सीमा में नहीं आती, यह पांचवां भंग है—'स्यात् घटः अस्ति च अवक्तव्यम् च'। जटिलता की दृष्टि से इसके अनंतर छठा भंग आता है—'स्यात् घटः नास्ति च अवक्तव्यम् च'। और अंत में सबसे अधिक जटिल सातवां भंग आता है जो तीसरे भंग के समान अपने से पूर्ववर्ती दो वक्तव्यों का जोड़ है। अर्थात्—'स्यात् घटः अस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च'। इस प्रकार हमें सात भंगों में पूर्ण समरूपता दिखाई देगी। प्रथम तीन भंगों के अंतिम तीन भंग मानो दर्पण में पड़ने वाले प्रतिबिंब हैं और चौथा भंग अवक्तव्यता की इन दोनों त्रैतों के बीच विभाजक रेखा है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि स्यात् अवक्तव्य नाम के चौथे भंग को सप्तभंगी के ठीक मध्य में क्यों रखा गया और इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सात ही भंग अन्योन्य-व्यावर्तक होकर समस्त विकल्पों को अपने में कैसे समाहित कर लेते हैं। यह योजना निम्न तालिका द्वारा आसानी से समझी जा सकती है—

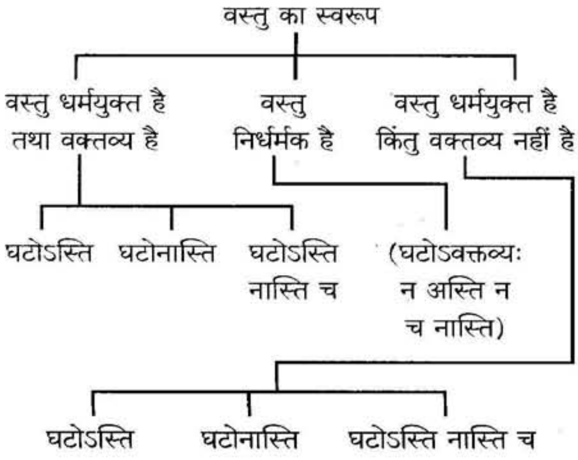


हमारे द्वारा की गई व्याख्या चाहे कितनी भी तर्कसंगत क्यों न हो, किंतु तब तक उसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता जब तक वह शास्त्रों के उद्धरणों से समर्थित न हो। यह विचित्र बात है कि स्वयं जैन दार्शनिक अवक्तव्यता की व्याख्या नहीं कर पाए और इसीलिए उनके द्वारा दी गई व्याख्या से हमारी व्याख्या मेल नहीं खाती। उदाहरणतः जैन तर्कभाषा, प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, स्याद्वादमंजरी और षट्दर्शन समुच्चय इत्यादि अवक्तव्यता की यह व्याख्या करते हैं कि 'अस्ति और नास्ति' के युगपत् अर्थात् एक साथ लागू होने से अवक्तव्यता उत्पन्न होती है।

जैन सिद्धांत के अनुसार एक शब्द एक ही धर्म को बता सकता है। अतः अस्ति और नास्ति की जटिलता को शब्द के द्वारा नहीं बताया जा सकता। इसलिए चतुर्थ भंग में जब हम अस्ति और नास्ति को एक साथ बताते हैं तो भाषा असफल हो जाती है और अवक्तव्यता फलित होती है। सामान्यतः यही स्वीकार किया जाता है और जैन दर्शन की आलोचना करने वाले वेदांती और अन्य दार्शनिक भी इसी व्याख्या को स्वीकार करते हैं। वेदांत सूत्र 2।2।33 (न एकस्मिन् नसंभवात्) पर भावदीपिका टीका में इसी मत का समर्थन है। अवक्तव्यता की इस व्याख्या में तार्किक दोष है। जिन्हें केवल स्याद्वाद पर एक निबंध लिखकर बतलाने का मेरा विचार है। बी.के. मतिलाल ने (Central Philosophy of Jainism, P. 49 में) कहा है कि शून्यवादी तृतीय विकल्पाभाव के नियम (Law of Excluded Middle) (तृ. वि. नि.) को स्वीकार नहीं करते और अवक्तव्यता की व्याख्या इसी प्रकार करते हैं, जबकि जैन अनेकांतवाद के अनुसार चौथे भंग को बनाते समय अविरोध के नियम (Law of non-contradiction) (अ.वि.नि.) को स्वीकार नहीं करते। इसका यह अर्थ हुआ कि मतिलाल भी अवक्तव्यता की वही जैन व्याख्या स्वीकार करते हैं जो सामान्यतः प्रचलित है। इस प्रकार हमारे मत के विरोध में यद्यपि बहुमत है तथापि यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि सप्तभंगी तरंगिणी जैसे ग्रंथ 'स्याद् अवक्तव्यं' को 'अस्ति नास्ति उभय विलक्षण' बतलाकर हमारे द्वारा की गई व्याख्या का सामान्यतः समर्थन करते हैं। प्रचलित मत में जो तार्किक दोष हैं, उनके रहते और इस समर्थन के बल पर यह कहा जा सकता है कि हमारे द्वारा की गई व्याख्या एक गंभीर विकल्प प्रस्तुत करती है।

एक अन्य बिंदु भी ऐसा है जिसे समझने पर हमारी व्याख्या और भी पुष्ट होती है। हमारी व्याख्या में यह भाव अंतर्निहित है कि जैनों के अनुसार एक ही समय में दो परस्पर विरोधी धर्म वस्तु में रह सकते हैं। शंकराचार्य ने इस मत को उपहासास्पद बताया है और जैन दार्शनिकों की बुद्धिमत्ता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है। हम अपना



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ध्यान इस ओर दें कि क्या सचमुच कोई वस्तु युगपत् विरोधी धर्मों से युक्त हो सकती है, जो कि सुदृढ़ वस्तुवादी वाली व्याख्या से तालमेल खा सके? इस अर्थ में हमारी स्याद्वाद की व्याख्या सुदृढ़ रूप से वस्तुवादी है। प्रश्न होता है कि क्या कोई उसका शास्त्रीय आधार है। उत्तर यह है कि शास्त्रीय आधार तो है, किंतु आश्चर्य की बात यह है कि वह सीधे-सीधे कुछ नहीं कहता है। और जब जैन दार्शनिकों पर असंगतता का आरोप लगाया जाता है तो वे अनेक टेढ़े-मेढ़े तर्क देकर उनका उत्तर देते हैं। इस कारण अनेक व्यक्तियों का कहना है कि जैन अनेकांतवाद सुदृढ़ रूप में उस अर्थ में वस्तुवादी नहीं है—जो अर्थ हम वस्तुवाद का समझते हैं। यदि ऐसा है तो स्याद्वाद की हमारी व्याख्या सुदृढ़ वस्तुवादी आधार पर टिकी होने के कारण निराधार सिद्ध हो जाती है, किंतु मेरा विचार यह है कि जैन अनेकांतवाद मूल रूप से सुदृढ़ रूप से वस्तुवादी है और जैन दार्शनिक विरोध-सहिष्णु तर्कशास्त्र (inconsistency tolerant logic) विकसित नहीं कर सकने के कारण यह नहीं समझ पाए कि जैन दर्शन की दृढ़ वस्तुवादी प्रतिबद्धता के साथ 'घटः अस्ति च नास्ति च' का तालमेल कैसे बिठा पाएं। अतः वे अनेक प्रकार के विकल्पों के बीच डोलायमान हैं। उदाहरणतः हरिभद्र के षड्दर्शन समुच्चय (पृ. 204, 223) के 55वें श्लोक पर टीका करते समय गुणरत्न ने अनंतधर्मात्मकत्व के समर्थन में कम से कम चार भिन्न-भिन्न व्याख्याएं दी हैं जिनमें सुदृढ़ वस्तुवादी व्याख्या भी शामिल है। षड्दर्शन समुच्चय (पृ. 216) में यह कहा गया है कि घट में जितने परमाणु हैं उनकी संख्या अथवा घट जितने काल रहता है उतने काल के समयों की संख्या घट के स्वधर्म हैं। इसके अनंतर स्वधर्म का यह लक्षण दिया है कि ग्राह्यस्य स्वभावभेदे च ये स्वभावाः ते स्वधर्माः। यह व्याख्या सुदृढ़ वस्तुवाद के अनुकूल है। मतिलाल का यह मत है कि जैन अविरोध के नियम का पालन नहीं करते, इससे भी यही सूचित होता है कि 'स्यात् घटः अस्ति च नास्ति च' का भंग सचमुच वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों को मानता है। के.पी. सिन्हा (1990 पृ. 9) इस संबंध में बहुत स्पष्ट हैं कि अनेकांतवाद की दृढ़ वस्तुवादी व्याख्या ही सम्यक् है। वे कहते हैं—'अनेकांतवाद के अनुसार वस्तु में अनेक धर्म हैं जो परस्पर विरोधी भी हैं।'

यह मान लेने पर कि दृढ़ वस्तुवादी व्याख्या संभव भी है और शास्त्रसम्मत भी है, यह कहना होगा कि जैन मत मानता है कि किसी वस्तु में 'P' या 'अ-P' अथवा दोनों एक साथ रह सकते हैं। ये तीनों स्थितियां वक्तव्य हो सकती हैं या अवक्तव्य हो सकती हैं और इस प्रकार सात भंग बन जाएंगे जो कि अवक्तव्य के पहले-पीछे तीन-तीन के जोड़ों में रहेंगे। इस निबंध में जो दृष्टि हमने अपनाई है वह यह है कि अवक्तव्य का अवसर तब होता है जब वस्तु में न 'P' धर्म रहे न 'अ-P' धर्म रहे। इसका यह अर्थ होगा कि जैन मत के लिए अविरोध का नियम भी उतना ही अमान्य है जितना तृतीय विकल्पाभाव का नियम। इसकी पुष्टि सप्तभंगी तरंगिणी के आधार पर मैं पहले ही कर चुका हूं। यद्यपि बी.के. मतिलाल इससे सहमत नहीं हैं। (तुलनीय—'जैन दर्शन में यह संभावना के रूप में भी स्वीकार नहीं किया गया है कि पदार्थ न 'A' है और न 'अ-A'—Central Philosophy of Jainism, P. 49)

यदि हम इस तर्कशास्त्रीय बिंदु की उपेक्षा भी करदें तो भी हमें एक और गंभीर समस्या का समाधान खोजना होगा—जैसा कि मतिलाल ने कहा है—संजय, नागार्जुन आदि बौद्ध दार्शनिक तृतीय विकल्प के सिद्धांत के विरुद्ध जाते हैं और जैन अविरोध के सिद्धांत का उल्लंघन करते हैं, परंतु यह पार्थक्य जैन मत और बौद्ध मत के बीच भेद को स्पष्ट करता है तो इसका यह अर्थ हुआ कि अविरोध के नियम का उल्लंघन एवं तृतीय विकल्पाभाव के नियम का उल्लंघन—इन दोनों के बीच तार्किक निरपेक्षता विद्यमान है। इसके लिए हमें कोई दूसरे तर्क-प्रस्थान का आधार लेना पड़ेगा, क्योंकि द्विपक्षीय तर्क-प्रस्थान के अंतर्गत तार्किक नियम के रूप में देखा जाए तो तृतीय विकल्पाभाव का नियम और अविरोध का नियम एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसके अतिरिक्त यदि मतिलाल का अनुकरण करते हुए हम नागार्जुन के मत को प्रसज्य-प्रतिषेध अर्थात् निराधार निषेध का समर्थक मान लें अर्थात् वे किसी भी प्रकार के अस्तित्व की प्राक्-कल्पना किए बिना निषेध करते हैं—ऐसा मानलें, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि वे तृतीय विकल्पाभाव के नियम और अविरोध के नियम—दोनों का ही उल्लंघन करते हैं, न कि केवल तृतीय विकल्पाभाव के नियम का—जैसी कि मतिलाल की मान्यता है। यहां पर मतिलाल कठिनाई में फंस गए हैं जिसका कि वे मुश्किल से सामना कर पाते हैं। क्योंकि जे. एफ. स्टाल (1975 पृ. 38) ने उनके विरुद्ध समालोचना करते हुए कहा है कि—'वे (मतिलाल) स्पष्ट रूप से एक ओर अविरोध के नियम और दूसरी ओर तृतीय विकल्पाभाव के नियम तथा दुहरे (अर्थात् निषेध का निषेध) निषेध के नियम के बीच भेद



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं कर पा रहे।' मतिलाल का कहना है कि बौद्ध चतुष्कोटि को असंगत होने से बचा सकते हैं यदि 'वे अप्रतिबद्धता रखते हुए किसी भी दार्शनिक पक्ष को स्वीकार न करें' अर्थात् जब तक कि वे प्रसज्य-प्रतिषेधीय तर्कशास्त्र का अनुसरण करते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि अगर वे बोचवर के ($B_3$) अथवा Lukasiewicz की ($L_3$) नामक त्रिकोटिक तर्कशास्त्र को अपनाए और क्रमशः इनको यथाक्रम $B^E_3$ अथवा $L^E_3$ नामक बाह्य त्रिकोटिक तर्कशास्त्र (external three valued logic) में परिवर्द्धित करके उसमें एक बाह्य घोषक चिह्न A (external assertion sign) को भी शामिल करें तो वह बौद्ध चतुष्कोटि का तार्किक आधार बन सकता है। इसका कारण यह है कि $B^E_3$ तथा $L^E_3$ में टारसकि की T-schema लागू नहीं होती। अतः इनमें घोषकता शर्त (assert–ability condition) और धर्मारोपक शर्त (characterisability condition) एक-दूसरे से पृथक हो जाती है।

इसके अतिरिक्त '$B_3$' में और '$L_3$' में न तृतीय विकल्पाभाव का नियम लागू है, न अविरोध का नियम और इसलिए $B^E_3$ तथा $L^E_3$ अनेकांत की सुदृढ़ वस्तुवादी व्याख्या के साथ सुसंगत है। तथापि इन दोनों पद्धतियों में तृतीय विकल्पाभाव का नियम अविरोध के नियम के समान ही है। अतः इन दोनों नियमों को एक-दूसरे से इस प्रकार अलग नहीं किया जा सकता कि इनमें से एक को स्वीकार कर लिया जाए और दूसरे को स्वीकार न किया जाए। यद्यपि यदि मतिलाल के मत को मान लें तो नागार्जुन और जैन दृष्टि के बीच भेद करने के लिए ऐसा करना आवश्यक है। मतिलाल यह नहीं बता सके कि ऐसा कैसे किया जा सकता है? और यही जे.एफ. स्टाल द्वारा उनकी (मतिलाल की) विरोधी आलोचना किए जाने का मुख्य आधार है। मैंने अपने एक स्वतंत्र निबंध (1992) में यह बताया है कि तृतीय विकल्पाभाव और अविरोध के नियम में से एक को स्वीकार करके दूसरे को अस्वीकार करते हुए किस प्रकार एक तर्क प्रणाली विकसित की जा सकती है (किंतु ऐसे और इस प्रकार के दूसरे विषयों पर हम इस निबंध में चर्चा नहीं करेंगे)। इस बीच यह कहा जा सकता है कि जैन अनेकांतवाद और नागार्जुन के संशयवाद के बीच अंतर समझने का एक सरल उपाय है। मतिलाल से हम सहमत हैं कि नागार्जुन प्रसज्य-प्रतिषेध को मानते हैं, इसलिए वे चतुष्कोटि का निषेध कर सकते हैं। इसके विपरीत जैन संशयवादी नहीं है और इसलिए वह माध्यमिक के उत्तर में प्रस्तुत चार विकल्पों में से किसी का भी निषेध नहीं करता। इस प्रकार माध्यमिक और जैन के बीच का अंतर स्पष्ट हो जाता है और उसके लिए प्रसज्य-प्रतिषेध के संबंध में जैनों की दृष्टि के संबंध में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है।

एक दूसरी कठिनाई भी है; हमारी दृढ़ वस्तुवादी व्याख्या के विरुद्ध यह आपत्ति की जा सकती है कि चाहे वस्तु में परस्पर विरोधी धर्म सचमुच रहते हैं, किंतु वह सदसदात्मक नहीं हो सकती, क्योंकि सत् और असत् वस्तु के धर्म नहीं हैं। आज दर्शन में सामान्यतः सत् को विधेय नहीं माना जाता।

उत्तर में यह कहा जा सकता है कि आज के न्यायशास्त्र में अस्तित्व को विधेय इसलिए नहीं माना जाता कि किसी पदार्थ के अस्तित्व को बताना सिद्ध साधन है और उसी स्थिति में उसके अस्तित्व को नकारना विरुद्ध कथन है। दूसरे शब्दों में समस्या यह है कि '× है' और '× लाल है' इन दोनों को यदि हम एक जैसा ही समझें और लाल तथा अस्तित्व को तर्क की दृष्टि से एक ही कोटि का मानें तो एक तार्किक कठिनाई पैदा हो जाती है; किंतु यह कठिनाई आधुनिक तर्कशास्त्र की कुछ अंतर्निहित प्राक्-कल्पनाओं के कारण है न कि अस्तित्व की किसी अंतर्निहित विशेषता के कारण। मैंने कहीं यह भी बताया है कि अस्तित्व को भी बिना किसी तार्किक कठिनाई के विधेय माना जा सकता है। अतः यदि अस्तित्व को एक बार विधेय अथवा वस्तु का धर्म मानलें तो उपर्युक्त बाधा दूर हो जाती है।

एक आपत्ति फिर भी उठ सकती है कि भले ही सत् विधेय बन सकता हो, तथापि सत् और असत् दोनों युगपत् एक वस्तु में नहीं रह सकते, क्योंकि वस्तु स्वयं में असंगत नहीं हो सकती। ब्रेडले ने यही कहा था और विटगेंस्टाइन ने भी Tractatus में यही कहा था कि तर्कविरुद्ध अर्थात् जब कोई भी विषय असंगतिपूर्ण होता हो तो उसे नहीं सोचा जा सकता। हमारा उत्तर सरल है। ब्रेडले ने तत्त्व मीमांसा के आधार पर अपना पक्ष रखा है और इसलिए उसकी युक्तिसंगतता सिद्ध करनी होगी जबकि विटगेंस्टाइन का मत तत्त्वज्ञानीय नहीं है और उसका यह अर्थ नहीं है कि जिस वस्तु के संबंध में हम सोच रहे हैं, वह स्वयं में विरोधी नहीं हो सकती। विटगेंस्टाइन का कहना केवल इतना है कि यदि वस्तु अपने में विरोधी है तो हम तर्क के चश्मे से केवल उसका एक पक्ष ही एक समय में देख सकते हैं। बस इतना ही है। इसके अतिरिक्त कुछ बिंदुओं पर विचार करें—



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(1) Quanta तरंग है या कण? (2) क्या ऐसा त्रिभुज संभव है जिसके तीनों कोणों का योग दो समकोणों जितना न हो? (3) क्या ईथर है? (4) क्या $\sqrt{-1}$ है? इन प्रश्नों के उत्तर या तो सापेक्ष होंगे या गलत होंगे। जब हम ऐसे प्रश्नों पर विचार करें कि $\Delta t/2$ में इलेक्ट्रोन कहां है (जबकि $\Delta t$ वह समय है जो इलेक्ट्रोन को अपने परिमंडल से छलांग लगाने में लगता है)? तब तृतीय विकल्पाभाव के नियम और अविरोध के नियम की आवश्यकता हमारी भाषागत रूढ़ियों के कारण है न कि वस्तु के वस्तुनिष्ठ प्रकृति के कारण, यह मतवाद विचित्र नजर नहीं आता है। अथवा जब हम आज के परा-संगत (Para-Consistent) नैयायिकों द्वारा जो प्रश्न गंभीरता से उठाए जा रहे हैं (जैसा कि जो कप पृथ्वी पर गिरता है और टूट जाता है, क्या वह जिस क्षण टूटना प्रारंभ होता है उस क्षण खंडित होता है या नहीं?) उन पर विचार करें तब तृतीय विकल्पाभाव तथा अविरोध का नियम संबंधी उपर्युक्त मतवाद विचित्र नजर नहीं आता। स्वयं महावीर ने और उनके अनुगामियों ने इस प्रकार के तर्क गंभीरता से उठाए हैं कि कुछ क्षण पहले जलाई गई मोमबत्ती किसी भी अर्थ में जल चुकी या नहीं? इसका उत्तर विभज्यवाद द्वारा दिया गया है।

कहा जा सकता है कि हमारी व्याख्या समीचीन होने पर भी बहुत दूरगामी नहीं है। हमने प्रारंभ में अवश्य यह कहा है कि जैन मत सभी विधेयों को सापेक्ष मानते हैं। किंतु क्या सुदृढ़ वस्तुवादी व्याख्या के आधार पर वे निरपेक्षतावादी जैसे दिखाई नहीं देते? मेरा उत्तर यह है कि प्रथमतः सत् भी एक योजना के अंतर्गत सापेक्ष हो सकता है और इस प्रकार मेरी व्याख्या निरपेक्षवादी नहीं है, यद्यपि यह सुदृढ़ वस्तुवादी है। आज के विज्ञान के दर्शन में एक आंतरिक वस्तुवाद (internal realism) की प्रवृत्ति चल रही है, जिसमें सापेक्षता और वस्तुवाद के बीच समन्वय किया गया है। यह बड़ा व्यापक विषय है। मैं इसकी चर्चा नहीं करूंगा क्योंकि मैंने इसकी चर्चा अन्यत्र की है। यहां यह उल्लेख करना उचित होगा कि जैनों का वस्तुवादी अनेकांतवाद आंतरिक वस्तुवादी व्याख्या से सहज ही मेल खाता है।

अब हम तीन प्रश्नों पर विचार करेंगे—

(अ) क्या अनेकांतवाद से संशयवाद फलित होता है?

(ब) जैनों के अनुसार वदतो-व्याघात अथवा स्वविरोध की क्या कसौटी है?

(स) जैन मत की दृष्टि से किसी दार्शनिक विवाद में क्या दृष्टि समीचीन होगी? जबकि वह यह मानता है कि कोई भी दृष्टि सर्वथा मिथ्या नहीं है।

इसका उत्तर जो मैं देना चाह रहा हूं उसके लिए मुझे थोड़ा-सा तर्कशास्त्र का सहारा लेना पड़ेगा। जो-कुछ जैन कहते हैं, उसके आधार पर मैं पहले औपचारिक रूप से संशय और विरोध को परिभाषित करूंगा।

संशय (अनिश्चय की स्थिति) तब उत्पन्न होता है जब 'S' (ज्ञाता) इस संबंध में निश्चित न हो कि 'A' 'X-धर्मी है या 'Y-धर्मी' अर्थात् 'Xa' ठीक है या 'Ya' ठीक है। इस प्रबंध में परस्पर असहिष्णु अर्थात् व्यावर्तक विकल्प (mutually exclusive disjunction) सूचित करने के लिए मैंने 'V' चिह्न का व्यवहार किया। यह चिह्न व्यावर्तक है। 'S' इस संबंध में निश्चित नहीं है कि 'a' 'X-धर्मी है या 'Y-धर्मी' यह सूचित करने के लिए हम इस प्रकार लिखेंगे—Us(?Xa V?Ya) अब हम संशय को इस प्रकार परिभाषित करेंगे :

Us(?Xa V?Ya)=df{(s a को जागरूकतापूर्वक जानता है तथा a Q-धर्मी है) तथा (यह संभव है कि a X-धर्मी भी हो तथा Q-धर्मी भी हो) तथा (यह संभव है कि a Y-धर्मी भी हो तथा Q-धर्मी भी हो) तथा (s का विश्वास है कि a का X-धर्मी एवं Y-धर्मी दोनों होना संभव नहीं है) तथा (s के पास कोई ऐसा प्रमाण नहीं है कि वह निर्णय ले सके कि a x-धर्मी है अथवा y-धर्मी)}

प्रतीकों की भाषा में हम इस प्रकार कहेंगे :

Us(?Xa V̇Ya)={(C sa & Qa) & M (Xa & Ya) & M (Ya & Qa) & Bs (–M(Xa &Ya)) & (–EsXa & –EsYa)}

{Csa=s जागरूकतापूर्वक 'a' को जानता है; Bsp-s विश्वास करता है कि 'p' (जबकि p कोई भी तर्क वाक्य है) EsXa=s के पास प्रमाण है कि a X–धर्मी है, तथा 'M' संभावनासूचक घटक चिह्न (Modal operator sign for 'possiblity') है।}

स्याद्वाद की व्याख्या करते समय जैन (i) इस प्रश्न पर विचार नहीं करते कि क्या घट एकांततः है या नहीं? (ii) परंतु अनेकांतवाद के अनुसार वे यह मानते हैं कि Xa (घटः अस्ति) तथा Ya (घटः नास्ति) दोनों के पक्ष में प्रमाण हैं (तुलनीय यदनंतधर्मात्मकं न भवति तत्प्रमेयमपि


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

न भवति....प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन अनंतधर्मात्मकस्येव सकलस्य प्रतीतेः—षड्दर्शनसमुच्चय, पृ. 212)

इस प्रकार संशय की परिभाषा का जो अंतिम वाक्यांश अर्थात् (-EsXa & -EsYa) है वह स्याद्वाद के सापेक्ष वक्तव्य पर लागू नहीं होता, इसलिए स्याद्वाद के परंपरागत विरोधी आलोचकों की आपत्ति के बावजूद न स्याद्वाद संशयवाद है और न स्याद्वाद का नतीजा संशयवाद है।

इसी प्रकार विरोध की अवधारणा का भी जैन दृष्टि से ऐसा लक्षण दिया जा सकता है कि यह कहा जा सके कि स्याद्वाद और अनेकांतवाद संपूर्णतया सापेक्ष दृष्टि होने के बावजूद भी ऐसे वाक्यों को सत्य नहीं मानते कि 'वन्ध्यापुत्रः धनुर्धरः'। इस विषय में विस्तार से जाने के लिए हमें परस्पर संबद्ध ऐसी अवधारणाओं को स्पष्ट करना होगा जैसे कि 'असंगत धर्म', 'विरुद्ध धर्म', 'परस्पर विरोधी वचन', 'रूढ़ विरोधी वचन', 'रूढ़स्वविरोधीवचन' इत्यादि।

अब हम तीसरे प्रश्न को लें। जैनों का कहना है कि विरोधियों के दार्शनिक सिद्धांत वस्तुतः उनकी दृष्टि के विरुद्ध नहीं हैं। तब प्रश्न यह होता है कि अजैनों के साथ जैन दार्शनिकों का विवाद करना किस प्रकार सार्थक है? किंतु जैन ऐसे शास्त्रार्थ विवाद करते हैं। इससे क्या समझा जाए? एक सरल-सा उत्तर यह है कि जैन और उनके विरोधियों के बीच वस्तुस्वरूप की दृष्टि से सचमुच कोई महत्त्वपूर्ण दार्शनिक मतभेद नहीं है। वास्तविक मतभेद इस दृष्टि का है कि हम एकांत दृष्टि को अपनाएं या अनेकांत दृष्टि को? अतः वस्तुतः विवाद परास्तरीय (Meta-Level) है। यह लगभग उसी प्रकार है जिस अर्थ में मोरिस लेजरोविट्ज के अनुसार ब्रेडले ने जगत की यथार्थता का निषेध किया है। वह अर्थ उससे भिन्न है जिस अर्थ में सामान्य व्यक्ति यथार्थता को समझता है। ऐसा न समझा जाए कि मैं नई व्याख्या देने के नाम पर अनुचित लाभ उठा रहा हूं और जैनों के ऊपर कोई अति-आधुनिक विचार थोप रहा हूं। क्योंकि द्वादशारनयचक्र में मल्लवादी ने मेरी ही दृष्टि का अनुसरण किया है।

हम वापस स्याद्वाद पर जाएं। यदि सभी वक्तव्य जैन के अनुसार सापेक्ष हैं तो फिर 'चोरी पाप है' अथवा 'झूठ नहीं बोलना चाहिए' जैसे नैतिक निर्णय अथवा नैतिक आदेश निरपेक्ष रूप में सत्य कैसे होंगे अथवा सार्वभौम कैसे माने जाएंगे? ये रोचक प्रश्न हैं और जैन दार्शनिकों ने इनका अपने ढंग से उत्तर देने का प्रयत्न किया है। परस्पर मतभेद होने के बावजूद ऐसा लगता है कि जैन इस संबंध में यह कहना चाहते हैं कि नैतिक आदेशों के संबंध में वक्ता (अधिकृत व्यक्ति) का अभिप्राय ही विचारणीय बिंदु है। अतः नैतिक निर्णय और आदेशों का समाज द्वारा स्वीकृत होने के कारण न उल्लंघन किया जा सकता है, न परिवर्तन और न उनकी कोई दूसरी व्याख्या संभव है। अतः एक प्रकार से ऐसे आदर्श अलंघनीय हैं।

स्याद्वाद और अनेकांतवाद के संदर्भ में और भी दूसरे अत्यंत रुचिकर दार्शनिक बिंदु हैं, किंतु थोड़े में अधिक ठूंस देने का प्रलोभन मुझे आकृष्ट कर ले, इस आशंका से मैं बिना विस्तार में गए केवल कुछ बिंदुओं का उल्लेख मात्र कर रहा हूं—

1. क्या स्याद्वाद से युक्त वक्तव्य ही सापेक्ष रूप से सत्य होता है?
2. क्या अनेकांतवाद एकांततः सत्य है अथवा नहीं?
3. जैन विद्या की विचार-सरणि में वस्तुनिष्ठ सत्य का वस्तुवादी विचार किस प्रकार समझा जाए?
4. जैनों का भाषा-दर्शन—विशेषकर उनके वाक्यों के वर्गीकरण की योजना और विभज्यवाद का सिद्धांत उपर्युक्त दार्शनिक सिद्धांतों से किस प्रकार संबद्ध है?
5. जैनों के इस कथन कि 'ज्ञान को उत्पन्न करने वाली कुछ प्रक्रियाएं न प्रमाण हैं न अप्रमाण हैं, प्रमाणात्विक तथा दर्शनशास्त्रीय क्या महत्त्व है? (तुलनीय : नया अपि न प्रमाणं न वा अप्रमाणं—जैन तर्क भाषा, पृ. 21; अपि च नाप्रमाणं प्रमाणं वा नया ज्ञानात्मकाः मताः—तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक)।

इस निबंध के लिखने में मेरा उद्देश्य यह है कि मैं स्याद्वाद और अनेकांतवाद के संबंध में अपने कुछ विचार यह प्रदर्शित करने के लिए रखूं कि जैन दर्शन में ऐसी मूल्यवान् अंतर्दृष्टियां हैं जिनको आज के संदर्भ में पुनः विश्लेषित और पुनः व्याख्यायित करने की आवश्यकता है। मैं अपने श्रम को सार्थक मानूंगा, यदि यह निबंध अधिक समर्थ विद्वानों को जैन दर्शन पर गंभीर विचार करने के लिए प्रेरित करे और मेरा अहोभाग्य होगा कि इस प्रक्रिया के चलते मेरे इस निबंध पर समीक्षात्मक शैक्षणिक प्रतिक्रिया भी मुझे प्राप्त हो। ❖



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अनेकांत दर्शन : ऊर्ध्वारोहण की साधना

प्रो. सिद्धेश्वर प्रसाद

**आदि तीर्थंकर ऋषभदेव और अंतिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर की अनुभूति के मूल के धरातल तक ऊर्ध्वारोहण की साधना ही अनेकांत दर्शन है। अतः ऊर्ध्वारोहण में जिस विवेचन से सहायता प्राप्त होती हो, जो लेखन या प्रवचन इसके लिए प्रेरित करता हो, वही अनेकांत दर्शन की प्रक्रिया है। ऊर्ध्वारोहण की इस प्रक्रिया से गुजरने पर साधक की दृष्टि की संकीर्णता, दुराग्रह, मन की चंचलता मिटने लगती हैं और वह उस स्थिति को प्राप्त होता जाता है जिसमें संपूर्णता का बोध अधिकाधिक स्पष्ट होकर केवली और सर्वज्ञता की स्थिति प्राप्त होती है। जैन दर्शन की अनुभूति की इस स्थिति को ही वैदिक दर्शन में आत्मसाक्षात्कार, ब्रह्मसाक्षात्कार, अद्वैत दर्शन कहा जाता है और इसी स्थिति को भक्तिमार्ग में महाभाव कहा जाता है। इनमें जो साम्य है वह अनुभूति के धरातल की समानता के कारण और जो भेद है वह साधक के प्रस्थान-भेद के कारण।**

पिंड में स्थित चेतना का ब्रह्मांड-चेतना से योग अध्यात्म है। समाज की नैतिकतापूर्ण व्यवस्था के स्वरूप का निर्धारण-नियमन धर्म है। पर ये दोनों धारणाएं एक-दूसरे के क्षेत्र में संचरण करती आई हैं। इसीलिए धर्म और अध्यात्म दोनों शब्दों के प्रयोग में अक्सर शिथिलता देखी जाती है।

इन दोनों के मूल तक पहुंचने की क्रांतदर्शी दृष्टि दर्शन है। अतः धर्म का भी दर्शन है, अध्यात्म का भी; इसी प्रकार से अन्य दर्शन भी हैं। इसी अर्थ में वैदिक ऋषि द्रष्टा थे, इसी अर्थ में कवि शब्द का भी प्रयोग हुआ है। पाश्चात्य परंपरा में दर्शन अध्ययन-मनन की एक पद्धति है। अतः यहां तर्क प्रधान हो जाता है, दृष्टि गौण हो जाती है। अंग्रेजी के जिस 'फिलॉसफी' शब्द के पर्याय के रूप में आज दर्शन का प्रयोग प्रचलित हो गया है वह मूल ग्रीक शब्द 'फिलॉसफिया' से निकला है जिसका अर्थ है 'ज्ञान की चाह या ज्ञान से प्रेम'।

अपने मूल रूप में भारत में दर्शन तर्काश्रित नहीं बल्कि अनुभवाश्रित है और इस रूप में वह धर्म का मूल है। जिज्ञासा की जिस व्याकुलता से दृष्टि दर्शन का रूप लेती है वही व्याकुलता मनुष्य को तदनुरूप जीवन जीने की प्रेरणा देती है। जब दर्शन दृष्टि की मानसिक भूमि से जीवन की भौतिक भूमि पर अवतरित होता है तब वही धर्म कहा जाने लगता है। इसीलिए भारतीय परंपरा में जो दर्शन धर्म के रूप में आकार ग्रहण नहीं कर सके वे न तो लोकग्राह्य हुए, न टिक सके। इस रूप में भारत की तीन मुख्य जीवन दृष्टियां, तीन दर्शन, तीन धर्म हैं—वैदिक, जैन और बौद्ध। कालक्रम में बौद्ध नवीनतम है, वैदिक प्राचीनतम और जैन लगभग उसके समकालीन, क्योंकि प्रथम जैन तीर्थंकर ऋषभदेव वैदिक युग में हुए। आश्चर्य की बात है कि आज उनके व्यक्तित्व और कृतित्व को उतना भी महत्त्व नहीं दिया जा रहा है जितना भागवत पुराण में दिया गया है। जैन दर्शन पर हाल में प्रकाशित विशालकाय ग्रंथ में प्रथम तीर्थंकर का केवल एक बार उल्लेख मिलता है। (द्रष्टव्य, पृ. 244, जैन दर्शन : एक विश्लेषण, लेखक आचार्य देवेंद्र मुनि, यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन, दिल्ली, 1997)

वैदिक वांग्मय न केवल संसार का प्राचीनतम उपलब्ध वांग्मय है बल्कि उसके बाद के हजार वर्षों में भी किसी परंपरा में ऐसा विशाल वांग्मय नहीं रचा गया। वैदिक युग न तो दर्शन की पद्धति के विकास का युग था, न धर्म के रूढ़िबद्ध रूप लेने का। वेद में वेदांत का बीज है, पर वेदांत दर्शन का नहीं; कम-से-कम वह वेदांत दर्शन तो वहां नहीं है जिसका निरूपण शंकराचार्य या राधाकृष्णन् ने किया है। इसी प्रकार से वेद में धर्म 'सत्य धर्माणं अध्वरे' (ऋ. 1.12.7.) है जो ऋत अर्थात् ब्रह्मांड-चक्र के अव्याहत नियम का द्योतक है (ऋतस्य पंथां न तरंति दुष्कृतः, ऋ. 9.73.6), न कि मनु-स्मृति या अन्य स्मृतियों के



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आवश्यक-अनावश्यक उन विधि-निषेधों का, जिनके कठोर बंधन में धर्म लगभग निष्प्राण हो गया।

भारत में भौतिकवादी दर्शन के विकास की उतनी ही संभावना और स्वतंत्रता थी जितनी अध्यात्मवादी या किसी अन्य दर्शन के लिए, यह देवीप्रसाद चटोपाध्याय (लोकायत, नई दिल्ली, 1959; इंडियन फिलॉसफी, नई दिल्ली, 1979) तथा आनंदकुमार स्वामी (बुद्ध ऐंड द गॉस्पेल आफ बुद्धिज्म, 1916; हिंदुइज्म ऐंड बुद्धिज्म, 1943) आदि से स्पष्ट है। अपने मत के मंडन और अन्य मतों के खंडन में अधुनातन दृष्टि से प्राचीन दृष्टि की तुलना करने से स्पष्ट है कि इस लंबे अंतराल के बाद भी स्थिति वैसी है। (द्रष्टव्य, कंचा इलैया, गौड ऐज पॉलिटिकल फिलासफर, साम्य, कोलकाता, 2000) इसमें जैन धर्म के अनेकांतवाद, स्याद्वाद एवं सप्तभंगी-न्याय के साथ-साथ चटोपाध्याय के इस मत को भी स्वीकार कर लिया है कि अहिंसा के संबंध में इसकी अतिवादी दृष्टि के कारण यह तत्कालीन समाज की तात्त्विक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सका जिसके कारण बुद्ध और बौद्ध धर्म-दर्शन के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया। (वही, पृ. 43) पर तत्त्व-द्रष्टा आचार्य नरेंद्रदेव ने ठीक ही लिखा है कि ब्राह्मण परंपरा और श्रमण परंपरा भारतीय लोक-जीवन में ऐसी घुल-मिल गईं कि एक ने दूसरी को कहां और कितना प्रभावित किया, आज इसका निश्चय करना कठिन है। भारतीय लोक-जीवन पर श्रमण परंपरा का कितना गहरा प्रभाव है, यह इसी से स्पष्ट है कि श्रमणों-मुनियों, योगियों-संन्यासियों-महात्माओं के प्रति जो अपार श्रद्धा है उसी के कारण गांधीजी महात्मा के रूप में सर्वमान्य हो गए। (आचार्य नरेंद्रदेव, बौद्ध धर्म-दर्शन, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना)

तत्कालीन वैदिक समाज में इतनी स्वतंत्रता थी कि ब्राह्मण और श्रमण परंपराएं समानांतर रूप से विकसित हो रही थीं। वैदिक समाज शब्द के जिस पूरे अर्थ में बहुलतावादी समाज (प्लुरल सोसायटी) था, तथाकथित लोकतंत्र और भौतिक विकास के इस युग में भी आज विश्व में कहीं नहीं है। तभी एक ओर मार्क्सवाद को एकमात्र वैज्ञानिक विचारधारा बताकर कभी सब पर थोपने की कोशिश की जाती है, कभी सभ्यताओं की टकराहट का भय दिखाकर अमेरिकी सभ्यता और विचारधारा को सारे विश्व पर थोपने का प्रयास किया जाता है। (सैम्युयेल हंटिंग्टन, क्लैश आफ सिविलाइजेशंस, 1996)

वैदिक युग में दृष्टि कितनी व्यापक थी इसका प्रमाण केवल 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति' (ऋ. 1.164.46) ही नहीं बल्कि अन्य वैदिक मंत्र भी हैं (यजु. 26.2 तथा अथ. 12.1.45)। अथर्ववेद ने तो 'नाना-धर्माणं पृथिवी यथौकसम्' और यजुर्वेद ने अपनी वाणी को ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र-देशी-विदेशी सबका समान रूप से कल्याण करने वाली कहा है। इसी के कारण तीर्थंकर ऋषभदेव और गौतम बुद्ध दोनों को चौबीस अवतारों में परिगणित किया गया है।

: 2 :

वैदिक युग के वातावरण की उदारता, व्यापकता और सत्य को उसकी पूर्णता में ग्रहण करने की दृष्टि को ध्यान में रखे बिना अनेकांत दर्शन को नहीं समझा जा सकता। कई देशी-विदेशी विद्वान अनेकांत दर्शन को संशयवाद या संदेहवाद मानने की भूल इसीलिए करते आ रहे हैं, वैसे ही जैसे वैदिक दर्शन को कुछ देशी-विदेशी विद्वान बहुदेववादी या प्रकृतिवादी या देहात्मवादी मानने की भूल कर बैठते हैं। उपनिषद-वचनों से जब ऐसी भ्रांति पैदा होने लगी तब उनमें निहित सामंजस्य की युक्तिसंगतता को प्रतिपादित करने के लिए जिस प्रकार से व्यास ने 'ब्रह्मसूत्र' की रचना की उसकी आवश्यकता वेद मंत्रों को लेकर इसलिए नहीं हुई, या होनी चाहिए, कि ईशावास्योपनिषद यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय होने के कारण वेद भी है और वेदांत भी है। लेकिन इस संपूर्ण दृष्टि से इस एकमात्र मूल वेदांत ग्रंथ का अध्ययन-मनन किया ही नहीं जाता है।

**वैदिक युग के वातावरण की उदारता, व्यापकता और सत्य को उसकी पूर्णता में ग्रहण करने की दृष्टि को ध्यान में रखे बिना अनेकांत दर्शन को नहीं समझा जा सकता। कई देशी-विदेशी विद्वान अनेकांत दर्शन को संशयवाद या संदेहवाद मानने की भूल इसीलिए करते आ रहे हैं, वैसे ही जैसे वैदिक दर्शन को कुछ देशी-विदेशी विद्वान बहुदेववादी या प्रकृतिवादी या देहात्मवादी मानने की भूल कर बैठते हैं।**

बिना सम्यक् मनन के यह कथन अनेक लोगों को नहीं रुचेगा कि वैदिक अद्वैत में अनेकांत और जैन अनेकांत में वैदिक अद्वैत अंतर्निहित हैं। इसी प्रकार से वैदिक दृष्टि में श्रमण-दृष्ट कर्मकांड का निषेध भी विद्यमान है। ऋग्वेद



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(1.164.39) के 'यस्तन्न वेद किम् ऋचा करिष्यति' की परंपरा तो वस्तुतः गीता तक चली आई है—'वेदवादरताः पार्थ' (गीता, 2.42) में जिसका संकेत-भर है उसे आगे के श्लोक में अधिक तीखे ढंग से अभिव्यक्त किया गया है—

> यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके
> तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।
> —गीता, 2.46

हां, यह अवश्य ध्यातव्य है कि गीता (8.11) में 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' भी आया है, संभवतः जिसके कारण यह परंपरा आस्तिक मानी जाती रही है। पर क्या श्रमण परंपरा को नास्तिक कहना युक्तिसंगत है? (द्रष्टव्य, पी. टी. राजू, द फिलास्फिकल ट्रैडीशन्स आफ इंडिया, 1971, पृ. 93-94) पर राजू जैसे पंडितों की बात को कितना प्रामाणिक माना जाय जो वर्धमान महावीर को ही जैन धर्म का प्रवर्तक मानते हैं! (वही, पृ. 94) और फिर महावीर-पूर्व की जैन-परंपरा का भी उल्लेख करते हैं!

भ्रांति उत्पन्न होती है आस्तिक और नास्तिक के रूढ़ अर्थ को प्रधानता देने से। पर तत्त्व-विचार के क्षेत्र में यह उचित नहीं प्रतीत होता। तत्त्व की दृष्टि से 'नास्तिको वेदनिन्दकः' के स्थान पर 'नास्तिकः सत्यहिंसकः' कहना-मानना युक्तिसंगत होगा (द्रष्टव्य : लेखक की 'ब्रह्मविज्ञानोपनिषद्', सर्व-सेवा-संघ, वाराणसी, 1982, पृ. 11)। आचार्य देवेंद्र मुनि लिखते हैं कि 'साधारणतया स्याद्वाद को ही अनेकांतवाद कह दिया जाता है, किंतु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रतीत होता है कि दोनों में प्रतिपाद्य-प्रतिपादक संबंध है। अनेकांतात्मक वस्तु को भाषा द्वारा प्रतिपादित करने वाला सिद्धांत स्याद्वाद कहलाता है। इस प्रकार स्याद्वाद श्रुत है और अनेकांत वस्तुगत तत्त्व है' (जैन दर्शन, पृ. 232)। इन्होंने तो यहां तक कह डाला है कि 'आइन्स्टीन का सापेक्ष-सिद्धांत स्याद्वाद की विचारधारा का अनुसरण करता है।' (वही. पृ. 237)

**बिना सम्यक् मनन के यह कथन अनेक लोगों को नहीं रुचेगा कि वैदिक अद्वैत में अनेकांत और जैन अनेकांत में वैदिक अद्वैत अंतर्निहित हैं। इसी प्रकार से वैदिक दृष्टि में श्रमण-दृष्ट कर्मकांड का निषेध भी विद्यमान है।**

अनेकांत दर्शन की ऐसी व्याख्याओं से उपनिषद-निरूपित ब्रह्म से इसका अंतर मिट-सा जाता है। कठोपनिषद (2.2.9-10) में कहा गया है कि एक ही अग्नि भुवन में प्रविष्ट होकर अनेक रूप ग्रहण करता है, एक ही वायु भुवन में प्रविष्ट होकर अनेक रूप ग्रहण करता है। अनेकांत दर्शन 'एक ही अग्नि' या 'एक ही वायु' न कहकर इतना भर कहेगा कि अग्नि एवं वायु के अनेक रूप हैं। इन दोनों उपनिषद-मंत्रों के अंत में कहा गया है कि संपूर्ण भूतों का एक ही अंतरात्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है। यहां सर्वभूतारात्मा का वस्तुतः ब्रह्म के रूप में प्रतिपादन किया गया है जिसे अनेकांत दर्शन में स्वीकार नहीं किया जाता। अनेकांत दर्शन आत्मा और कर्म को स्वीकार करता है; परमात्मा, वर्णाश्रम और वेद को नहीं। 'अनुत्तर योगी' में वीरेन्द्रकुमार जैन ने वैशाली के विद्रोही राजपुरुष तीर्थंकर महावीर को महर्षि रमण की तरह 'मैं कौन हूं' के रूप में प्रस्तुत करते हुए यथार्थ ऊर्ध्वारोहण को 'कैवल्य के प्रभा-मंडल में' प्रतिष्ठित किया फिर भी जैन समाज ने इसे इसलिए स्वीकार नहीं किया कि इस प्रस्तुति से वैदिक परंपरा की पौराणिक गंध निःसृत होती है (वीरेन्द्रकुमार जैन, अनुत्तर योगी, दो खंड, राधाकृष्ण, 1974, 1993)। लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है—'सांप्रदायिक जैन अपने शास्त्रों की सीमित भाषा में वर्णित किसी जैन महावीर को मेरी इस कृति में खोजेंगे, तो शायद उन्हें निराश होना पड़ेगा। (वही पहला भाग, पृ. 546)

'अनुत्तर योगी' में प्रस्तुत तीर्थंकर को अनेकांत के स्याद् के रूप में न स्वीकार करना अनेकांत दर्शन की अनेक-कोणीयता पर प्रश्न-चिह्न लगाना है जिसे सत् की अस्ति के अस्तित्व को नकारने के कारण स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस रूप में जब रूढ़ और अकादमिक दृष्टि एक हो जाती हैं तब सत्य ओझल हो जाता है और शेष रह जाता है मात्र कंकाल। फिर अनेकांत दर्शन का प्रयोजन क्या रह जाएगा? सार्थकता क्या रह जाएगी? अनेकांत दर्शन संशयवाद या संदेहवाद नहीं है, पर यह दुराग्रह या मूढ़ाग्रह भी नहीं है। पक्ष और प्रतिपक्ष के कथन में निहित सत्य की परख की शक्ति से अनेकांत दर्शन का उद्‌भव और विकास हुआ है, रूढ़ या अकादमिक पिष्टपेषण से नहीं।

रूढ़ और अकादमिक अध्ययन के रूप में, अनेकांत दर्शन के प्रसंग में; स्याद्, सप्तभंगी, निक्षेप, नय, ज्ञान, प्रमाण आदि को लेकर जो विवेचन होता आया है, उनसे


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीर्थंकरों की अनुभूति के मूल स्वरूप को ग्रहण करने में कितनी मदद मिली है? आदि तीर्थंकर ऋषभदेव और अंतिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर की अनुभूति के मूल के धरातल तक ऊर्ध्वारोहण की साधना ही अनेकांत दर्शन है। अतः ऊर्ध्वारोहण में जिस विवेचन से सहायता प्राप्त होती हो, जो लेखन या प्रवचन इसके लिए प्रेरित करता हो, वही अनेकांत दर्शन की प्रक्रिया है। ऊर्ध्वारोहण की इस प्रक्रिया से गुजरने पर साधक की दृष्टि की संकीर्णता, दुराग्रह, मन की चंचलता मिटने लगती हैं और वह उस स्थिति को प्राप्त होता जाता है जिसमें संपूर्णता का बोध अधिकाधिक स्पष्ट होकर केवली और सर्वज्ञता की स्थिति प्राप्त होती है। जैन दर्शन की अनुभूति की इस स्थिति को ही वैदिक दर्शन में आत्मसाक्षात्कार, ब्रह्मसाक्षात्कार, अद्वैत दर्शन कहा जाता है और इसी स्थिति को भक्तिमार्ग में महाभाव कहा जाता है। इनमें जो साम्य है वह अनुभूति के धरातल की समानता के कारण और जो भेद है वह साधक के प्रस्थान-भेद के कारण। तीर्थंकर ऋषभदेव और तीर्थंकर वर्धमान महावीर दोनों ने मोक्ष की प्राप्ति के लिए राज्यसुख का त्याग किया। दोनों ने मोक्ष पाया, सर्वज्ञता पाई परंतु तात्त्विक दृष्टि से एक ही बात कहने पर भी दोनों के व्यक्तित्व की भिन्नता के कारण, युग की भिन्नता के कारण, अभिव्यक्ति की भाषा-शैली भी भिन्न थी। व्याकरण की भाषा में जैसे संज्ञा के कई भेद होते हैं वैसे ही अतींद्रिय अनुभूति की इंद्रियज अभिव्यक्ति के भी अनेक रूप होते हैं। एक दृष्टि से यह अनेकांत की व्यापकता का प्रमाण है और दूसरी दृष्टि से अद्वैत-भावना की उपस्थिति का। केंद्र से परिधि की ओर गमन में अनेकांत के दर्शन होते हैं, परिधि से केंद्र की ओर गमन का पर्यवसान अद्वैत में होता है। अतः अद्वैत और अनेकांत परस्पर विरोधी नहीं बल्कि परस्पर पूरक हैं, वैसे ही जैसे सामाजिक स्तर पर ब्राह्मण और श्रमण परंपरा एक-दूसरे की पूरक रही हैं।

**आधुनिक युग में पश्चिमी परंपरा में भौतिक विज्ञान का पर्याप्त विकास हुआ है, लेकिन भौतिक विज्ञान के दर्शन का नहीं, क्योंकि वहां अनेकांत दर्शन जैसी कोई परंपरा है ही नहीं। भारतीय दार्शनिकों ने भौतिक विज्ञान के दर्शन को विकसित करने की ओर ध्यान ही नहीं दिया है। भौतिक विज्ञान के दर्शन को युक्तिसंगत रूप में विकसित करने की अनेकांत दर्शन के तर्कशास्त्र में असीम संभावनाएं हैं। प्रो. महलनवीस ने इस पर 1953 में ही, सूत्र रूप में, विचार किया था, परंतु आगे इस दिशा में कोई संतोषजनक प्रगति नहीं हो सकी।**

केवल यही सत्य है, इसमें सत्य है ही नहीं; ये दोनों दो सीमांत की अतिवादी दृष्टियां हैं। पर सत्य इन दोनों के मध्य या औसत में है, यह वैसा ही यथार्थ है जिसके कारण नदी के जल की औसत गहराई के आधार पर नदी पार करने वाला व्यक्ति बीच में ही डूब गया। इसीलिए जैनों का अनेकांत दर्शन, गीतोक्त युक्ताहारविहार दर्शन या बौद्धों का मध्यममार्ग दर्शन विवेचन की दृष्टि से सरल और युक्तिसंगत प्रतीत हो सकते हैं, परंतु साधक की जीवन-साधना में ये मार्ग उतने ऋजु नहीं होते। यदि होते तो जनक, महावीर और गौतम को इतनी लंबी अवधि तक ऐसी कठोर साधना नहीं करनी पड़ती। ऋषि, अर्हत या बुद्ध होने के सरल मार्ग की खोज अभी तक नहीं की जा सकी। सर्वज्ञता का दावा भले ही किया जाता हो पर कोई सर्वज्ञ हुआ है क्या?

अनेकांत दर्शन के प्रसंग में इधर सापेक्षतावाद/सापेक्ष्यवाद की भी चर्चा की जाने लगी है जिससे आइन्स्टीन का नाम जुड़ा हुआ है। इससे संबंधित उनका प्रसिद्ध सूत्र ($E=mc^2$) वस्तुतः अद्वैत और अनेकांत—दोनों को एक साथ प्रमाणित करता है। ऊर्जा और पदार्थ की परस्पर परिवर्तनीयता वेदांत की इस मान्यता की गणित की भाषा में वैज्ञानिक पुष्टि है कि ब्रह्म ही इस सृष्टि का निमित्त एवं उपादान कारण है, अर्थात् निमित्त और उपादान शब्द के प्रयोग में दृष्टिभेद है, तत्त्वभेद नहीं। दूसरी तरफ पदार्थ का ऊर्जा में रूपांतरण गति के कारण है और गति की धारणा सदा सापेक्ष्य ही होती है। भारतीय परंपरा में गति को काल का धर्म कहा गया है। आइन्स्टीन के सिद्धांत में इसकी स्वीकृति है। पर पाश्चात्य परंपरा में हुए भौतिक विज्ञान के विकास की दृष्टि से इसका महत्त्व यह है कि न्यूटन के तीन आयाम, जो वस्तुतः दिक् के आयाम हैं, में काल के रूप में चौथे आयाम के योग से दिक्काल समीकरण के रूप न्यूटन के (या दकार्ट के) द्वैतवाद (माइंड-मैटर) के स्थान पर इनकी तात्त्विक अभिन्नता अर्थात् अद्वैत दर्शन का मार्ग प्रशस्त हो गया। काल की एक निश्चित गति



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(प्रकाश की गति) के बिना यह तात्त्विक अभिन्नता अभिव्यक्त नहीं होती। काल की गति की सापेक्षता दिक् के द्वैत-अद्वैत स्वरूप की निर्धारक सिद्ध होती है। यहां प्रयुक्त द्वैत बहुल का बोधक है। बहुलता की इस स्थिति को देखने के असंख्य कोण हैं, सप्तभंगी के सात कोणों की चर्चा तो सामान्य बोध भर के लिए है। जब जितने जीव उतनी आत्मा के सिद्धांत को स्वीकार किया जाता है तब दृष्टि के कोण भी तो उतने ही होंगे न!

हाइजेनबर्ग ने आइन्स्टीन के इस सिद्धांत से एक ऐसा उपसिद्धांत सिद्ध किया जिसे आरंभ में स्वयं आइन्स्टीन ने अस्वीकार कर दिया, पर भारतीय परंपरा के अनेकांत दर्शन से अभ्यस्त विद्यार्थियों के लिए इसमें आश्चर्यजनक कुछ भी नहीं है। आइन्स्टीन के परस्पर परिवर्तनीयता सूत्र में ही यह सत् निहित है कि वह पदार्थ और ऊर्जा दोनों हैं; हाइजेनबर्ग ने जब कहा कि पदार्थ की लघुतम इकाई की गति की संभाव्यता अनिश्चित-निश्चित है तब इस कथन का निहितार्थ यह है कि पदार्थ की गति संभाव्य-निश्चित है, उसके ऊर्जा रूप की असंभाव्य-अनिश्चित। भारतीय जैन दर्शन की दृष्टि से यह अनेकांत दर्शन का एक कोण ही है न!

प्राचीन जैन दर्शनिकों के युग में कैमरे का आविष्कार नहीं हुआ था, नहीं तो विभिन्न कोणों से जैसे कैमरे से मुद्रा के विभिन्न फोटो लिए जाते हैं, अपने दार्शनिक सिद्धांत को बोधगम्य बनाने के लिए इस उपमा का उपयोग कर सकते हैं। आज नित नए शक्तिशाली कैमरों का आविष्कार हो रहा है, इतना ही नहीं बल्कि उपग्रहों की ऊंचाई से भी काफी साफ चित्र खींचे जा रहे हैं तथा समुद्र-तल की गहराई से भी चित्र खींचे जा रहे हैं। इन सबसे सत् के कितने कोण प्रकट हो रहे हैं! उमास्वाति, कुन्दकुन्दाचार्य, समन्तभद्र, सिद्धसेन दिवाकर, अकलंक, हेमचन्द्र आदि आचार्यों ने जिस भाषा-शैली में अनेकांत दर्शन को प्रस्तुत किया है, क्या उतने में ही अनेकांत निःशेष हो गया? क्या पं. सुखलालजी जैसे आधुनिक आचार्य के प्रतिपादन की सामंजस्यपूर्ण मौलिकता की अनदेखी की जा सकती है? भारत ही नहीं बल्कि विश्व भर के दर्शनशास्त्र की परंपरा में अनेकांत के तर्क की युक्तिसंगतता को जिस अधिकार और स्तर पर उन्होंने निरूपित किया है वह संभवतः हिंदी में ही होने के कारण उपेक्षित है।

आधुनिक युग में पश्चिमी परंपरा में भौतिक विज्ञान का पर्याप्त विकास हुआ है, लेकिन भौतिक विज्ञान के दर्शन का नहीं, क्योंकि वहां अनेकांत दर्शन जैसी कोई परंपरा है ही नहीं। भारतीय दार्शनिकों ने भौतिक विज्ञान के दर्शन को विकसित करने की ओर ध्यान ही नहीं दिया है। भौतिक विज्ञान के दर्शन को युक्तिसंगत रूप में विकसित करने की अनेकांत दर्शन के तर्कशास्त्र में असीम संभावनाएं हैं। प्रो. महलनवीस ने इस पर 1953 में ही, सूत्र रूप में, विचार किया था, परंतु आगे इस दिशा में कोई संतोषजनक प्रगति नहीं हो सकी (द्रष्टव्य : स्टडीज इन द हिस्ट्री आफ इंडियन फिलासफी, सं. देवीप्रसाद चटोपाध्याय, बागची ऐंड कं., कोलकाता, 1979, पृ. 34-51)। उन्होंने सप्तभंगी न्याय में निहित द्वंद्वात्मक तत्त्व पर जिस मौलिक दृष्टि से विचार किया है उससे हीगेल, मार्क्स और एंगेल्स के द्वंद्वात्मक दर्शन में एक नया अध्याय जुड़ने की इसलिए संभावना है कि एंगेल्स (डाय लेक्टिस आफ नेचर, मूल आलेख, 1875-76) के बाद भौतिक विज्ञान का जो विकास हुआ है उस पर इस दृष्टि से नाममात्र का विचार किया गया है। एंगेल्स ने इस पुस्तक की भूमिका में एक ओर काल के अनंत विस्तार में सतत चल रहे परिवर्तनों की ओर ध्यान आकृष्ट किया और दूसरी ओर द्रव्य (पदार्थ, मैटर) को अक्षय भी बताया है। फिर तो एंगेल्स का द्रव्य वेदांत का ब्रह्म ही ठहरता है! सन् 1875-76 के बाद के इन एक सौ पचीस वर्षों में भौतिक विज्ञान का जो अभूतपूर्व विकास हुआ है उससे प्राप्त तथ्यों पर अनेकांत दर्शन की दृष्टि से चिंतन की आज नितांत आवश्यकता है, जिसमें भारतीय स्याद्वाद और पाश्चात्य

**मानवता की विजयिनी होने की भावना से प्रेरित हुए बिना अनेकांत दर्शन के अभिनव विकास की संभावना नहीं है। विज्ञान ने ज्ञान के विद्युत्कणों को बिखेर दिया है क्योंकि वह बहिर्मुखी है और उसकी पद्धति विश्लेषणात्मक है; दर्शन अंतर्मुखी है और उसकी पद्धति संश्लेषणात्मक। चूंकि अनेकांत दर्शन यथार्थमूलक रहा है और विज्ञान की दृष्टि भी यथार्थमूलक है, इसलिए अनेकांत दर्शन की न्याय-पद्धति नए सामंजस्य और समन्वय की वर्तमान रिक्तता की पूर्ति कर सकती है।**


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विज्ञान के मंतव्यों के सामंजस्य और समन्वय से द्वंद्वात्मक दर्शन को अभिनव रूप प्राप्त हो सके। अभी तक पाश्चात्य दार्शनिक सामंजस्य और समन्वय की दृष्टि से उल्लेखनीय कार्य इसलिए नहीं कर पाए हैं कि सापेक्षतावाद, दिक्काल-समुच्चय संभाव्य निश्चितता के सिद्धांत ने उनकी संरचना-संबंधी मान्यताओं के लिए वैसी चुनौती प्रस्तुत कर दी है जैसी अद्वैत दर्शन ने वर्ण-संरचना की मान्यताओं के लिए। सत् के स्वरूप के अनुरूप यदि सामाजिक, आर्थिक, प्रशासनिक आदि की संरचना में अपेक्षित परिवर्तन सत्तासीन वर्ग को स्वीकार्य न हो तो समाज में असंतोष ही नहीं बढ़ेगा, बल्कि उसके विघटन की प्रक्रिया भी तेज हो जाएगी, जैसा कि आज विश्वव्यापी पैमाने पर दिखाई पड़ रहा है। इस भावना को ध्यान में रखकर जयशंकर प्रसाद (कामायनी, श्रद्धा सर्ग) ने लिखा है—

'शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय;
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।'

ध्यातव्य यह भी है कि मानवता की विजयिनी होने की भावना से प्रेरित हुए बिना अनेकांत दर्शन के अभिनव विकास की संभावना नहीं है। विज्ञान ने ज्ञान के विद्युत्कणों को बिखेर दिया है क्योंकि वह बहिर्मुखी है और उसकी पद्धति विश्लेषणात्मक है; दर्शन अंतर्मुखी है और उसकी पद्धति संश्लेषणात्मक। चूंकि अनेकांत दर्शन यथार्थमूलक रहा है और विज्ञान की दृष्टि भी यथार्थमूलक है, इसलिए अनेकांत दर्शन की न्याय-पद्धति नए सामंजस्य और समन्वय की वर्तमान रिक्तता की पूर्ति कर सकती है।

विज्ञान भौतिक जगत की अनंत संभावनाओं के नियमों की खोज है, अनेकांत दर्शन वैचारिक जगत की अनंत प्रतीतियों की संभावनाओं में सामंजस्य और समन्वय के सूत्र की खोज। दोनों में से किसी भी जगत की खोज अंतिम नहीं होती, हो ही नहीं सकती क्योंकि जीवन-प्रवाह अनादि और अनंत है। इसे तो परम व्योम का परम भी शायद जानता है या नहीं, इसे कौन जानता है? (ऋग्वेद, 10.129.7)

आज सामंजस्य और समन्वय की अत्यंत बृहत्तर धरातल पर आवश्यकता है, इसकी गुरुता दो ध्रुवांतों के उल्लेख मात्र से स्पष्ट हो जाएगी। आइन्स्टीन का कथन था कि दो समानांतर रेखाएं अनंत पर जाकर मिल जाती हैं। विचार के क्षेत्र में अनंत का वह बिंदु कहां है, इसकी खोज की ओर अभी तक ध्यान नहीं गया है।

ये दो द्वंद्वात्मक ध्रुवांत हैं—जैन अनेकांत दर्शन से पुष्ट अहिंसा और भौतिकतावादी विज्ञान के दर्शन से पुष्ट हिंसा। अनेकांत की अहिंसा और विज्ञान की हिंसा के सामंजस्य और समन्वय के बिना जीवमात्र का अस्तित्व आज शंका के घेरे में है। द्वंद्वात्मक वैज्ञानिक भौतिकतावादी दर्शन के आधार पर मार्क्स और एंगेल्स ने वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता और अपरिहार्यता का समर्थन किया और इस दर्शन का सहारा लिए बिना लोकतंत्र भी हिंसा की अनिवार्यता और अपरिहार्यता को मानकर चलता है। जैन स्याद्वाद का अनेकांत दर्शन जिस द्वंद्वात्मक तर्क से अहिंसा को मोक्ष के लिए अनिवार्य मानकर सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र की अवधारणा को स्वीकार करता है, उस पर सामाजिक संरचना के पुनर्गठन की दृष्टि से हिंसा की सापेक्षता में पुनर्विचार करना होगा। कारण संभवतः यह है कि विज्ञान का दर्शन मुख्यतया भौतिकी का आश्रय लेकर चलता है और जीव और जीवन पर उसी का प्रक्षेपण कर देता है, लेकिन अनेकांत दर्शन मुख्यतया जीवन-सापेक्ष है। संभवतः इसीलिए प्रथम का झुकाव हिंसा की ओर है तो द्वितीय का अहिंसा की ओर।

चार्ल्स डार्विन की 'ओरिजिन आफ स्पेसीज' (1859) के आधार पर संघर्ष और हिंसा को जीवन के लिए अनिवार्य मानकर उनका समर्थन किया जाता रहा है लेकिन अपने परिपक्व विचारों को बारह वर्षों के बाद उन्होंने जिस 'डिसेंट आफ मैन' (1871) में अभिव्यक्त किया उसका उल्लेख तक नहीं किया जाता है, क्योंकि इसमें डार्विन ने मानव-समाज के विकास के लिए पारस्परिक सहयोग, दया एवं अन्य उच्चतर मानव-मूल्यों को अनिवार्य बताते हुए कहा है कि जो व्यक्ति या राष्ट्र इन गुणों को अपनाता है वह दीर्घजीवी होता है। इन्हें अपनाने से मनुष्य का सभ्य एवं आध्यात्मिक जीव के रूप में विकास होता है।

अनेकांत दर्शन के अभिनव विकास के सामंजस्य और समन्वय के नए धरातल की ओर भी इस भावना से संकेत भर कर दिया गया है कि इसमें निहित रचनात्मक क्षमता के कारण इसकी असीम संभावनाओं के फलित होने का समय आ गया है। ❖



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अनेकांत : कुछ समस्याएं

प्रो. दयाकृष्ण

अगर हम ज्ञान की बात को छोड़कर ज्ञान के विषय की बात करें और ज्ञान के स्वरूप को उसके विषय के रूप से अनिवार्य रूप से संबंधित देखें तो शायद अनेकांत का सिद्धांत जो बात कहने की चेष्टा करता है वह अधिक समझ में आए। साधारणतः ज्ञान का विषय देश और काल में स्थित होता है और जो काल में है उसमें परिवर्तन होना स्वाभाविक है। परंतु 'ज्ञान' तो यह कहता है कि 'ऐसा है' या 'ऐसा नहीं है', और इस 'कहने' का काल की सतत परिवर्तनशीलता से कोई संबंध दिखाई नहीं देता। यही नहीं, वह तो उस सतत परिवर्तनशीलता को नकारता दिखाई देता है। उसके लिए तो ऐसा लगता है—सब कुछ चिरंतन है, स्थिर है, कहीं कोई बदलाव की गुंजाइश ही नहीं है। जो 'है' सो है, जो 'नहीं' है वह नहीं है। पर अगर काल सत्य है, तो जो 'है', उसका 'नहीं' होना अवश्यंभावी है; और इसी प्रकार शायद जो 'नहीं है' उसका 'होना'। दूसरी बात उतनी सच नहीं लगती, लेकिन अगर 'नहीं' होने को, 'होने' के संदर्भ में देखें तो शायद वह उतनी गलत नहीं लगेगी।

अनेकांत पर 'स्वतंत्र' विचार तभी हो सकता है जब उसे उसके इतिहास से 'मुक्त' किया जा सके। उसका इतिहास जैन दर्शन के इतिहास से इस तरह बंधा हुआ है कि उसकी मुक्ति की बात करना उसे उस दार्शनिक चिंतन से विच्छिन्न करना होगा जो 'जैन' दर्शन के नाम से जाना जाता है।

यह बात एक तरह से समस्त भारतीय चिंतन पर भी लागू होती है, क्योंकि सभी चिंतन की परंपरा के संप्रदाय-विशेष से अपने को बंधा मानते हैं।

इस संदर्भ में दूसरी बात जो ध्यान में रखनी है, वह यह है कि अगर किसी विचार का 'इतिहास' है, तो वह सदा एक-सा ही रहा है—यह नहीं माना जा सकता। 'अनेकांत' हो, या कुछ और, अगर उसका इतिहास है तो यह अनिवार्य रूप से मानना पड़ेगा कि 'कालक्रम' में उस पर जो विचार हुआ है उसमें अवश्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए होंगे, और अगर ऐसा है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि उसमें और भी परिवर्तन हो सकते हैं।

अनेकांत का विरोधी 'एकांत' या 'ऐकांतिक' ही हो सकता है। पर 'जो भी है' वह तो अपने आप में 'एक' ही समझा जाएगा। 'अनेक' भी 'एक-एक' के मिलने से ही बनता है और अगर ऐसा नहीं है तो फिर 'अनेक' स्वयं 'एक' का रूप ले लेगा।

'एक' और 'अनेक' का भेद स्वयं सापेक्ष है। यह बात 'अवयवी' और 'अवयव' के संबंध में साफ दिखाई देती है। अवयवी 'एक' है, अवयव अनेक और यदि थोड़ा और ध्यान दें तो क्या 'एक' है और क्या 'अनेक'—इसकी सीमा बांधना मुश्किल होगा। गणित के साधारण विद्यार्थी को भी यह पता है कि विभाजन की प्रक्रिया अनंत है और अगर ऐसा है तो फिर यह कहना कि क्या एक है और क्या अनेक, इसी बात पर निर्भर करेगा कि आप उसको किस प्रकार देख रहे हैं या किस 'संदर्भ' में या किस प्रयोजन के लिए।

गणित की बात को हम यहां आगे नहीं बढ़ाना चाहते, पर जो लोग 'एक' या 'अनेक' की चर्चा करते हैं उन्हें कम से कम इसका ध्यान रखना जरूरी है।

अनेकांत की चर्चा का दूसरा संदर्भ 'सत्य' या 'असत्य' से है और जब तक इन पर हम स्वतंत्र विचार नहीं करेंगे तब तक अनेकांत की चर्चा अधूरी ही रहेगी।

सत्य की बात करते ही जो पहला सवाल उठता है, वह यह है कि इसकी बात केवल ज्ञान के बारे में ही हो सकती है, या जो ज्ञान का विषय है—उसके बारे में भी। ज्ञान के संदर्भ में सत्य, असत्य की बात तो सभी करते हैं और अनेकांत की बात भी अधिकतर इसी संदर्भ में की जाती है। आमतौर पर करीब-करीब सभी यह मानते हैं कि कोई बात या तो 'सच' होती है या 'झूठ' और अगर वह



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सच हो तो झूठ नहीं होती है और अगर झूठ होती है तो सच नहीं। अनेकांत के दावेदार आमतौर पर इस मान्यता का खंडन करते प्रतीत होते हैं और ऐसा कहने की कोशिश करते हैं कि किसी भी बात के बारे में यह कहना कि वह 'सच' है या 'झूठ' है—एकांगी है। क्योंकि अगर हम ध्यान से देखें तो वही बात सच भी दिखेगी और झूठ भी। लेकिन स्वयं अनेकांत को मानने वाले इस बात को स्वीकार करने से कतराएंगे कि अगर उनकी यह बात ठीक है तो उनकी बात भी न तो सच कही जा सकती है, न झूठ और न दोनों ही। अपनी बात को तो वे पूर्णतः सच मानकर ही बात करते हैं और इस अंतर्विरोध को देखने से इनकार करते हैं।

यह बात एक तरह से उन सब बातों पर लागू होती है जो 'सब' बातों के बारे में बात करती हैं। लेकिन, ऐसा जरूरी नहीं है, क्योंकि जो लोग सच और झूठ के बारे में अनेकांत के सिद्धांत को नहीं अपनाते उनके लिए इस प्रकार की समस्या नहीं उठेगी।

परंतु अगर हम ज्ञान की बात को छोड़कर ज्ञान के विषय की बात करें और ज्ञान के स्वरूप को उसके विषय के रूप से अनिवार्य रूप से संबंधित देखें तो शायद अनेकांत का सिद्धांत जो बात कहने की चेष्टा करता है वह अधिक समझ में आए। साधारणतः ज्ञान का विषय देश और काल में स्थित होता है और जो काल में है उसमें परिवर्तन होना स्वाभाविक है। परंतु 'ज्ञान' तो यह कहता है कि 'ऐसा है' या 'ऐसा नहीं है', और इस 'कहने' का काल की सतत परिवर्तनशीलता से कोई संबंध दिखाई नहीं देता। यही नहीं, वह तो उस सतत परिवर्तनशीलता को नकारता दिखाई देता है। उसके लिए तो ऐसा लगता है—सब-कुछ चिरंतन है, स्थिर है, कहीं कोई बदलाव की गुंजाइश ही नहीं है। जो 'है' सो है, जो 'नहीं' है वह नहीं है। पर अगर काल सत्य है, तो जो 'है', उसका 'नहीं' होना अवश्यंभावी है; और इसी प्रकार शायद जो 'नहीं है' उसका 'होना'। दूसरी बात उतनी सच नहीं लगती, लेकिन अगर 'नहीं' होने को, 'होने' के संदर्भ में देखें तो शायद वह उतनी गलत नहीं लगेगी।

**भाव-जगत के संदर्भ में अनैकांतिकता की बात की ही नहीं गई है, लेकिन की जानी चाहिए। इसके संदर्भ में अनैकांतिकता का अर्थ क्या होगा, यह स्पष्ट नहीं है। लेकिन, अगर हम कलाकृतियों को भाव-जगत के चित्रण के रूप में देखें तो इतना तो स्पष्ट ही होगा कि इनमें परस्पर अंतर्विरोध से ग्रसित भावनाओं को एक साथ सामंजस्य में लाने की सदैव चेष्टा होती है। यहां साधारणतः वे एक-दूसरे की विरोधी न होकर, एक-दूसरे की पूरक के रूप में अनुभूत होती हैं। चाहे काव्य हो या नाट्य, चित्र हो या नृत्य, वास्तु हो या संगीत, सबमें सदैव यह सत्य दृष्टिगोचर होता है। इसको 'अनैकांतिक' कहें या ना कहें, यह अलग बात है।**

पर क्या सब चीजें या ज्ञान के सब विषय अनिवार्य रूप से देश और काल में स्थित होते हैं। 'विषय' होने का अर्थ यह नहीं होता कि वह देश या काल में हो। देश या काल में होना उसका आगंतुक गुण है, अनिवार्य गुण नहीं। दूसरी ओर, ज्ञान के लिए देश और काल में स्थित विषय का इस प्रकार वर्णन किया जा सकता है कि उसकी उनमें स्थिति इस प्रकार बताई जा सके कि वे उनके गुणों का रूप ले लें। कौन चीज कहां है और कब है, यह बताना मुश्किल बात नहीं है, हालांकि विज्ञान की प्रगति ने इन दोनों के बारे में जो समस्याएं और शंकाएं उठाई हैं, उनसे अब यह बात कम से कम उतनी स्पष्ट नहीं है, जितनी पहले थी। फिर भी किसी चीज की देश-काल में स्थिति बताना और इस तरह से उसकी सत्यता-असत्यता का उसके ज्ञान के संदर्भ में निर्धारण करना कठिन नहीं है। यही नहीं, अगर 'वस्तु' को काल-क्रम में 'घटना-प्रवाह' के रूप में देखें तब भी उसे ज्ञान में आबद्ध किया जा सकता है। भविष्य को हम उसी प्रकार ज्ञान-प्रक्रिया में पकड़ सकते हैं, जिस प्रकार वर्तमान को। यही नहीं, कार्य-कारण के नियम के द्वारा भविष्य में होने वाली घटनाएं वर्तमान में जो है, उससे इस प्रकार संबंधित देखी और दिखाई जा सकती हैं, जैसे वो वर्तमान में ही हों। इस प्रकार ज्ञान काल में दिखने वाली निरंतर परिवर्तनशीलता को नकारता भी है और उसे इस प्रकार का 'स्थायित्व' भी प्रदान करता है जैसे वह केवल आभास-मात्र हो, सत् नहीं। ज्ञान को इसीलिए 'कालातीत' कहा गया है, अर्थात् उसका काल से कोई संबंध नहीं है।

दूसरी ओर, ज्ञान के उन विषयों के बारे में, जिनका 'देश-काल' से कोई संबंध नहीं है, उस प्रकार से अनेकांतता



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की बात करने का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता जो कि उन विषयों के संदर्भ में होती है जो देश-काल में अनिवार्य रूप से अवस्थित माने जाते हैं। गणित के सिद्धांत कुछ इसी प्रकार के विषय हैं। 'दो और दो चार' होते हैं, इसके बारे में क्या अनेकांतता होगी? क्या इसके विषय में भी कोई अनेकांतवादी दार्शनिक यह कहेगा कि यह 'सत्य' भी है और 'असत्य' भी? यह ठीक है कि आज के गणितीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'दो और दो चार' की सत्यता किन्हीं पूर्व मान्यताओं पर आधारित है। लेकिन यह जो बात कही जा रही है इससे कोई खास फर्क पड़ने वाला नहीं है, क्योंकि यह आसानी से कहा जा सकता है कि यदि कोई इन पूर्व मान्यताओं को मानता है तो उसे अनिवार्य रूप से यह मानना पड़ेगा कि दो और दो चार होते हैं। तर्क-शास्त्र का मूल आधार यही है कि यदि आप यह मानते हैं, तो आपको यह भी मानना पड़ेगा। इसमें किसी प्रकार की अनैकांतिकता की संभावना दिखाई नहीं देती।

कहने का अर्थ यह है कि ज्ञान का विषय चाहे देश-काल में अनिवार्य रूप से अवस्थित हो या उनसे स्वतंत्र, उसे सदैव इस प्रकार वर्णित किया जा सकता है कि उसमें अनेकांतता की संभावना ही न रहे।

यदि यह सच है तो अनैकांतिकता की बात उस वाक्य की असंपूर्णता पर ही निर्भर होगी जो किसी सत्य का वर्णन करता है, स्वयं उस तथ्य या सत् पर नहीं, जिसका वर्णन किया जा रहा है। एक तरह से यह बात स्वयं स्याद्वाद के सिद्धांत में परिलक्षित होती है। 'स्याद्' को जोड़ने से, वाक्य के पहले 'स्याद्' लगाने से, अगर वाक्य की अनैकांतिकता समाप्त हो जाती है, तो इससे क्या यह सिद्ध नहीं होता कि 'दोष' उस वाक्य का था, जिसके द्वारा उस तथ्य का वर्णन किया जा रहा था। जैन दार्शनिक 'स्याद्' लगाकर ही अनैकांतिकता से छुट्टी पाना चाहते हैं। लेकिन उन्होंने यह नहीं सोचा कि वाक्य की अनैकांतिकता को और दूसरे तरीकों से भी हटाया जा सकता है। यही नहीं, स्याद्वाद के सिद्धांत का अर्थ सार्थक तभी हो सकता है जब उसको इस मान्यता के परिप्रेक्ष्य में देखा जाए कि जिन वाक्यों के साथ यह नहीं लगा होता, वे अपने-आप में अपूर्ण हैं और अंततोगत्वा भ्रामक हैं। वास्तव में देखा जाए तो वे वाक्य हैं ही नहीं, केवल वाक्य का आभास मात्र हैं।

स्याद्वाद को सप्तभंगी रूप में देखना जैन दार्शनिक परंपरा में सर्वमान्य है, परंतु जहां एक ओर तो यह उस अनैकांतिकता को सीमाबद्ध करने की चेष्टा है, वहीं दूसरी ओर 'अवक्तव्य' की बात करने से उस अनैकांतिकता पर स्वयं ही संदेह का चिह्न लगाती है। अनैकांतिकता को सीमाबद्ध करने का अर्थ यही है कि वास्तव में अनैकांतिकता नहीं है। अगर संभावना 'एक' है तो वह ऐकांतिक है और यदि किसी दूसरे के 'साथ' एकजुट है तो अनैकांतिक है, यह तभी माना जा सकता है जब किन्हीं दो चीजों के एक साथ होने को ऐकांतिक न कहा जाए। कमरे में कुर्सी एक हो, तो उससे वह कोई ऐकांतिक नहीं हो जाती, उसी तरह जैसे अगर कई कुर्सियां एक साथ होती हैं तो वे अनैकांतिक नहीं हो जातीं।

**अनैकांतिकता की बात भेद को प्रधान मानकर चलती है और 'भेद' सर्वत्र व्याप्त है। इस 'भेद' को भारतीय दार्शनिक परंपरा में केवल 'अद्वैत वेदांत' ने ही पूर्ण रूप से अस्वीकार किया है और अगर ऐसा है तो अनैकांतिकता अनेक रूपों में उन सब दर्शनों में मिलनी चाहिए जो अद्वैत दृष्टि को मूलतः अस्वीकार करते हैं। अनैकांतिकता का जो रूप जैन दार्शनिक परंपरा में प्रस्फुटित हुआ है, वह उसका ही एक रूप है। अनैकांतिकता पर चिंतन, गहन चिंतन तब तक नहीं हो सकता जब तक स्वयं अनैकांतिकता में अनेकता की संभावना को स्वीकार नहीं किया जाए।**

शायद, 'अनैकांतिक' कहने का अर्थ यह होता है कि वस्तु के अनेक पर्याय होते हैं। परंतु इससे उस 'एक' की 'एकता' पर आंच कैसे आती है? अगर 'एक' है ही नहीं, तो अनैकांतिकता की बात करना व्यर्थ है; और अगर एक है, तो भी।

'अवक्तव्य' की बात करना तो और भी आश्चर्यजनक है। अगर जैन दार्शनिक वास्तव में अनैकांतिकता को मानते हैं तो 'अस्ति-नास्ति' को एक साथ कहने में क्या कठिनाई प्रतीत होती है? कठिनाई का प्रतीत होना ही इस बात का सूचक है कि 'अस्ति-नास्ति' को एक ही संदर्भ में एक साथ कहने में कुछ दोष है; पर इस दोष का परिहार 'अवक्तव्य' कहने से नहीं किया जा सकता। यही नहीं, 'अवक्तव्य' को फिर 'अस्ति-नास्ति' से जोड़ने पर उनका अलग अपना कोई अर्थ ही नहीं रहता।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनैकांतिकता की चर्चा जिन वाक्यों के संदर्भ में की गई है, वे वर्णनात्मक वाक्य हैं। पता नहीं क्यों, जैन दार्शनिक परंपरा में विधि-निषेधात्मक वाक्यों के संदर्भ में इसकी चर्चा नहीं की गई। 'क्या करना चाहिए' और 'क्या नहीं करना चाहिए', क्या इसके बारे में भी अनैकांतिकता हो सकती है? व्यवहार और चरित्र के संदर्भ में अनैकांतिकता की बात साधारणतः जैनियों को ही नहीं, अन्य लोगों को भी, मान्य नहीं होती। पर मूल प्रश्न तो यह है कि क्या ज्ञान के संबंध में अनैकांतिक होने पर व्यवहार के संदर्भ में वैसा ही नहीं होना पड़ेगा? ज्ञान और कर्म में गहरा संबंध है, क्योंकि कर्म मनुष्य योनि में तो ज्ञान पर ही आश्रित होता है और अगर ज्ञान अनैकांतिक है तो कर्म को भी अनैकांतिक मानना पड़ेगा।

एक तरह से देखें तो कर्म के संदर्भ में अनैकांतिक होना अधिक आसान दिखाई देता है, क्योंकि कर्म में हमेशा विकल्प होता है। विकल्प के बिना मनुष्य के स्तर पर कर्म की बात की ही नहीं जा सकती। कर्म में हमेशा एक स्वातंत्र्य होता है, जिसका आधार यही होता है कि ऐसा भी किया जा सकता है और इससे भिन्न भी। इसको यह कहकर नकारा नहीं जा सकता कि विकल्प अच्छे-बुरे में होता है और जो अच्छा है उसको करना चाहिए, इसमें विकल्प की कोई बात सोची ही नहीं जा सकती। ऐसा सोचने की पूर्व-मान्यता यह है कि जो अच्छा है उसमें विकल्प हो ही नहीं सकता। कर्म के संदर्भ में ऐसे कई विकल्प होते हैं, जो सब अपने-आप में एक से एक 'अच्छे' प्रतीत होते हैं और इसलिए उनमें चयन मुश्किल होता है।

भाव-जगत के संदर्भ में अनैकांतिकता की बात की ही नहीं गई है, लेकिन की जानी चाहिए। इसके संदर्भ में अनैकांतिकता का अर्थ क्या होगा, यह स्पष्ट नहीं है। लेकिन, अगर हम कलाकृतियों को भाव-जगत के चित्रण के रूप में देखें तो इतना तो स्पष्ट ही होगा कि इनमें परस्पर अंतर्विरोध से ग्रसित भावनाओं को एक साथ सामंजस्य में लाने की सदैव चेष्टा होती है। यहां साधारणतः वे एक-दूसरे की विरोधी न होकर, एक-दूसरे की पूरक के रूप में अनुभूत होती हैं। चाहे काव्य हो या नाट्य, चित्र हो या नृत्य, वास्तु हो या संगीत, सबमें सदैव यह सत्य दृष्टिगोचर होता है। इसको 'अनैकांतिक' कहें या ना कहें, यह अलग बात है। परंतु इतना तो साफ ही है कि इन क्षेत्रों में परस्पर विरोधी अनुभव होने वाली भावनाएं ही मिलकर एक भाव-जगत की सृष्टि करती हैं जो उनको अपने में समाहित करके एक ऐसे भाव को उत्पन्न करती हैं जो उनको विरोध के रूप में महसूस करते हुए भी उनके आधार पर एक नए 'भाव' को अनुभूत करता है। यही नहीं, अगर उस विरोध को समाप्त कर दिया जाए या नष्ट कर दिया जाए तो वह भाव ही समाप्त नहीं हो जाएगा, बल्कि 'कृति' भी प्राणहीन या निर्जीव हो जाएगी।

यह सब ठीक होते हुए भी, आश्चर्य की बात तो यह है कि अनुभूत भाव-जगत जो कलाकृतियों से स्वतंत्र है— उसमें हम इस विरोधाभास को न सहन कर सकते हैं, न स्वीकार। वहां तो आदमी शांति चाहता है या आनंद। कला के माध्यम से, या कहें तो, कलाकृतियों पर आश्रित या उन पर अवलंबित भाव की अनुभूति, जिसको भारतीय परंपरा में 'रस' का नाम दिया गया है, 'परतंत्र' है और इसलिए मनुष्य की चेतना को अंततोगत्वा अस्वीकार है। कहां तक देखें, सुनें या अन्य इंद्रियों से उस सबको ग्रहण करें जिसकी मनुष्य ने रचना की है? इसकी थकावट की बात न कही गई है, न लिखी गई है, पर आंखें देखते-देखते थक जाती हैं और सुनते-सुनते कान पक जाते हैं। भाव-जगत में चेतना सब बाहर की वस्तुओं से स्वतंत्र होना चाहती है, अपने-आप में सहज रूप में स्थित। लेकिन यहां तो न कोई विरोध है, न व्याघात। शायद, अनैकांतिकता की बात चेतना की उस प्रवृत्ति में ही उद्भूत होती है जो बहिर्मुखी है, जो कुछ जानना चाहती है, करना चाहती है, या उनके आधार पर किसी ऐसे भाव-जगत की रचना करना चाहती है जो उसे कम से कम कुछ क्षणों के लिए सौंदर्य में अंतर्भूत प्राण आविर्भूत कर सके।

अनैकांतिकता की बात भेद को प्रधान मानकर चलती है और 'भेद' सर्वत्र व्याप्त है। इस 'भेद' को भारतीय दार्शनिक परंपरा में केवल 'अद्वैत वेदांत' ने ही पूर्ण रूप से अस्वीकार किया है और अगर ऐसा है तो अनैकांतिकता अनेक रूप में उन सब दर्शनों में मिलनी चाहिए जो अद्वैत दृष्टि को मूलतः अस्वीकार करते हैं। अनैकांतिकता का जो रूप जैन-दार्शनिक परंपरा में प्रस्फुटित हुआ है, वह उसका एक ही रूप है। अनैकांतिकता पर चिंतन, गहन चिंतन तब तक नहीं हो सकता जब तक स्वयं अनैकांतिकता में अनेकता की संभावना को स्वीकार नहीं किया जाए। यही नहीं, ऐकांतिकता क्या वास्तव में अनैकांतिकता की विरोधी है, और अगर है तो किस तरह, किन क्षेत्रों में और कहां तक? आग्रह से मुक्त चिंतन की चेष्टा तभी हो सकती है, जब हम इस प्रत्यय पर इन प्रश्नों के संदर्भ में नए सिरे से विचार करें, या कम से कम करने की कोशिश करें। ❖



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अनेकांत की व्यवहार्यता

डॉ. बच्छराज दूगड़

•

अनेकांत दृष्टि के अनुसार एक ओर विज्ञान व प्रौद्योगिकी तथा दूसरी ओर समाज—इन दोनों को नीति ही नियंत्रित कर सकती है। जो यह सोचते हैं कि प्रौद्योगिकी को बदल दें, शस्त्रों को समाप्त कर दें—तो सब-कुछ बदल जाएगा, वे यह भूल जाते हैं कि हमारा ज्ञान जो उनका निर्माण करता है, वह तो हमारे साथ ही रहेगा। प्रौद्योगिकी उदासीन है। एक प्रजाति के रूप में हमारे उद्विकास के दौरान प्रौद्योगिकी एवं चेतना में घनिष्ठ संबंध रहा है। एक हड्डी को उठाकर अस्त्र के रूप में उसके प्रयोग ने मनुष्य की चिंतन प्रक्रिया में अंतर ला दिया। हमने बहुत-से अस्त्र बनाए—जिन्होंने हमारी चेतना (हमारी सोच एवं दर्शन) और हमारी संस्कृति (दूसरों एवं पर्यावरण के साथ हमारे संबंधों के तरीकों) में अंतर ला दिया है। इस सोच पर नियंत्रण केवल निःशस्त्रीकरण, केवल प्रौद्योगिकी परिवर्तन, केवल नीति नहीं कर सकती, किंतु इनके समेकित रूप से ऐसा संभव है।

वस्तु जगत की स्थूल और सूक्ष्म दोनों अवस्थाओं को जानने की दार्शनिक प्रणाली अनेकांत है। भगवान महावीर ने कहा—'प्रत्येक धर्म को अपेक्षा से ग्रहण करो। सत्य सापेक्ष होता है, एक सत्यांश के साथ अनेक सत्यांशों को ठुकराकर सत्य को पकड़ना चाहें तो वह सत्यांश भी असत्य बन जाता है।' उन्होंने कहा—'दूसरों के प्रति ही नहीं, उनके विचारों के प्रति भी अन्याय मत करो। स्वयं को समझने के साथ-साथ दूसरों को भी समझने का प्रयत्न करो। यही अनेकांत दृष्टि है और इसी का नाम बौद्धिक अहिंसा भी है।'

जैनाचार्यों का मत है कि तत्त्व के स्वरूप का सम्यक् ज्ञान कराने के लिए ही जैन आगमों में भी प्रथमतः अनेकांतवाद की खोज की गई होगी और अनेकांतवाद के रूप में बौद्धिक अहिंसा ही प्रतिफलित हुई होगी। क्योंकि अहिंसा के सिद्धांत को जब बौद्धिक क्षेत्र में भी लागू किया गया तब इस अहिंसा ने दूसरों के विचारों का आदर करने और उनकी सहानुभूतिपूर्ण संवीक्षा (परीक्षा) करने की प्रेरणा दी। मानव की दृष्टि पदार्थ के विषय में भिन्न-भिन्न हो सकती है, क्योंकि एक ही पदार्थ के विभिन्न पहलू हैं। अन्य विचारों के प्रति आदरभाव रखकर ही वस्तु के तात्त्विक रूप को व्यावहारिक रूप में समझा जा सकता है। इस प्रकार जैन धर्म-दर्शन की अहिंसा ने जब दूसरे दर्शन के प्रति ऐसा आदरभाव रखने की प्रेरणा प्रदान की तो इसे बौद्धिक अहिंसा माना गया और इसे ही अनेकांतवाद कहा गया।

विश्व का विचार करने वाली परस्पर भिन्न दो मुख्य दृष्टियां हैं—सामान्यगामिनी और विशेषगामिनी। प्रथम दृष्टि प्रारंभ में विश्व में समानता देखती है, पर धीरे-धीरे अभेद की ओर झुकते-झुकते अंततः समस्त विश्व को एक ही मूल में देखती है और यह निश्चय करती है कि जो-कुछ प्रतीति का विषय है वह तत्त्व वास्तव में एक ही है। इस तरह समानता की प्राथमिक भूमिका से उतरकर अंत में यह दृष्टि तात्त्विक एकता की भूमिका पर ठहर जाती है। जहां यह भेदों को या तो देख ही नहीं पाती या उन्हें देखकर भी वास्तविक न समझने के कारण व्यावहारिक, अपारमार्थिक कहकर छोड़ देती है।

दूसरी दृष्टि समस्त विश्व में असमानता ही असमानता देखती है और धीरे-धीरे असमानता का मूल खोजते-खोजते अंत में वह विश्लेषण की ऐसी भूमिका पर पहुंच जाती है, जहां उसे एकता की तो बात ही क्या, समानता भी कृत्रिम मालूम होती है। फलतः इस निश्चय पर



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पहुंच जाती है कि यह विश्व एक-दूसरे से अत्यंत भिन्न भेदों का पुंज मात्र है।

उपर्युक्त आलोक में अनेकांत दृष्टि का यह फलित सामने आया कि प्रतीति अभेदगामिनी हो या भेदगामिनी— दोनों ही वास्तविक हैं। अभेद और भेद की प्रतीतियां विरोधी इसलिए जान पड़ती हैं, क्योंकि उन्हें ही पूर्ण मान लिया जाता है। वस्तु का पूर्ण स्वरूप तो ऐसा होना चाहिए जिससे विरुद्ध दिखाई देने वाली प्रतीतियां भी स्व-स्थान पर रहकर उसे अविरोधी भाव से प्रकाशित कर सकें और वे सब मिलकर वस्तु का पूर्ण स्वरूप प्रकाशित करने के कारण प्रमाण मानी जा सकें।

इस पृष्ठभूमि के साथ अनेकांत की व्यवहार्यता को तीन स्तरों पर परखना उचित होगा—

(1) वैज्ञानिक प्रगति एवं उत्तर आधुनिक काल की ओर बढ़ते मानव के लिए अंतराल-काल और सापेक्षता,

(2) सोच की शैली में विकासात्मक परिवर्तन,

(3) संघर्ष एवं संघर्ष निराकरण।

इन तीनों स्तरों पर यदि व्यक्ति व विश्व की सोच सापेक्षता की ओर बढ़ती प्रतीत होगी तो हम यह कह सकते हैं कि व्यक्ति और विश्व सापेक्षता की ओर बढ़ रहा है तथा अनेकांत व्यवहार्य होता जा रहा है और यदि व्यक्ति व विश्व की सोच निरपेक्ष चिंतन की ओर प्रवृत्त होती लगे तो हम यह कह सकेंगे कि वर्तमान में अनेकांत व्यवहार्य नहीं रहा है।

**वैज्ञानिक प्रगति, अंतराल-काल और सापेक्षता—**

गत पांच दशकों में हमने, विशेषकर पश्चिमी जगत ने विस्मयकारी प्रगति की है। अमेरिका और यूरोप ने 20वीं सदी को वैज्ञानिक उपलब्धियों की सदी सिद्ध करने में कोई कसर बाकी नहीं रखी। उपलब्धियों की चकाचौंध में हम आंतरिक रहस्यों को खोजना भूल गए। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति पर जब जापानी सेनाओं ने औपचारिक समर्पण किया था, तब 11 अगस्त, 1945 को जनरल डगलस मैक्आर्थर ने कहा था—मानव चरित्र में सुधार वैज्ञानिक प्रगति को नियंत्रित कर सकता है। यदि हम अपना अस्तित्व बचाए रखना चाहते हैं तो यही एकमात्र हमारी प्रेरणा होगी। डगलस ने चेतावनी देते हुए कहा था—

'Our long term security is not so much a question of comparative military hardware as it is an evolutionary shift of mind.'

हम चांद-सितारों की यात्रा कर सकते हैं, किंतु अभी भी हमने एक-दूसरे के साथ एवं प्रकृति के साथ सामंजस्य-पूर्वक रहना नहीं सीखा। हमने परस्पर आदर और जीवन के प्रति सम्मान की क्षमता का विकास नहीं किया। जनरल उमर ब्रेडले ने ठीक ही कहा था—

'We have grasped the mystery of the atom and rejected the sermon on the mount. Ours is a world of nuclear giants and ethical infants.'

अनेकांत दृष्टि के अनुसार एक ओर विज्ञान व प्रौद्योगिकी तथा दूसरी ओर समाज—इन दोनों को नीति ही नियंत्रित कर सकती है। जो यह सोचते हैं कि प्रौद्योगिकी को बदल दें, शस्त्रों को समाप्त कर दें—तो सब-कुछ बदल जाएगा, वे यह भूल जाते हैं कि हमारा ज्ञान जो उनका निर्माण करता है, वह तो हमारे साथ ही रहेगा। प्रौद्योगिकी उदासीन है। एक प्रजाति के रूप में हमारे उद्विकास के दौरान प्रौद्योगिकी एवं चेतना में घनिष्ठ संबंध रहा है। एक हड्डी को उठाकर अस्त्र के रूप में उसके प्रयोग ने मनुष्य की चिंतन प्रक्रिया में अंतर ला दिया। हमने बहुत-से अस्त्र बनाए— जिन्होंने हमारी चेतना (हमारी सोच एवं दर्शन) और हमारी संस्कृति (दूसरों एवं पर्यावरण के साथ हमारे संबंधों के तरीकों) में अंतर ला दिया है। इस सोच पर नियंत्रण केवल निःशस्त्रीकरण, केवल प्रौद्योगिकी परिवर्तन, केवल नीति नहीं कर सकती, किंतु इनके समेकित रूप से ऐसा संभव है।

**निश्चित ही हमें परिवर्तन की आवश्यकता है। अपने साथ, एक-दूसरे के साथ, राष्ट्रों के साथ और यहां तक कि पूरे पृथ्वी ग्रह के साथ हमारे मूलभूत संबंधों में परिवर्तन की आवश्यकता है। हम एक-दूसरे के दृष्टिकोणों की सापेक्षता एवं एक-दूसरे के साथ रहने की सापेक्षता को समझें। वैश्विक अंतर्निर्भरता के लिए हमारी आवश्यकता और यहां तक कि हमारी बाध्यता को समझें—तो ही भविष्य की जिम्मेदारी ली जा सकती है। सापेक्ष सोच एवं सापेक्ष जीवन का यह परिवर्तन व्यक्ति से प्रारंभ होना चाहिए, क्योंकि चेतना व्यक्ति में है, राष्ट्र में नहीं।**



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वैज्ञानिक प्रगति एवं 21वीं सदी में प्रवेश के बावजूद प्रभुत्व रखने वाली हमारी विश्वदृष्टि अभी भी 19वीं सदी के मॉडल पर आधारित है, जिसके अनुसार मनुष्य प्रकृति से भिन्न है, प्रकृति यंत्रवत् है। प्रकृति के असीमित संसाधन हमारे हैं और हमारी इच्छानुसार भोग्य हैं। हम प्रकृति के अंग नहीं हैं। जब हम स्वयं के तुच्छ स्वार्थों या एकांगी दृष्टि से सोचते हैं तो हम व्यापक हितों एवं अंतर्निर्भरता की हमारी पहचान को नकारते हैं। अंतर्निर्भरता के इस अज्ञान के कारण हम स्वयं को अकेला एवं खंडित पाते हैं जो हममें भय पैदा करता है—विशेषकर क्षति का भय। भय लोभ पैदा करता है कि कुछ भी हमारे लिए पर्याप्त नहीं है और लोभ दूसरों पर अधिकार की सोच पैदा करता है। क्षुद्र स्वार्थ, दूसरे शब्दों में एकांगी दृष्टि—यह सोच पैदा करती है कि मैं केंद्र में हूं और दूसरे सभी मेरे हितों की पूर्ति के लिए हैं। हम, हमारी जाति, हमारा राष्ट्र केंद्र में हैं तथा दूसरे—यहां तक कि प्रकृति भी हमारी आवश्यकता-पूर्ति का साधन है। यह निरपेक्ष मन की सोच है जो अपने समूह, जाति, राष्ट्र, विचारधारा को ही अंतिम सत्य मान लेती है। निरपेक्ष मन विश्व को 'हमारा' और 'उनका' में बांट देता है। निरपेक्ष मन केवल अपनी शर्तों पर ही सह-अस्तित्व स्वीकार कर सकता है। उसके सभी तर्क, परंपरा, विचार, धर्मग्रंथ केवल दूसरों को मिटाने तक सीमित हो जाते हैं। यही निरपेक्ष मन जब समूहगत हो जाता है तो निरंकुशवादी शासन में बदल जाता है, जहां समानता व न्याय को स्थान नहीं मिलता।

वर्तमान सदी में हम पुराने मूल्यों और विश्वास तथा नए मूल्यों और बुद्धिमत्ता के बीच जी रहे हैं। पुराने दृष्टिकोणों एवं इस शताब्दी की उभरती वास्तविकताओं के एक महान अंतराल के बीच हम जी रहे हैं। भविष्यदर्शी विलियम इरविन थोम्पसन लिखते हैं—

'We live in a culture that we do not see. we do not live in industrial civilization, we live in planetization. what we see is really the past; what we envision as the future is already the present.'

अभी हम पूर्णरूपेण नहीं जानते कि क्या उभर रहा है, क्योंकि अभी भी हम औद्योगिक युग और उस काल की संस्थाओं और विश्वासों के बीच जी रहे हैं—जो हमारे दृष्टिकोण को बनाती हैं। हर उभरता युग, पूर्व युग के विश्वासों का स्थान लेता है। किंतु उसकी अनुभूति बहुत बाद में आंकी जाती है। वैसे ही हमारी वर्तमान विश्वदृष्टि कम आंकी जा रही है। विज्ञान सभी वस्तुओं के पर्यावरण की व्याख्या कर चुका है, इसलिए हमारा यह मत बदल रहा है कि प्रकृति मात्र यंत्र है और मनुष्य उससे अलग है। 'इलेक्ट्रोनिक लिंकेज' से भौतिक दूरियां पाटी जा चुकी हैं। किंतु सचाई फिर भी यह है कि आधुनिक संस्कृति इन महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों को ग्रहण नहीं कर पा रही है। इसलिए यह एक अंतराल-काल है।

इसी के साथ परस्पर व्यवहार के सभी स्तरों पर खंडित मन भी परिलक्षित होता है। इस खंडित मन ने मानव-अंतर्क्रियाओं का एक प्रतिद्वंद्वी 'मॉडल' पैदा किया है—It is me against you. यूनेस्को के संविधान में यह लिखा गया है—At the root of our destructive conflicts is this divided or warring mind.

खंडित मन के साथ ही अल्पकालिक हितों, संकीर्ण मानसिकता, विभाजन की कूटनीति पर आधारित राजनीति हमें वहां नहीं जाने देती जहां हम जाना चाहते हैं। अब्राहम लिंकन ने कहा था—A house divided against itself cannot stand. राजनीतिक स्तर पर यह अवरुद्धता इसलिए है, क्योंकि अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति करने वाले समूह राजनीतिक प्रक्रिया पर अपना आधिपत्य रखते हैं। वे संपूर्ण राजनीतिक प्रक्रिया की आवश्यकता को महसूस नहीं करते। ऐसे लोगों के अनुसार राजनीतिक विचार-विमर्श विपरीत और विभाजक हैं। चुनाव के समय सभी अल्पकालीन जीत के लिए लड़ते हैं। कोई भी यह नहीं सोचता कि कैसे विभिन्न मतों वाले व्यक्ति एक 'कॉमन' (साझा) लक्ष्य के लिए एक साथ कार्य कर सकते हैं।

ऐसे समय में हमारा लक्ष्य विभाजित मन को समेकित करना एवं समान लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए एक साथ कार्य करने के साधनों को विकसित करना होना चाहिए, जिससे शांति का विकास हो सके तथा नीतियों के निर्माण में विरोध प्रतीत होने वाले दृष्टिकोणों का समावेश हो सके।

### सोच की शैली में विकासात्मक परिवर्तन

अल्बर्ट आइन्स्टीन ने कहा था—The world we have made as a result of thinking we have done so far creates problems that cannot be solved at the same level at which we created them .... we shall require a substantially new manner of thinking if mankind is to survive.


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निश्चित ही हमें परिवर्तन की आवश्यकता है। अपने साथ, एक-दूसरे के साथ, राष्ट्रों के साथ और यहां तक कि पूरे पृथ्वी ग्रह के साथ हमारे मूलभूत संबंधों में परिवर्तन की आवश्यकता है। हम एक-दूसरे के दृष्टिकोणों की सापेक्षता एवं एक-दूसरे के साथ रहने की सापेक्षता को समझें। वैश्विक अंतर्निर्भरता के लिए हमारी आवश्यकता और यहां तक कि हमारी बाध्यता को समझें—तो ही भविष्य की जिम्मेदारी ली जा सकती है। सापेक्ष सोच एवं सापेक्ष जीवन का यह परिवर्तन व्यक्ति से प्रारंभ होना चाहिए, क्योंकि चेतना व्यक्ति में है, राष्ट्र में नहीं। प्रथम परमाणु विस्फोट के समय काले घने गुबार को उठते देखकर बम के जनक रोबर्ट ओपनहीमर ने ऋग्वेद के एक वाक्य को याद करते हुए कहा था—I have become death-destroyer of the world. बाद में जब आइन्स्टीन को इस पर टिप्पणी करने के लिए कहा गया तो आइन्स्टीन ने कहा था—'Now all men have become brothers.' दोनों दृष्टिकोण सही थे, किंतु सोच में, परिस्थिति-काल-सापेक्ष चिंतन में परिवर्तन आवश्यक था—जो आइन्स्टीन की टिप्पणी में स्पष्ट झलकता है।

हेनरी फोर्ड ने लिखा है—Those who believe they can do something, and those who believe they can't, are both right.

यहां हमें व्यक्ति के आत्मसंकल्प पर दृष्टिपात करना होगा। हमारा ध्येय ही हमारी दिशा है और यही एक लक्ष्य प्राप्ति के लिए आवश्यक प्रक्रिया को शुरू करने का दृढ़ निश्चय है। इसलिए हम यह कह सकते हैं—

अभिप्राय (इरादा)=लक्ष्य+दृढ़ निश्चय

हम प्रायः दूसरों के शब्दों को सुनते हैं, उस भाव या उस उद्देश्य को नहीं समझते जो उन शब्दों के पीछे है। हम हमारी संचार क्षमता या चेतनापूर्ण कार्य करने की पूर्ण क्षमता का उपयोग नहीं करते। इसीलिए अधिकांश विवाद जन्म लेते हैं। संचार के तीन चरण हो सकते हैं—

1. प्रसंग (विषयवस्तु), 2. प्रक्रिया, 3. अभिप्राय।

हम क्या कहते हैं या हम क्या करते हैं—यह प्रसंग (Content) है, यह हमारे शब्दों या कार्यों का शाब्दिक संदेश (Literal Message) है। हम कैसे कहते हैं या करते हैं—यह प्रक्रिया है, जो अभिप्राय (Intention) का साधन है।

हम क्यों कहते हैं या करते हैं—यह अभिप्राय (Intention) है। किसी शब्द या कार्य के पीछे मूल भावना, उसकी प्रेरणा और उसकी दिशा का यह द्योतक है।

हम संचार के इन तीन चरणों पर ध्यान नहीं देते तथा संचार और सचेतन कार्य की हमारी क्षमता को कमजोर बना देते हैं। वस्तुतः ये तीनों एक-दूसरे से जुड़े 'गीयर' हैं।

हम केवल प्रसंग देखते हैं, उसके पीछे प्रक्रिया और अभिप्राय को नहीं देखते। तीनों पर समान बल आवश्यक है, यदि हम सत्य तक पहुंचना चाहते हैं। दर्शनाचार्यों ने वस्तु के दो रूपों का वर्णन किया है—अवाच्य और वाच्य। अवाच्य का एक सूक्ष्म अंश वाच्य होता है और वाच्य का अनंतवां भाग वाणी का विषय बनता है। इसलिए केवल अभिव्यक्त सत्यांश अर्थात् विषयवस्तु को ही पूर्ण सत्य नहीं समझें।

**द्रष्टा आत्मा का सिद्धांत**

मनुष्य केवल अपने जीवन की प्रक्रिया मात्र नहीं है और न ही वह अपने शब्दों, विचारों व कृत्यों की विषय-वस्तु (Content) है। मनुष्य अपने विचारों, यहां तक कि अपनी अनुभूतियों एवं विश्वासों से भी अलग है। वह द्रष्टा है, जिसे वस्तु की तरह नहीं जाना जा सकता। वह विषयी है, जिसे विषयी से ही जाना जा सकता है। मार्टिन बब्बर ने इसे I and thou relationship कहा है। The one you are looking for is the one who is looking—इस अनुभूति से ही अनेकांत का रहस्य जाना जा सकता है। इस रहस्य को जानने के बाद विरोधी विचार व मन एक संपूर्ण सत्य के ही अंश लगेंगे। व्यक्ति, राष्ट्र, विचार, अच्छे-बुरे, काले-सफेद के बीच हमारा अज्ञानी मन उनके मध्य की एकता को नहीं देख पाता। जो भिन्न प्रतीत होते हैं, वे भी किसी स्तर पर एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। जैसे ही हम अपनी सोच में विरोधी पक्षों के सह-अस्तित्व को स्वीकारते हैं, वे हमें विशाल खुले अंतरिक्ष के समान व्यापक बुद्धिमत्ता की ओर ले जाते हैं। यदि हम इसे नहीं स्वीकारते तो हम कैसे दूसरों को सुनने-समझने की हमारी क्षमता को विकसित कर सकते हैं और कैसे विभिन्न मुद्दों पर व्यापक स्तर पर सोच सकते हैं? हम जितने अधिक द्रष्टा आत्मा में केंद्रित होंगे, उतना ही अधिक हम दूसरों के मतों को अपने मत के आलोक में नहीं देखेंगे। यह प्रायः हम सबके साथ होता है कि हम जिससे असहमत हैं उसे अपने अनुरूप बदलने की कोशिश करते हैं। जब ऐसा नहीं होता तब हम उसकी



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

घेराबंदी करते हैं, उसके व्यक्तित्व और उसके सम्मान पर बलात् आक्रमण करते हैं। हम शायद ही उन लोगों से सुनते हैं जो हमसे मूलभूत रूप से भिन्न विचार वाले हैं।

**खुली जांच**

आइन्स्टीन ने कहा था—Central to the advancement of human civilization is the spirit of open inquiry. We must not only learn to tolerate our differences, we must welcome them as the richness and diversity which can lead to true intelligence.

यह कहा जाता है कि कम से कम तीन सत्य सदैव होते हैं—आपका सत्य, मेरा सत्य और सत्य। अधिकांश वैज्ञानिक सहमत होंगे कि सत्य की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति केवल अनुमानित ही हो सकती है। हममें से प्रत्येक का दृष्टिकोण हमारे व्यक्तिगत इतिहास, मूल्य और विश्वासों से प्रभावित होता है। जैसे कि वाल्टर लिपमान ने कहा था—'We see through the stereotypes and the pictures in our minds.'

हम एक तरह से देखते हैं और दूसरे उसे भिन्न तरीके से देखते हैं और हम जैसा देखते हैं वैसे ही हम वास्तविकताओं को बना लेते हैं। खुली जांच के लिए यह आवश्यक है कि हम सापेक्ष देखना सीखें।

उदाहरणार्थ पृथ्वी के एक नक्षत्र-मंडल को तब से देखते रहे हैं जब से मनुष्य ने नक्षत्रों का अध्ययन शुरू किया। किंतु हम अंतरिक्षयान से यात्रा करें और किसी विशेष नक्षत्र को पृथ्वी से आधी दूरी से देखें तो अब उस नक्षत्र-मंडल का आकार पहले जैसा नहीं दीखेगा, थोड़ा और नजदीक जाने पर नक्षत्र-मंडल के तारे भी अदृश्य हो जाएंगे। अर्थात् जिसे हम सत्य कहते हैं, जहां हम खड़े हैं—उसके सापेक्ष है। What we say truth is relative to where we are standing.

हम केवल एक ही कोण से देखते हैं, परिणामतः हमारा चिंतन संकीर्ण हो जाता है और हम उन्हीं की ओर ध्यान देते हैं जो हमसे सहमत हैं। वैविध्य के साथ अंतर्क्रियाओं का अनुभव न करके हम सचाई से स्वयं को अलग रखते हैं। यद्यपि दूसरों को सुनने या दूसरे के मत को जानने की इच्छा—उससे सहमत या असहमत होना नहीं है, बल्कि सत्य की दिशा में आगे बढ़ने के लिए सूचनाएं संगृहीत करना है।

यह विश्वास कि हमारा मार्ग ही सत्य है—हमें सुरक्षा की अनुभूति देता है। हम डरते हैं कि यदि हम एक दृष्टिकोण को ग्रहण कर रहे हैं जो हमारे अपने दृष्टिकोण से मेल नहीं खाता, वह हमें भ्रमित या विचलित कर सकता है। यहां मूलतः लगाव (आसक्ति) की समस्या है। हम हमारी वर्तमान स्थिति के साथ हमारी मूलभूत पहचान से भ्रमित होते हैं और हम नए विचारों को सुनने तथा खुली जांच की हमारी क्षमता को सीमित कर देते हैं। यदि हम अपने सतर्क आत्म के केंद्र में होंगे तो हम अपने दृष्टिकोण पर रहते हुए दूसरे के दृष्टिकोण को सुनने में पूर्ण सक्षम होंगे। यही शांति का आधार होगा। थिच हाटहान ने लिखा है—The situation of the world is still like this. People completely identify with one side, one ideology....Reconciliation is to understand both sides....Doing only that will be a great help for peace.

जब हम मतभेद देखते हैं तो हमारा झुकाव सावधान रहने की ओर हो जाता है तथा हमारी ग्रहणशीलता कम हो जाती है। हम सुरक्षात्मक प्रयासों की ओर चले जाते हैं या हम पलायन कर जाते हैं। यहां यह जानना महत्त्वपूर्ण है कि भय की भूमिका खुली जांच को अवरुद्ध करती है तथा सृजनात्मक संचार को रोकती है। यदि हमें विभिन्न राजनीतिक, सांस्कृतिक, नस्लीय मतों में खुली जांच को बढ़ाना है तो हमें हमारे अंतर्संबंधों में भय के स्तर को कम करना होगा तथा विरोधियों के साथ भी संवाद करना होगा अन्यथा एक प्रजाति के रूप में हमारा अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा।

क्रेग शिण्डलर और ग्रे लेपिड ने लिखा है—

'Exploring understanding from all directions. The willingness to keep an open mind, to seek truth without prejudice, to inform ourselves from many points of views.'

यही खुली जांच ही हमारी समझ को बढ़ा सकती है, हमारे दृष्टिकोण को व्यापक कर सकती है।

**संघर्ष एवं संघर्ष निराकरण**

संघर्ष को प्रारंभिक काल में बुरा माना गया तथा संघर्ष से निपटने का एक मात्र तरीका हिंसा रहा है। अब यह सोच बना है कि संघर्ष अपरिहार्य है तथा हमारे जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है। संघर्ष का विलोपन न तो संभव है और न


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वांछनीय। क्योंकि संघर्ष विकास को भी बढ़ावा देता है। बिना संघर्ष के जीवन व समाज ठहर जाएगा। इसलिए अब हिंसक संघर्षों के निराकरण की बात होने लगी है। अधिकांश संघर्षों के कारणों में सचाई यह है कि हम चीजों को भिन्न तरीकों से देखते हैं। हमें दो परस्पर संघर्षी विचारों के साथ निपटना सीखना चाहिए। हमें अपने 'फ्रेम ऑफ रेफ्रेन्स' को दूसरों के दृष्टिकोणों में समाहित कर व्यापक करना चाहिए। पाश्चात्य सभ्यता में अभी भी अधिकांश संघर्ष विषयी-विषय के द्वैतवाद के कारण हो रहे हैं। बुद्धिवाद और अनुभववादियों के बीच संघर्ष का मूल कारण जन्मजात (inherent) और सांयोगिक (Contingent) सिद्धांत ही रहा है। वस्तुतः तर्क एवं बुद्धिवाद के आधुनिक युग में जगत, समाज और मानव के संदर्भ में कोई भी चिंतन एकांगी ही रहा है। यह चिंतन या तो वस्तुनिष्ठता के आधार पर किया गया या आत्मनिष्ठता के आधार पर। परिणामतः जगत, समाज व मानव की सभी व्याख्याएं अपूर्ण रहीं। वस्तुनिष्ठवादियों ने जहां नैतिक मापदंडों व मानवीय मूल्यों की अवहेलना की वहीं आत्मनिष्ठवादियों ने ठोस सामाजिक वास्तविकताओं को नकारा। उत्तर आधुनिकता वैविध्यता और बहुलवाद पर बल देती है तथा यह मानती है कि वैविध्यता इतनी व्यापक है कि किसी एक आधार पर कोई भी चिंतन सार्वभौमिक नहीं हो सकता। वस्तुनिष्ठवादी संघर्ष को हितों का संघर्ष मानते हैं। ये हित किसी विषयी पर आधारित नहीं हैं, अपितु सामाजिक संरचना के आधार पर निर्धारित होते हैं। वस्तुनिष्ठवादी ये मानते हैं कि शांतिकर्मी विवाद का निपटारा तो करवा सकते हैं, पर दोनों पक्षों के बीच संरचनात्मक संबंध नहीं बदलते इसलिए असमानता विद्यमान रहती है। आत्मनिष्ठवादी संघर्षों को पक्षों के लक्ष्यों में विरोध की मात्रा के रूप में देखते हैं। अतः यहां शांतिपूर्ण साधनों से निपटारा संभव है। विरोध हमारी मानसिक कल्पना है, जबकि पक्ष के साथ प्रतिपक्ष की स्वीकृति इस जगत का सौंदर्य।

यहां हम अरस्तू के न्याय की भी चर्चा करें। उसका तर्कशास्त्र आकारिक, द्वैतवादी और निरपेक्ष है। यह सत्य के सही स्वरूप को समझने की दृष्टि से अपर्याप्त है, क्योंकि यह सिद्धांत समानता और अविरोध पर आधारित है। इसके अनुसार कोई दो मार्ग नहीं, या तो आप सही हैं या आप गलत हैं।

विश्व अनेक विरोधी खेमों में बंटा है। वहां either...or की विश्व राजनीति है। यदि कोई व्यक्ति, विचार या राष्ट्र मेरे साथ सहमत नहीं है तो वह बुरा है। इन परिस्थितियों में तटस्थता अभिशाप बन गई है। किंतु विचार भेद होना तो लाजिमी है, क्योंकि हम भिन्न-भिन्न परिस्थितियों से निर्देशित होते हैं। इसलिए यह सोच गलत है कि एक पूर्ण सही है और दूसरा पूर्ण गलत। अतएव शांति की दृष्टि से अब एक नया तर्कशास्त्र चाहिए। इस दर्शन में either...or का स्थान neither... nor या 'यह भी' और 'वह भी' ले लेता है। इस प्रकार की अनैकांतिक दृष्टि जैसा कि व्हाईटहैड ने लिखा है—

An endeavour to frame a coherent logical, necessary system of general ideas in terms of which every element of our experience can be interpretated. सी.ई.एम. जोड ने भी लिखा है—We must have a synoptic view of universe. हमें विश्व की सामंजस्यपरक तस्वीर की परिकल्पना करके चलना पड़ेगा। इसलिए सापेक्ष चिंतन शांति और अहिंसा की नई सभ्यता की विचारधारा का पोषक है। एक अमेरिकन विद्वान एवं इतिहासविद् स्टीफन हे ने अपने एक लेख 'जैन इन्फ्लूएन्स ऑन गांधी' में लिखा है—

It has been my experience, wrote Gandhi in 1926—'that I am always true from my point of view, and often wrong from the point of view of my critics. I know that we are both right from our respective points of view.'

उन्होंने फिर गांधीजी को उद्धृत करते हुए लिखा है—

'I very much like this doctrine of the manyness of reality. It is this doctrine that has taught me to judge a Mussulman from his stand point and a Christian from his. .....From the platform of Jainas, I prove the non creative aspect of God, and from the Ramanuja the creative aspect. As a matter of fact we are all thinking of the unthinkable, describing the indescribable, seeking to know the unknown, and that is why our speech falters, is inadequate and been of often contradictory.

निश्चित ही ये उद्धरण अनेकांत की व्यवहार्यता को प्रकट करने के लिए पर्याप्त हैं।

❖



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अनेकांतात्मक स्वरूप : ज्ञानमीमांसीय संदर्भ

डॉ. राजकुमारी जैन

**जैन दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञान निर्विकल्पक न होकर सदैव सविकल्पक ही होता है तथा उसका विषय परस्पर निरपेक्ष धर्म तथा धर्मी आदि न होकर धर्मधर्म्यात्मक वस्तु होती है, जो ज्ञेय पदार्थ के अनेकांतात्मक स्वरूप का परिचायक है। एक वस्तु के वस्तुत्व के निष्पादक एक-अनेक, भेद-अभेद, सामान्य-विशेष आदि सप्रतिपक्षी धर्मयुगलों का युगपत् सद्भाव अनेकांत कहलाता है।**

किसी भी वस्तु का ज्ञान उसकी विशेषताओं के ज्ञान से होता है। हम हरित रंग, विशेष आकार आदि अनेक गुणों के ज्ञानपूर्वक एक द्रव्य—पत्ते को जानते हैं। तना, शाखाओं, पत्तों आदि अनेक अवयवों के ज्ञानपूर्वक एक अवयवी—वृक्ष ज्ञात होता है। ज्ञान का यह सर्वविदित स्वरूप वस्तु के एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक स्वरूप को प्रस्तुत करता है, जो विभिन्न भारतीय दार्शनिकों के लिए गंभीर समस्या है। वे कहते हैं कि एक और अनेक, भेद और अभेद परस्पर विरोधी धर्म होने के कारण एक ही वस्तु का स्वरूप नहीं हो सकते। जो वस्तु एक है, उसके परस्पर भिन्न-भिन्न अनेक स्वरूप किस प्रकार हो सकते हैं तथा जो स्वरूपतः परस्पर भिन्न-भिन्न हैं, वे एक अभिन्न वस्तु किस प्रकार हो सकते हैं? इसलिए नैयायिक सत्ता को परस्पर पृथक-पृथक धर्म और धर्मीरूप, बौद्ध उसे मात्र धर्मरूप तथा अद्वैत वेदांती उसे मात्र धर्मीरूप स्वीकार करते हैं। इन सभी दार्शनिकों के अनुसार उनके द्वारा मान्य सत्ता के स्वरूप का ज्ञान इंद्रियार्थ सन्निकर्ष के प्रथम क्षण में अथवा समाधि की अवस्था में होने वाले निर्विकल्पक साक्षात्कार द्वारा होता है। यद्यपि सविकल्पक ज्ञान वस्तु को उसके अनेक धर्मों द्वारा और इसलिए एकानेकात्मक स्वरूप में जानता है, लेकिन बौद्ध और अद्वैत वेदांत के अनुसार यह ज्ञान वस्तुभूत न होकर अनादिकालीन अज्ञानजनित है और इसलिए इसका व्यावहारिक महत्त्व होते हुए भी परमार्थतः यह ज्ञान मिथ्या है।

जैन दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञान निर्विकल्पक न होकर सदैव सविकल्पक ही होता है तथा उसका विषय परस्पर निरपेक्ष धर्म तथा धर्मी आदि न होकर धर्मधर्म्यात्मक वस्तु होती है, जो ज्ञेय पदार्थ के अनेकांतात्मक स्वरूप का परिचायक है। एक वस्तु के वस्तुत्व के निष्पादक एक-अनेक, भेद-अभेद, सामान्य-विशेष आदि सप्रतिपक्षी धर्म-युगलों का युगपत् सद्भाव अनेकांत कहलाता है। यह वस्तु सर्वथा सत् रूप ही है अथवा असत् रूप ही है, एक रूप ही है अथवा अनेक रूप ही है; नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, इस प्रकार सर्वथा एकांत के त्याग स्वरूप है।[1] इससे यह प्रतिपादित होता है कि जो तत् है वही अतत् है; जो एक है वही अनेक भी है, जो सत् है वही असत् भी है; जो नित्य है वही अनित्य भी है। इस प्रकार एक वस्तु की वस्तुरूपता के निष्पादक सप्रतिपक्षी धर्मयुगलों का युगपत् प्रकाशन अनेकांत है।[2]

ज्ञान का विषय अनेकांतात्मक—एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक सामान्यविशेषात्मक वस्तु होती है। हम अनेक सहवर्ती गुणों और क्रमवर्ती पर्यायों के ज्ञानपूर्वक एक द्रव्य को तथा अनेक अवयवों के ज्ञानपूर्वक एक अवयवी को जानते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि एक वस्तु के अनेक गुण, पर्याय, अवयव आदि क्रमशः गुणी, पर्यायी और अवयवी के विभिन्न अंश हैं; धर्म हैं; स्वभाव तथा गुणी अपने अनेक गुण आदि में व्याप्त एक अखंड सत्ता हैं।

दूसरे शब्दों में एक द्रव्य के अनेक सहवर्ती स्वभाव उसके विभिन्न गुण हैं। इन अनेक गुणों में नाम, लक्षण, प्रयोजन, आदि की अपेक्षा भेद[3] होने पर भी सत्तापेक्षया अभेद है। उनका यह पारस्परिक तादात्म्य ही उनकी एक द्रव्यरूपता है। तादात्म्य=तत्+आत्म्य अर्थात् ये परस्पर एक-दूसरे की आत्मा या स्वभाव होते हुए, एक-दूसरे में अंतर्व्याप्ति होते हुए एक द्रव्यरूपता को प्राप्त कर रहे हैं।[4]



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस प्रकार द्रव्य और गुण—दो भिन्न-भिन्न सत्ता न होकर संज्ञादि की अपेक्षा परस्पर भिन्न होने पर भी एक ही सत्ता हैं। सत्तापेक्षया द्रव्य और गुण में अभेद होने के कारण न केवल एक द्रव्य का आत्मा या स्वभाग उसके समस्त गुण हैं, बल्कि एक गुण का स्वभाग भी उसका आश्रयभूत संपूर्ण द्रव्य है।[5] इस प्रकार सत्ता मात्र गुणरूप, मात्र द्रव्यरूप या परस्पर निरपेक्ष गुण, गुणीरूप न होकर गुणगुण्यात्मक स्वरूप में अवस्थित हैं। जिस प्रकार संज्ञादि की अपेक्षा परस्पर भिन्न-भिन्न अनेक गुण ही परस्पर तादात्म्य संबंधपूर्वक एक द्रव्यरूपता को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार संज्ञा आदि की अपेक्षा भिन्न-भिन्न अनेक अवयव परस्पर संयोग संबंधपूर्वक एक-दूसरे से संबंधित और प्रभावित होते हुए एक अवयवीरूपता को प्राप्त करते हैं।

सत्ता के इस एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक स्वरूप के कारण ज्ञान सदैव धर्मधर्म्यात्मिक स्वरूप लिए हुए होता है तथा उसका विषय सदैव गुणगुण्यात्मक अवयव-अवयव्यात्मक, पर्यायपर्याय्यात्मक सत्ता होती है।[6]

प्रत्यक्ष अनुमानादि सभी प्रमाणों द्वारा एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक वस्तु ही ज्ञात होती है। बौद्ध कहते हैं कि धर्मधर्मीभाव में युक्त सविकल्पक ज्ञान परमार्थतः सत्य न होकर अनादि वासनाजनित मानसिक कल्पना मात्र है। प्रत्यक्ष मात्र धर्म को ही जानता है। उदाहरण के लिए चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा मात्र एक गुण-रूप का ही प्रत्यक्ष होता है। उस एक गुण के ज्ञानपूर्वक होने वाला रूप, रसादि अनेक गुणात्मक द्रव्य घट को ज्ञात कहना यथार्थ ज्ञान न होकर अनादि वासनाजनित मानसिक कल्पना मात्र है। यथार्थ ज्ञान का विषय एक-अनेक स्वभावी सत्ता न होकर मात्र एक स्वभावी सरल धर्म है। अकलंकदेव इस मत को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि प्रत्यक्ष सदैव सविकल्पक (विशेषण-विशेष्य भाव से युक्त) ही होता है तथा उसका विषय द्रव्यपर्यायात्मक, सामान्य-विशेषात्मक वस्तु होती है।[7] प्रत्यक्ष का विषय रूप, रस आदि कोई एक गुण न होकर गुणात्मक द्रव्य होता है।[8] हम चाक्षुष प्रत्यक्ष द्वारा मात्र एक सरल गुण-रूप को न जानकर अस्तित्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, पृथुवुध्नाकारमय रूप को जानते हैं। इन गुणों में स्वभाव भेद होने पर भी सत्तापेक्षया अभेद होने के कारण ये एक द्रव्य हैं, इसलिए इनके ज्ञानपूर्वक एक द्रव्य को ज्ञात कहा जाता है। इन गुणों में पृथुवुध्नाकार वह असाधारण धर्म है जो इस सत्ता को अघट से पृथक एक ऐसा विशिष्ट स्वरूप प्रदान कर रहा है जिसके होने पर पदार्थ को घट ही कहा जाता है। इसलिए इस विशेष गुण के ज्ञानपूर्वक द्रव्य के प्रति 'घट' इस विशिष्ट बुद्धि की उत्पत्ति होती है। कुछ गुणों के ज्ञानपूर्वक घट को ज्ञात कहने का अर्थ यह नहीं है कि वह संपूर्णतः ज्ञात हो गया है। इसके विपरीत घट को ज्ञात अंशों से ही ज्ञात कहा जाता है तथा वह अपने अज्ञात धर्मों की अपेक्षा अज्ञात भी रहता है।[9] अवगृहीत पदार्थ के इस ज्ञाताज्ञात स्वरूप में ज्ञात होने के कारण ही उसके विशिष्ट स्वरूप के प्रति ईहापूर्वक आवाय, धारणारूप ज्ञान की उत्पत्ति होती है जो न केवल ज्ञेय पदार्थ के अनेक क्षणव्यापी एक अस्तित्व को बल्कि ज्ञान के एकानेकात्मक स्वरूप को भी सिद्ध करती है।

ज्ञान के प्रारंभिक चरणों में हम एकधर्मी के विभिन्न धर्मों को परस्पर निरपेक्ष रूप से ही जानते हैं। चक्षु, त्वचा, जिह्वा आदि इंद्रियों से हमें रूप, स्पर्श, रस आदि गुण परस्पर निरपेक्ष रूप से ही ज्ञात होते हैं। इस स्तर पर हम यह नहीं जान पाते कि इन गुणों में किसी प्रकार का संबंध है अथवा नहीं। इसी प्रकार शब्द प्रमाण द्वारा एक-एक वाक्य में वस्तु की एक-एक विशेषता को क्रमिक रूप से जानते हुए ही जाना जा सकता है जो हममें अनेक बार इन तत्त्वमीमांसीय भ्रमों को उत्पन्न कर देता है कि एक वस्तु की अनेक विशेषताएं परस्पर निरपेक्ष हैं तथा वस्तु या तो उन अनेक विशेषताओं के स्वरूप पर आरोपित एक नाम मात्र या उनसे भिन्न उनका आश्रय मात्र है। यह भ्रम पदार्थ के स्वरूप को निष्क्रिय और तटस्थ रूप से ग्रहण करने पर ही होता है। यदि हम रुचिपूर्वक किसी पदार्थ को जानने के लिए प्रयत्नरत हों तो वस्तु की ज्ञात हो रही विशेषताएं अनेक प्रश्नों को जन्म देती हैं। उदाहरण के लिए विभिन्न रंगों के प्रत्यक्षपूर्वक हममें यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि हल्के रंगों के प्रत्यक्ष से ठंडक का तथा गहरे रंगों के प्रत्यक्ष से गर्मी का अनुभव क्यों होता है? हम यह देखते हैं कि वस्तु के स्पर्शगुण में परिवर्तन उसके रंग, गंध और रस को परिवर्तित कर देता है। जैसे एक आम को गर्म स्थान पर रखने पर वह बहुत जल्दी पक और सड़ जाता है, उसके रंग, गंधादि में बहुत तेजी से परिवर्तन होता है। जबकि उसे ठंडे स्थान पर रखने पर ऐसा नहीं होता। यह अनुभव हमारे समक्ष यह प्रश्न उत्पन्न करता है कि पुद्गल के स्पर्श-गुण और अन्य गुणों में क्या संबंध है। इन तथा ऐसे अनेक प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने हेतु किए गए प्रयत्नपूर्वक ज्ञात हो रही वस्तु की नई विशेषताएं न केवल



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वस्तु के ज्ञान में वृद्धि करती हैं, बल्कि वस्तु की पूर्व ज्ञात विशेषताओं के ज्ञान को भी अधिक विशिष्ट और परिष्कृत करते हुए उसके धर्मधर्म्यात्मक स्वरूप को सिद्ध करती हैं। प्राचीन काल में हुआ स्पर्श चिकित्सा, वर्ण रंग चिकित्सा, गंध चिकित्सा आदि विभिन्न चिकित्सा पद्धतियों का विकास तथा वर्तमान समय में पुद्गल के क्षेत्र में दृष्टिगोचर हो रहा ज्ञान का संपूर्ण विकास ज्ञान की सक्रिय और अन्वेषणात्मक प्रक्रिया का परिणाम है और यह ज्ञेय पदार्थ के एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक स्वरूप के कारण ही संभव हुआ है।

जैन आचार्यों का धर्मधर्मी-आत्मक वस्तु को ज्ञान का विषय स्वीकार करने का क्या आशय है—इसे हम शब्द प्रमाण के माध्यम से समझने का प्रयास करें। भाषा द्वारा एक वस्तु क्रमिक रूप से एक-एक वाक्य में उसकी एक-एक विशेषता के ज्ञानपूर्वक ज्ञात होती है। वस्तु की एक विशेषता नाम, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा अन्य विशेषताओं से भिन्न और इस अपेक्षा से अपने-आप में परिपूर्ण होते हुए सत्तापेक्षया अपने-आप में अपूर्ण होती है। इस अपेक्षा से उसका पूर्ण स्वरूप उसका आश्रयभूत संपूर्ण द्रव्य अर्थात् द्रव्य के अन्य समस्त गुण हैं। गुण और गुणी में विद्यमान इस भेदाभेद संबंध के कारण एक वाक्य द्वारा ज्ञात हो रहे द्रव्य के एक गुण के प्रति अनेक जिज्ञासाएं उत्पन्न हो जाती हैं। इन जिज्ञासाओं की शांति हेतु किए गए प्रयत्न से वस्तु के अनेक नवीन गुणों का ज्ञान होता है, जो वस्तु के ज्ञान में मात्र वृद्धि ही नहीं करता बल्कि वस्तु की पूर्वज्ञात विशेषताओं की समझ को भी और अधिक वैशिष्ट्य और स्पष्टता प्रदान करता हुआ परिष्कृत करता है। आचार्य उमास्वामी कहते हैं 'सत् होना द्रव्य का लक्षण है।'[10] 'सत्' का अर्थ है 'है', 'सद्भाव', अस्तित्वरूपता तथा इस धर्म का प्रयोजन है धर्मी को सत् स्वरूपता प्रदान करना, उसके सद्भाव या होने का ज्ञान कराना। इसलिए उपर्युक्त वाक्य 'सत् होना द्रव्य का लक्षण है' से यह ज्ञान होता है कि 'द्रव्य है' या जो भी है उसे द्रव्य कहा जाता है। इस लक्षण और प्रयोजन की अपेक्षा अस्तित्व गुण के अपने-आप में परिपूर्ण होने पर भी सत्तापेक्षया वह अपने-आप में अपूर्ण है और इसलिए इसके प्रति यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि सत् होने का अर्थ क्या है? जो है वह मात्र एक क्षणस्थाई है, शाश्वत है या परिणामी नित्य? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य कहते हैं, 'जो सत् है वह उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है।'[11] उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तता को द्रव्यत्व गुण कहा जाता है। उपर्युक्त दोनों वाक्य सत्त्व और द्रव्यत्व में परस्पर विशेष्य-विशेषण भाव को सिद्ध करते हुए 'सत्तात्मक द्रव्य' या 'द्रव्यत्वमय सत्ता' रूप विशिष्ट बुद्धि को उत्पन्न करते हैं जो सत्त्व और द्रव्यत्व धर्मों के पारस्परिक तादात्म्य संबंधपूर्वक उनकी एक धर्मीरूपता का परिचायक है। इनमें एकता होने पर भी अनेकता विद्यमान है जिसके कारण सत्त्व के ज्ञात होने पर भी द्रव्यत्व अज्ञात रहता है तथा उसे जानने के लिए अन्य ज्ञान की सहायता लेनी पड़ती है। द्रव्यत्वरूपता भी सत्ता का पूर्ण स्वरूप नहीं होने के कारण उसके प्रति पुनः जिज्ञासा होती है कि यह द्रव्यत्वमयसत्ता सामान्य रूप है, विशेष रूप है या सामान्य-विशेषात्मक। इसके उत्तर में शब्द प्रमाण द्वारा उसका सामान्य-विशेषात्मक स्वरूप या वस्तुत्व गुण ज्ञात होता है। यह द्रव्यत्व-वस्तुत्वमय सत्ता प्रमेय है या नहीं, उसके परिमाण में न्यूनाधिकता संभव है या नहीं जैसे प्रश्नों के उत्तर में सत्ता के प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व आदि गुण ज्ञात होते हैं। मानवीय ज्ञान की यह सक्रिय और अन्वेषणात्मक, दूसरे शब्दों में उपयोगात्मक प्रक्रिया अंतहीन है। जैसे-जैसे मानव के ज्ञान में वृद्धि होती जाती है, उसकी जिज्ञासाएं भी बढ़ती जाती हैं, जो न केवल एकधर्मी की अनेक धर्मात्मकता को बल्कि उसकी अनंतधर्मात्मकता को सिद्ध करती हैं। इसलिए आचार्य विद्यानंद कहते हैं, 'जीवादि धर्मी अनंत धर्मात्मक हैं अन्यथा उनमें प्रमेयत्व का होना असंभव है।'[12]

उपर्युक्त अनुमान 'जीवादि धर्मी अनंत धर्मात्मक हैं, क्योंकि वे प्रमेय हैं' में जीवादि धर्मी पक्ष हैं। उनके एक धर्म 'प्रमेयत्व' को हेतु बनाकर उनकी अनंतधर्मात्मकता को सिद्ध किया जा रहा है। प्रश्न उठता है कि वह प्रमेयत्व हेतु स्वयं प्रमेय (ज्ञेय) है अथवा नहीं? यदि यह स्वयं अज्ञात हो तो उसके द्वारा कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि यह स्वयं प्रमेय है तो यह स्वयं अनंतधर्मात्मक है, अथवा नहीं है। यदि नहीं है तो यह हेतु व्यभिचार दोष से ग्रस्त होगा, क्योंकि प्रमेयत्व हेतु स्वयं एक स्वभावी होने पर भी ज्ञात हो रहा है और इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि जो भी प्रमेय है वह अनंत धर्मात्मक है। यदि प्रमेयत्व हेतु की अनंतधर्मात्मकता स्वीकार की जाए तो अभी तक किसी भी वस्तु की अनंत धर्मात्मकता सिद्ध नहीं हो पाने के कारण यह साध्यसम हेत्वाभास हो जाएगा तथा इसके द्वारा कुछ भी सिद्ध नहीं हो पाएगा। फिर एक धर्म को भी अनंतधर्मात्मक स्वीकार करने पर उन धर्मों के भी अनंतधर्म और उन धर्मों में भी प्रत्येक धर्म के अनंतधर्म....स्वीकार करने पड़ेंगे। इस



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार एक धर्म को अनंतधर्मात्मक स्वीकार करने पर अनवस्था दोष आता है।

उपर्युक्त आपत्तियों का उत्तर देते हुए आचार्य विद्यानंद कहते हैं कि इस अनुमान में व्यभिचार दोष नहीं है, क्योंकि कोई भी धर्म सदैव धर्म ही नहीं रहता। सत्त्वादि कोई भी धर्म अपने धर्मी की अपेक्षा ही धर्म होता है तथा अपने अन्य धर्मों की अपेक्षा वह स्वयं अनंत धर्मात्मक धर्मी भी होता है।[13] ऐसा मानने पर अनवस्था दोष भी नहीं आता, क्योंकि एक वस्तु के विभिन्न धर्मों में धर्म-धर्मी भाव अभव्य के संसार के समान अथवा एक घूमते हुए वलय के पूर्वापर भाग के समान अनादि, अनंत तथा अनवस्थित हैं।[14] जिस प्रकार एक अभव्य के संसार का न तो आदि है न अंत अथवा जिस प्रकार एक घूमते हुए वलय का एक भाग सामने आने पर पूर्व भाग, तथा वही भाग पीछे चले जाने पर अपर भाग हो जाता है उसी प्रकार एक वस्तु के समस्त धर्मों में परस्पर धर्म-धर्मी भाव अनवस्थित और अनादि-अनंत है। उसकी किसी भी विशेषता को विशेष्य बनाए जाने पर अन्य सभी विशेषताएं उसका विशेषण हो जाती हैं।

वस्तुतः सत्त्व, द्रव्यत्व आदि सत्, द्रव्य आदि व्यक्तियों से भिन्न पदार्थ न होकर उनका सामान्य रूप से शाश्वत और अनिवार्य स्वरूप होने के कारण द्रव्य मात्र के सामान्य गुण हैं। ये गुण सभी द्रव्यों में पूर्णरूपेण समान न होकर अपने आश्रय के भेद के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वरूप से युक्त होते हैं। उदाहरण के लिए आत्मा का अस्तित्व-गुण उसे जड़ व चेतन सभी द्रव्यों में समान रूप से विद्यमान सत् स्वरूपता प्रदान न करके विशिष्ट प्रकार की सत् स्वरूपता प्रदान करता है। वह उसे द्रव्यत्व, वस्तुत्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्यादि स्वरूप में अस्तित्ववान बनाता है। यदि इनमें से एक भी गुण का अभाव हो तो आत्मा का सद्भाव भी नहीं रहेगा। जैसे, यदि आत्मा में वीर्य गुण नहीं हो तो उसमें सक्रियता और इसलिए जानने-देखने हेतु प्रयत्नपूर्वक व्यापाररूप उपयोगात्मकता का अभाव हो जाएगा। ऐसी स्थिति में जब ज्ञान, दर्शन ही नहीं रहेंगे तो परिणामी नित्यता रूप द्रव्यत्व, सामान्यविशेषात्मकता रूप वस्तुत्व किसका होगा? इस प्रकार आत्मा का अस्तित्व गुण अन्य द्रव्यों से भिन्न एक विशिष्ट प्रकार का अस्तित्व है। उसके अस्तित्व गुण का विशिष्ट स्वरूप संपूर्ण आत्मा अर्थात् आत्मा के समस्त गुण हैं। इसी प्रकार द्रव्यत्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि समस्त गुणों का विशिष्ट स्वरूप उनका आश्रयभूत संपूर्ण द्रव्य है। एक द्रव्य के समस्त गुणों के परस्पर एक-दूसरे का स्वरूप होते हुए एक द्रव्यरूपता को प्राप्त होने तथा संपूर्ण द्रव्य के एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक स्वरूपमय होने के कारण एक द्रव्य के प्रत्येक गुण का विशेषण उस द्रव्य के अन्य समस्त गुण होते हैं। इसलिए एक द्रव्य के कुछ गुणों का ज्ञान उस द्रव्य का ही नहीं उसके ज्ञात गुणों का भी आंशिक ज्ञान है। जब द्रव्य का कोई नवीन गुण ज्ञात होता है तो वह द्रव्य के ज्ञान में ही वृद्धि नहीं करता, बल्कि द्रव्य के पूर्ण ज्ञात गुणों का भी विशेषण होता हुआ, उनके ज्ञान को अधिक समृद्ध और परिष्कृत करता हुआ भेदाभेदात्मक रूप से ज्ञात होता है।

हमें एक समय में प्रत्यक्ष द्वारा एक द्रव्य के जितने भी गुण ज्ञात होते हैं वे परस्पर गुणगुणी-आत्मक स्वरूप में ही ज्ञात होते हैं, लेकिन भाषा के प्रयोगपूर्वक होने वाले ज्ञान में गुण को गुणी से पृथक् करके जाना जाता है। यह ज्ञान स्याद्वाद नय—संस्कृत रूप से होने पर ही यथार्थ होता है। स्याद्वाद प्रमाणात्मक[15] या सकलादेशी[16] होता है। उसके द्वारा सामान्य रूप से वस्तु के अनेकांतात्मक स्वरूप का ज्ञान होता है। वस्तु का स्याद्वाद द्वारा प्रविभक्त या विशेषित (स्याद्वाद द्वारा सामान्य रूप से वस्तु के एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक स्वरूप के निश्चयपूर्वक होने वाला) वस्तु के एक धर्म का ज्ञान नय कहलाता है।[17] अथवा प्रमाण द्वारा प्रकाशित वस्तु के विशेष अंश का प्ररूपक ज्ञाता का अभिप्राय नय है।[18] वस्तु की एक विशेषता का अपना निश्चित विशिष्ट स्वरूप होता है, लेकिन उस रूप में उसका अस्तित्व संपूर्ण वस्तु पर अर्थात् वस्तु की अन्य सभी विशेषताओं पर आश्रित होता है। वह अपने-आप में स्वतंत्र तत्त्व न होकर अनेक धर्मात्मक एकधर्मी में रहते हुए तथा उसके विशिष्ट स्वरूप के अनुसार विशिष्ट स्वरूप प्राप्त करती है। उसे जानने वाले नय ज्ञान की प्रवृत्ति प्रमाण ज्ञान द्वारा सामान्य रूप से संपूर्ण वस्तु को जानने के उपरांत ही होती है। इसलिए 'जो भी ज्ञेय है वह अनंतधर्मात्मक है', इस व्याप्ति में व्यभिचार दोष का निराकरण करते हुए अंत में आचार्य विद्यानंद कहते हैं कि जीवादि धर्मी से अलग किया गया प्रमेयत्व हेतु नय ज्ञान का विषय है और नय ज्ञान के प्रमाणांश होने के कारण इस ज्ञान के विषय के रूप में वह स्वयं प्रमेय या अप्रमेय न होकर प्रमेयांश है। अतः नय ज्ञान के रूप में वह स्वयं की अनंतधर्मात्मकता को सिद्ध न करके



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवादि धर्मी की अनंत धर्मात्मकता को ही सिद्ध करता है। लेकिन यही प्रमेयत्व प्रमाण ज्ञान के विषय के रूप में जीवादि धर्मी की ही नहीं स्वयं की अनंतधर्मात्मकता को भी सिद्ध करता है।[19]

**बौद्ध और अद्वैत वेदांत मत :**

बौद्ध उपर्युक्त विवेचन को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि एक धर्मी में अनेक धर्मरूप भेद मात्र शाब्दिक और बुद्धिजनित होने के कारण अयथार्थ हैं। वस्तु पूर्णतया एकस्वभावी ही होती है तथा वह प्रत्यक्ष द्वारा संपूर्णतः ही ज्ञात होती है। उस प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात वस्तु के प्रति किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न हो जाने पर उसमें भेद का आरोप करके उसका सत्, अनित्य, कृतक आदि अनेक रूपों में निश्चय किया जाता है। इस निश्चय का उद्देश्य वस्तु की वास्तविक अनेक स्वभावता का प्रतिपादन न होकर उसे विजातीय वस्तुओं से पृथक् करना है। शब्द विशेषण पदार्थ को अशब्द से, अनित्य नित्य से और कृतक उसे अकृतक से पृथक् करता है।[20] इस प्रकार सविकल्प ज्ञान वस्तु के प्रति मात्र निषेधात्मक बुद्धि 'यह वह नहीं है' को उत्पन्न कर उसके प्रति भ्रम को तो समाप्त कर सकता है लेकिन उसमें वस्तु के स्वरूप का बोध कराने की सामर्थ्य नहीं है। वस्तु के स्वरूप का यथार्थ बोध तो इंद्रियार्थ सन्निकर्ष के प्रथम क्षण में और योगियों को समाधि की अवस्था में होने वाले निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा ही होता है।

बौद्धों के समान ही अद्वैत वेदांती भी कहते हैं कि सत्ता पूर्णतया अखंड और एकस्वभावी ही होती है। सविकल्पक ज्ञान उस अखंड सत्ता में धर्मधर्मी भेद का आरोप करके उसे अनेक रूपों में जानता है तथा उसमें इन भेदों से परे सत्ता के अखंड स्वरूप को ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं है। इसलिए यह ज्ञान मिथ्या है। इसका महत्त्व इतना ही है कि इसमें सत्ता के प्रति स्वरूपबोध की सामर्थ्य का अभाव होने पर भी उसके प्रति अस्वरूप की निवृत्ति की सामर्थ्य है। वह वस्तु के प्रति 'नेति', 'नेति' अर्थात् वस्तु यह नहीं है, यह नहीं है रूप से उसके प्रति अज्ञान को समाप्त कर देता है। इसके पश्चात् ही सत्ता के यथार्थ स्वरूप की साक्षात्कारात्मक निर्विकल्पक ज्ञान स्वरूप समाधि की अवस्था की प्राप्ति संभव है।[21] इस प्रकार बौद्ध और अद्वैत वेदांत—दोनों के अनुसार ही विशेषण-विशेष्य भाव से युक्त सविकल्पक ज्ञान वस्तु के प्रति अज्ञान की निवृत्ति रूप निषेधात्मक कार्य ही करता है तथा उसमें वस्तु के स्वरूपबोध की सामर्थ्य नहीं है। वस्तु के अखंड स्वरूप का ज्ञान तो समाधि की अवस्था में होने वाले निर्विकल्पक प्रत्यक्ष द्वारा ही संभव है।

**जैन मत :**

जैन दार्शनिक भी बौद्ध और अद्वैत वेदांत के इस मत से सहमत हैं कि सत्ता पूर्णतया एकस्वभावी ही होती है। आत्मा संपूर्णतः एकस्वभावी सत्ता—ज्ञानस्वभावी सत्ता है तथा वह ज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं है। ध्यान का विषय स्वयं का ऐसा शुद्ध ज्ञायक स्वरूप ही होता है। कुंद-कुंदाचार्य जीव के सर्वभेदरहित शुद्ध ज्ञायक स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं, 'जो यह ज्ञायक भाव है वह न तो प्रमत्त है न अप्रमत्त है, बल्कि वह शुद्ध ज्ञायक भाव स्वरूप ही है। व्यवहार नय से ज्ञानी के चारित्र हैं, दर्शन हैं, ज्ञान हैं, लेकिन निश्चय नय से ज्ञानी के न तो चारित्र हैं, न दर्शन हैं, न ज्ञान हैं; बल्कि वह शुद्ध ज्ञायक भावरूप ही हैं।[22] ये पद यह प्रतिपादित करते हैं कि चैतन्य आत्मा पूर्णतया एकस्वभावी—ज्ञानस्वभावी तत्त्व हैं, लेकिन यह ज्ञानस्वभावी तत्त्व शुद्ध निर्विशेष एकस्वभावी तत्त्व न होकर विशिष्ट प्रकार की सत्ता है तथा उसके विशिष्ट स्वरूप के नियामक उसके अनंत धर्म हैं जो ज्ञान और भाषा में अलग किए जा सकने योग्य होने पर भी तत्त्वतः अपृथक हैं। इसलिए उपयुक्त पदों के टीकाकार अमृतचंद्र कहते हैं कि उस ज्ञायक भाव का अनुभव करने वाले प्रत्यगात्मा अनंत धर्मात्मक तत्त्व को देखते हैं।[23] निश्चय नय से जिसने इस अनंतधर्मात्मक एकधर्मी को नहीं जाना, ऐसे शिष्यों को भाषा द्वारा धर्म को धर्मी से पृथक करते हुए व्यवहार से उपदेश दिया जाता है कि ज्ञानी के दर्शन हैं, ज्ञान हैं, चारित्र हैं, लेकिन परमार्थ से देखा जाए तो एक द्रव्य द्वारा पीए गए अनंत धर्म-रूपों के किंचित मिले हुए अभेद स्वभाव वस्तु को अनुभव करने वाले पंडित पुरुषों की दृष्टि में दर्शन भी नहीं, ज्ञान भी नहीं, चारित्र भी नहीं—शुद्ध एक ज्ञायक भाव ही है।[24]

आत्मा एकस्वभावी—ज्ञानस्वभावी तत्त्व ही है, लेकिन उसकी यह एकस्वभावता उसकी सत्त्व, द्रव्यत्व, वस्तुत्व, दर्शन, वीर्यादि वास्तविक अनेक स्वभावता के सद्भाव में ही संभव है। ये सभी स्वभाव ज्ञान के विशेषण होने तथा संज्ञा, लक्षण, प्रयोजनादि की अपेक्षा परस्पर भिन्न-भिन्न होने पर भी सत्तापेक्षया तादात्म्य संबंध से युक्त होने के कारण एकज्ञान ही हैं। (इसी प्रकार आत्मा संपूर्णतः एकस्वभावी दर्शनस्वभावी या वीर्यस्वभावी आदि


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी है) इन अनेक स्वभावों के एक ज्ञानस्वभावी सत्ता होने पर भी इनकी स्वभावगत अनेकता वास्तविक है तथा इनमें से किसी भी गुण के सद्भाव अभाव में संपूर्ण सत्ता का स्वरूप बदल जाता है। उदाहरण के लिए ज्ञान वीर्यात्मक अर्थात् सक्रियता से युक्त होने पर सदैव उपयोगात्मक अर्थात् सदैव किसी न किसी पदार्थ को जानने-देखने हेतु प्रवृत्तिपूर्वक सविषयक चेतना है, ऐसी स्थिति में वह ज्ञान सामान्य रूप से सदैव वही रहते हुए एक विशेष ज्ञान पर्यायरूप से नष्ट होता हुआ तथा अन्य विशेष ज्ञान पर्याय-रूप से उत्पन्न होता हुआ सदैव उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप या द्रव्य है। प्रवृत्तिपूर्वक अपनी विशेष ज्ञान पर्याय का निर्माण करने के स्वभाव से युक्त होने के कारण वह कर्तृत्व से युक्त है। इस प्रकार ज्ञान के वीर्यात्मक होने पर वह उपयोगमय, परिणामीनित्य, सामान्य-विशेषात्मक, कर्ता, सविषयक चेतनामय आत्मा है। लेकिन यदि ज्ञान वीर्यरहित हो तो फिर वह निष्क्रिय होने के कारण अकर्ता, कूटस्थ नित्य, पूर्णतया सामान्यरूप, साक्षीभावमय निर्विषयक चेतना होगा। यदि ऐसी चेतना सार्वभौमिक और आनंदमय हो तो वह अद्वैत वेदांत द्वारा स्वीकृत ब्रह्म और यदि वैयक्तिक और आनंदरहित हो तो सांख्य दर्शन द्वारा स्वीकृत पुरुष होगा।

ज्ञानमय तत्त्व के इन अनेक स्वभावमय विशिष्ट स्वरूपों को बौद्धिक कल्पनाजनित शब्द मात्र नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इन्हें वास्तविक स्वीकार करके ही विभिन्न दार्शनिक अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत सत्ता के स्वरूप का निषेध और स्वयं द्वारा मान्य स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं। साथ ही इसके विशेष प्रकार के स्वरूप की स्वीकृति चेतना के वर्तमान स्वरूप और उसके चरम लक्ष्य को भी प्रभावित करती है। एक उपयोगात्मक चेतना का आराधक ज्ञानार्जन के प्रति सदैव उत्साही होता है जबकि साक्षीभावरूप चेतना का आराधक उसके प्रति उदासीन हो जाता है। प्रथम का आदर्श सर्वज्ञता तथा द्वितीय का चरम लक्ष्य निर्विषयक चेतना होती है। इस प्रकार एक सत्ता शुद्ध निर्विशेष सत्ता मात्र न होकर विशिष्ट प्रकार की सत्ता है तथा उसके वैशिष्ट्य के नियामक सत्तापेक्षया परस्पर पृथक् अनेक वास्तविक स्वभाव हैं।

अकलंकदेव ज्ञेय पदार्थ के एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक स्वरूप के कारण ज्ञान के धर्मधर्म्यात्मक सविकल्पक स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि ज्ञान का आकार सदैव वस्तु का सही स्वरूप है, अन्य नहीं, रूप सविकल्पक ज्ञानरूप ही होता है। यदि ऐसा न मानकर सत्ता को पूर्णतया एकस्वभावी और निरंश ही स्वीकार किया जाए तथा यह कहा जाए कि समाधि की अवस्था निर्विकल्पक ज्ञानस्वरूप है, इस अवस्था में शुद्ध निर्विशेष रूप सत्ता ज्ञात होती है और यदि यही ज्ञान यथार्थ है तो इस अवस्था को प्राप्त कर चुके बुद्ध, शंकर आदि सभी दार्शनिक तत्त्वदर्शी होने चाहिएं और उनके मध्य विद्यमान सभी विवाद समाप्त हो जाने चाहिएं। साथ ही किसी भी प्रकार की विशेषताओं से रहित स्व-संवेदनात्मक सत्ता के वचनातीत होने के कारण उन्हें मौन धारण कर लेना चाहिए। लेकिन इसके विपरीत ये दोनों ही सत्ता के विशिष्ट स्वरूप को स्वीकार करते हुए एक-दूसरे के मत का खंडन करते हैं।[25] बुद्ध इस स्व-संवेदनात्मक सत्ता के नित्यत्व, सर्वव्यापकत्व आदि के खंडनपूर्वक उसके वैयक्तिक, क्षणिक और विशिष्ट स्वरूप का तथा शंकर उसकी अनित्यता आदि के खंडनपूर्वक उसकी नित्यता आदि विशेषताओं से परिपूर्ण स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं।

उनका यह कार्य यह सिद्ध करता है कि समाधि की अवस्था शुद्ध निर्विशेष पूर्णतया एकस्वभावी स्व-संवेदनरूप नहीं है, बल्कि इस अवस्था में विशिष्ट स्वरूप संपन्न स्व-संवेदन का बोध हुआ है जो समाधि की अवस्था को धर्मधर्म्यात्मक सविकल्पक ज्ञानरूप सिद्ध करता है।

वादिराज मुनिराज कहते हैं कि वस्तुतः आत्मस्वरूप की भावनामय सविकल्पक ज्ञान के चरम प्रकर्षरूप समाधि की अवस्था सविकल्पक ज्ञानरूप ही होती है, निर्विकल्पक नहीं हो सकती।[26] एक मुमुक्षु व्यक्ति श्रवण, मनन और निदिध्यासन की प्रक्रिया द्वारा समाधि की अवस्था को प्राप्त करता है। गुरु के वचनों द्वारा आत्मस्वरूप की जानकारी प्राप्त कर व्यक्ति उसका निरंतर मनन करता है। बार-बार के मननपूर्वक व्यक्ति की तदनुरूप अनुभूति निरंतर अधिक गहन होती जाती है, जिसके परिणामस्वरूप अंत में इसके चरम प्रकर्ष-रूप समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। एक बौद्ध निरंतर अपने क्षणिक, वैयक्तिक, पूर्णतया विशिष्ट, विज्ञानमय एकानेकात्मक भेदाभेदात्मक स्वरूप का मनन करता है। इस स्वरूप की बार-बार भावना से उसकी स्वयं के अन्य सबसे पूर्णतया पृथक प्रतिक्षण परिवर्तनशील चैतन्य स्वरूप की अनुभूति निरंतर अधिक गहरी होती जाती है और अंत में इस स्वरूप की शब्द-रहित तथा गहन अनुभूति-रूप समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। इसी प्रकार एक वेदांती गुरुपदेशपूर्वक स्वयं के ब्रह्मस्वरूप को


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जानकर निरंतर यह मनन करता है कि मैं ब्रह्म हूं। इसके फलस्वरूप उसे स्वयं के सार्वभौमिक, कूटस्थनित्य, साक्षी-रूप सच्चिदानंदस्वरूप की क्रमशः अधिक गहन अनुभूति होते हुए अंत में इस अनुभूति के चरम प्रकर्ष-रूप समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। इस प्रकार समाधि की अवस्था शुद्ध निर्विशेष स्व-संवेदन मात्र न होकर विशिष्ट प्रकार की स्वानुभूति है जो इस अवस्था में ज्ञात हो रहे तत्त्व के एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक स्वरूप को सिद्ध करती है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन की प्रक्रियापूर्वक समाधि की अवस्था की प्राप्ति न केवल एक सत्ता के अनेक गुणात्मक स्वरूप को बल्कि उसके अनेक क्रमभावी विशेष पर्यायों में व्याप्त एक अस्तित्व को भी सिद्ध करती है।

जिस प्रकार हमें अनेक गुणों के ज्ञानपूर्वक एक द्रव्य का और द्रव्य के ज्ञानपूर्वक उसके एक गुण के विशिष्ट स्वरूप का ज्ञान होता है। उसी प्रकार हम अनेक अवयवों के ज्ञानपूर्वक एक अवयवी को जानते हैं तथा जैसे-जैसे अवयवी की समझ में वृद्धि होती जाती है, वैसे-वैसे उसके अवयवों की समझ भी अधिक विकसित और परिष्कृत होती जाती है, जो एक स्थूल वस्तु के अवयव-अवयव्यात्मक स्वरूप को सिद्ध करती है। बौद्ध कहते हैं कि अनेक अवयव ही वास्तविक और स्वतंत्र सत्ताएं हैं। उन अनेक अवयवों का एक अवयवीरूप में होने वाला ज्ञान अनादि वासनाजनित मानसिक कल्पना मात्र होने के कारण मिथ्या है। जिस प्रकार दूर से देखने पर विरल केशों में घनाकारता का भ्रामक प्रतिभास होता है उसी प्रकार हम परस्पर स्वतंत्र अनेक परमाणुओं में निकटता और सादृश्य के कारण एकत्व का आरोप करके उन्हें एक अवयवी-घट, वस्त्र आदि रूप में पहचानते हैं। वस्तुतः घट, वस्त्र आदि स्थूल पदार्थ वास्तविक पदार्थ न होकर अनेक परमाणुओं के समूह पर आरोपित एक नाम मात्र हैं और इसलिए इन्हें जानने वाला ज्ञान मिथ्या है। वादिराज मुनिराज बौद्धों के इस मत की आलोचना करते हुए कहते हैं कि बौद्ध स्थूल वस्तु के खंडन के लिए प्रस्तुत किए गए अनुमान में विरल केशों में भ्रामक घनाकारता का दृष्टांत देते हैं। केशों में घनाकारता का ज्ञान तभी भ्रामक हो सकता है, जबकि उनकी विरलता का ज्ञान यथार्थ हो तथा उनकी विरलता का ज्ञान तभी यथार्थ हो सकता है जब विरलता के अधिष्ठान केशों का ज्ञान यथार्थ हो जो स्वयं स्थूल वस्तु रूप हैं। यदि केश ज्ञान यथार्थ हैं तो स्थूल वस्तु का खंडन नहीं किया जा सकता। यदि वह मिथ्या है तो उसके द्वारा कुछ भी सिद्ध नहीं किया जा सकता।[27]

निश्चित रूप से एक अवयवी अपने अवयवों के अतिरिक्त कुछ नहीं है। लेकिन वह अपने अवयवों का समूह मात्र न होकर उनमें व्याप्त एक अखंड सत्ता है। संयोग संबंध से संबंधित अनेक अवयव परस्पर एक-दूसरे से संबंधित और प्रभावित होकर एक अवयवीरूपता को प्राप्त करते हैं। इस अवस्था में वे एक ऐसे विशिष्ट स्वरूप को प्राप्त करते हैं जिसका उनमें अन्यथा अभाव होता है।[28] उदाहरण के लिए विभिन्न तंतुओं में ओढ़ने-बिछाने रूप कार्य को करने की सामर्थ्य का अभाव होता है, लेकिन वे ही तंतु जब परस्पर आतान-वितान रूप से संयुक्त होकर एक वस्त्ररूप विशिष्ट स्वरूप को प्राप्त करते हैं तो उनमें यह नवीन सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार वस्त्र के अनेक तंतुओं के समूह पर आरोपित एक नाम मात्र न होकर एक वास्तविक सत्ता होने के कारण विशिष्ट रूप से संयुक्त अनेक तंतुओं के ज्ञानपूर्वक होने वाला एक वस्त्र का ज्ञान यथार्थ ज्ञान है।

एक ज्ञेय पदार्थ के अवयय-अवयव्यात्मक स्वरूप को स्पष्टतः समझने के लिए हम शरीर के दृष्टांत पर विचार करें। हाथ, पैर, सिर, हृदय आदि अनेक अंग एक विशेष प्रकार से संयुक्त होकर एक जटिल संगठन—शरीररूपता को प्राप्त करते हैं। इस संगठन के सभी अंगों का अपना-अपना निश्चित और विशिष्ट स्वरूप होता है, अपनी-अपनी शक्तियां और उपयोगिताएं होती हैं, लेकिन ये अपने इस विशिष्ट स्वरूप को शरीर के एक अंग के रूप में ही अर्थात् शरीर के अन्य अंगों से संबंधित और प्रभावित होकर ही प्राप्त करते हैं तथा शरीर से अलग हो जाने पर इनका इन विशिष्ट स्वरूपों में अस्तित्व समाप्त हो जाता है। उदाहरण के लिए हाथ का अपना एक निश्चित आकार होता है। वह वस्तुओं को उठाने, रखने आदि कार्यों को करने की क्षमता से युक्त होता है, उसमें सजीवता, रक्त का संचार आदि विशेषताएं होती हैं। लेकिन हाथ अपने इस विशिष्ट स्वरूप में अस्तित्व शरीर के अंग के रूप में ही रखता है तथा शरीर से पृथक हो जाने पर उसका इस विशिष्ट स्वरूप से अस्तित्व समाप्त हो जाता है। इस प्रकार हाथ, पैर आदि विभिन्न अंगों के शरीर के एक अंग के रूप में ही एक विशिष्ट स्वरूप में अवस्थित होने के कारण इन अंगों के ज्ञानपूर्वक शरीर ही आंशिक रूप से ज्ञात होता है तथा शरीर के समस्त अंगों के ज्ञात होने पर ही शरीर संपूर्णतः ज्ञात कहलाता है।

क्योंकि एक अवयव अपने विशिष्ट स्वरूप को अवयवी के एक अंग के रूप में ही, अर्थात् संपूर्ण अवयवों से



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संबंधित और प्रभावित होकर ही प्राप्त करता है, इसलिए न केवल अवयवों के ज्ञान में वृद्धि के साथ ही साथ अवयवी के ज्ञान में वृद्धि होती जाती है, बल्कि अवयवी के ज्ञान में हो रहा विकास उसके विभिन्न अवयवों के ज्ञान को भी अधिक परिष्कृत और समृद्ध करता है। अवयवी के प्रति अब तक अर्जित जानकारी अनेक नई जिज्ञासाओं को जन्म देती है, जिनके समाधान हेतु किए गए प्रयत्नपूर्वक अर्जित नवीन विशेषताओं का ज्ञान संपूर्ण अवयवी के ज्ञान को अधिक स्पष्टता प्रदान करता है। जैसे शरीर के हाथ, पैर विभिन्न अवयवों का निर्माण एक निश्चित व्यवस्था के अनुसार ही क्यों होता है, विभिन्न व्यक्तियों के रंग, स्वभाव आदि में अंतर क्यों पाया जाता है, दुनिया में कोई भी दो व्यक्ति पूर्णतया समान क्यों नहीं होते, आदि प्रश्नों के समाधानार्थ खोजे गए शरीर के अवयव-जींस न केवल शरीर के संबंध में हमारी जानकारी में वृद्धि करते हैं बल्कि ये शरीर और उसके अवयवों के संबंध में हमारे पूर्वार्जित ज्ञान को अधिक स्पष्टता और वैशिष्ट्य भी प्रदान करते हैं। यह ज्ञेय पदार्थ के अवयव-अवयव्यात्मक स्वरूप को सिद्ध करता है।

इंद्रिय प्रत्यक्ष द्वारा एक स्थूल वस्तु अवयव-अवयव्यात्मक स्वरूप में ही ज्ञात होती है, लेकिन जब हम उसे भाषा से समझना चाहते हैं तो यह अवयव और अवयवी को परस्पर अलग करके एक-एक वाक्य में अवयवी के एक-एक अवयव के पृथक्-पृथक् और क्रमिक वर्णनपूर्वक ही संभव हो पाता है। भाषा का यह स्वरूप हममें अनेक बार यह भ्रम पैदा कर देता है कि एक अवयवी अनेक अवयवों का समूह मात्र है अथवा यह कि अवयव आदि धर्म स्वतंत्र तथा परस्पर निरपेक्ष सत्ताएं हैं तथा अवयवी आदि धर्मी उनसे भिन्न सत्ता हैं। इसलिए जैन आचार्यों के अनुसार भाषा द्वारा वस्तु को निर्भ्रांति तथा यथावस्थित स्वरूप में जानने के लिए वर्णित विषय को स्याद्वादनय संस्कृत रूप में ग्रहण करना आवश्यक है।

ज्ञान का विषयभूत पदार्थ युगपत् विद्यमान अनेक गुणों और अवयवों में व्याप्त एक सत्ता ही नहीं है, बल्कि वह अनेक क्रमवर्ती पर्यायों में व्याप्त एक द्रव्य भी है। उसके अनेक सहवर्ती गुण और अवयव उसका ऐसा अनिवार्य, सामान्य और ध्रुव स्वरूप है जिसमें अनेक विशेष रूपों में परिणमित होने की सामर्थ्य तथा आंतरिक-बाह्य कारणों के सद्भावानुसार सदैव किसी विशेष स्वरूप को प्राप्त करने की प्रकृति विद्यमान है। अपनी इस सामर्थ्य और प्रवृत्ति के कारण वस्तु का अनेक अवयव, गुणात्मक सामान्य स्वरूप सदैव किसी विशेष स्वरूप में अभिव्यक्त होकर ही विद्यमान होता है तथा वह अनंतावर्ती क्षण में सामान्य रूप से वही रहते हुए पूर्ववर्ती विशेष स्वरूप से नष्ट होकर उत्तरवर्ती विशेष स्वरूप को प्राप्त करता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु प्रतिसमय उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप है। एक वस्तु का अनेक शक्ति-संपन्न, सामान्य और ध्रुव स्वरूप उसकी द्रव्य-रूपता है तथा इस ध्रुव स्वरूप की समय-विशेष में विद्यमान उत्पत्ति-विनाशवान विशिष्ट अभिव्यक्ति उसकी पर्यायरूपता है। अतः प्रत्येक वस्तु सदैव द्रव्यपर्यायात्मक, सामान्य-विशेषात्मक होती है।

प्रत्यक्ष, अनुमानादि समस्त प्रमाणों से हमें द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु ही ज्ञात होती है। जैसे प्रत्यक्ष द्वारा हमें कुंडलीयमान सर्प ज्ञात होता है।[29] वही सर्प पुनः-पुनः प्रत्यक्ष का विषय बनने पर उत्फण, विफण, प्रसारणादि परस्पर विलक्षण और उत्पत्ति-विनाशवान क्रमवर्ती पर्याय-रूप से अवस्थित एक अन्वयी द्रव्य—सर्परूप में ज्ञात होता है।[30] हम देखते हैं कि जो रूपरसगंधस्पर्शमय आम, प्रारंभ में हरित रंग, खट्टे स्वाद आदि रूप कच्चे आम स्वरूप होता है; कुछ दिन पश्चात् वही आम पककर पीले रंग, मीठे स्वाद स्वरूप हो जाता है; और एक-दो दिन पश्चात् वह आम सड़ जाता है, उसका पीला रंग काले रंग में तथा मीठा स्वाद कड़वे स्वाद में रूपांतरित हो जाता है। इस प्रकार अनेक क्रमवर्ती प्रत्यक्षोंपूर्वक होने वाला एक वस्तु का 'कच्चा आम', 'पका हुआ आम', 'सड़ा हुआ आम' रूप ज्ञान न केवल उस वस्तु की अनेक विलक्षण पर्यायरूपता को सिद्ध करता है, बल्कि इन प्रत्यक्षोंपूर्वक होने वाला 'यह वही आम है' रूप एकत्व प्रत्यभिज्ञान उन पर्यायों की एक अन्वयी द्रव्यरूपता को भी सिद्ध करता है।[31]

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उस आम जैसे अनेक आमों के पुनः-पुनः ज्ञान से हमें उनके परिवर्तनशील-स्थाई, सामान्य-विशेषात्मक स्वरूप का ही ज्ञान नहीं होता, बल्कि इसके द्वारा हम यह भी जानते हैं कि एक वस्तु का अनेक पर्यायों रूप से परिणमन निश्चित कारणात्मक नियमों के अनुसार होता है तथा आंतरिक-बाह्य कारणों की भिन्नता के अनुसार वस्तु में घटित होने वाली परिवर्तन की प्रक्रिया का स्वरूप भिन्न होता है। जैसे अनेक अन्वय व्यतिरेकी दृष्टांतों के प्रत्यक्षपूर्वक हमें यह ज्ञान होता है कि यदि आम को घास में रखकर पकाया जाता है तो वह पेड़ पर स्वाभाविक रूप से पकने की अपेक्षा शीघ्रता से पकता है, यदि उसे रसायनों से पकाया जाए तो यह प्रक्रिया बहुत तीव्र



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो जाती है, यदि उसे फ्रिज में रख दिया जाए तो यह प्रक्रिया अत्यंत मंद हो जाती है...। इस प्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा एक वस्तु के अनेक अन्वयव्यतिरेकी दृष्टांतों के ज्ञानपूर्वक होने वाले कारण-कार्य संबंधों के ज्ञान के परिणाम स्वरूप द्रव्य के शक्ति-व्यक्तिमय द्रव्य-पर्यायात्मक स्वरूप का ज्ञान निरंतर अधिक स्पष्ट और परिष्कृत होता जाता है।

बौद्ध कहते हैं कि द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु का ज्ञान यथार्थ न होकर अनादि वासनाजनित भ्रम मात्र है। प्रत्येक वस्तु मात्र एक क्षण स्थाई होती है तथा प्रत्यक्ष द्वारा सामने स्थित वर्तमानकालीन सत्ता को ही विषय बनाए जा सकने के कारण यह क्षणिक सत्ता ही प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात होती है। अनेक क्रमवर्ती प्रत्यक्षों द्वारा ज्ञात हो रहे अनेक क्षणिक पदार्थों में विद्यमान सादृश्य के कारण हमारा मन उन पर एकत्व का आरोपण कर देता है, जिसके परिणामस्वरूप हमें उन क्षणिक तत्त्वों की एक द्रव्यरूपता का भ्रम होता है। इसलिए सत्ता के द्रव्य-पर्यायात्मक स्वरूप का ज्ञान मिथ्या है।

जैन दार्शनिक उपर्युक्त आपत्ति को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि निश्चित रूप से प्रत्यक्ष का विषय वर्तमानकालीन सत्ता ही होती है। भूत, भविष्यकालीन पर्यायें प्रत्यक्ष का विषय नहीं होतीं। लेकिन यह वर्तमानकालीन पदार्थ अपनी पूर्वापर पर्यायों से पूर्णरूपेण असंबद्ध, स्वतंत्र क्षणिक पर्याय मात्र ही नहीं है, बल्कि वह युगपत् और क्रमिक रूप से अनेक कार्यों के संपादन की सामर्थ्य से परिपूर्ण तथा उत्तरवर्ती पर्यायरूप से परिणमन की प्रवृत्तिमय द्रव्य भी है। उसके इस वर्तमान पर्याय विशिष्ट द्रव्यरूपता के कारण हम प्रत्यक्ष द्वारा उसके वर्तमानकालीन व्यक्त स्वरूप को जानने के उपरांत उसकी अर्थक्रियासामर्थ्य का अनुमान कर उसके द्वारा कार्य करने में प्रवृत्त होते हैं तथा अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि कर सफलता प्राप्त करते हैं। उदाहरण के लिए किसी वस्तु का 'यह सूई है' रूप से प्रत्यक्ष होते समय हम उसके ऐसे विशिष्ट स्वरूप को जानते हैं जिसमें धागा पिरोकर उससे सिलाई की जा सकती है; इस विशिष्ट स्वरूप के ज्ञानपूर्वक ही हम उसकी अर्थक्रिया सामर्थ्य का अनुमान करके कपड़ा सिलने की क्रिया में प्रवृत्त होते हैं और सफलता प्राप्त करते हैं। एक ही वस्तु का प्रत्यक्ष, अनुमानादि प्रमाणों से पुनः-पुनः ज्ञान तथा उसके अनुसार कार्य करने हेतु प्रवृत्ति उस वस्तु के द्रव्य-पर्यायात्मक होने पर ही संभव है।

एक द्रव्य अपनी अनंत संभावनाओं से परिपूर्ण तथा निरंतर नई पर्याय रूप से परिणमन की प्रवृत्तिमय तत्त्व होने के कारण सदैव विशेष पर्याय-स्वरूप होकर ही अस्तित्व रखता है तथा पर्यायरहित द्रव्य की सत्ता कभी नहीं होती। दूसरे शब्दों में एक द्रव्य का वर्तमानकालीन व्यक्त अस्तित्व ही पर्याय है। यह वर्तमानकालीन व्यक्ति या पर्याय ही संपूर्ण द्रव्य है, क्योंकि द्रव्य के समस्त गुण अपनी संपूर्ण संभावनाओं के साथ उस द्रव्य का स्वरूप हैं। इसलिए द्रव्य के गुणात्मक स्वरूप के ज्ञान में जितनी वृद्धि होती जाती है, उसके द्रव्य-पर्यायात्मक स्वरूप का ज्ञान भी उतना ही वैशिष्ट्य प्राप्त करता जाता है। सूई को 'बारीक सूई' रूप विशिष्ट स्वरूप में जानने पर उसकी कपड़ा सिलने रूप अर्थक्रिया सामर्थ्य का ज्ञान भी विशिष्टता प्राप्त कर सकता है। व्यक्ति को परवर्ती अनुभवों द्वारा यह बोध हो सकता है कि इस बारीक सूई से पतले कपड़े की सिलाई की जा सकती है, बारीक कशीदा निकाला जा सकता है; लेकिन इससे मोटा कपड़ा सिला जा सकना संभव नहीं है; इस बारीक सूई से पैर में चुभी हुई सींक को निकाला जा सकता है, लेकिन यदि यह स्वयं पैर में चुभ गई तो रक्त के साथ संचार करते हुए व्यक्ति की मृत्यु का कारण भी बन सकती है। सूई की लौहरूपता, पुद्‌गल द्रव्यरूपता आदि युगपत् विद्यमान विशेषताओं के ज्ञान में जितनी-जितनी वृद्धि होती है व्यक्ति के उस पर्याय के द्रवणशील स्वभावमय द्रव्यात्मक स्वरूप के ज्ञान में भी उतनी ही वृद्धि होने की संभावना उत्पन्न हो जाती है।

किसी भी वस्तु को जानने का अर्थ सामान्य रूप से उस वस्तु के समस्त गुणों को जान लेना मात्र नहीं है, बल्कि उसके लिए यह जानना भी आवश्यक है कि इन गुणों की किन-किन परिस्थितियों में क्या-क्या अवस्थाएं होती हैं। इसलिए शास्त्रों में आत्मा के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए आत्मा के गुण-अस्तित्व, वस्तुत्व-ज्ञान, दर्शन, सुख-वीर्य आदि का सामान्य रूप से ही वर्णन नहीं किया गया, बल्कि यह भी बताया गया है कि आत्मा के इन अनेक गुणात्मक सामान्य स्वरूपों का किन-किन परिस्थितियों में किन-किन विशेष स्वरूपों में परिणमन होता है। आत्मा के इस द्रव्य-पर्यायात्मक स्वरूप के ज्ञानपूर्वक ही व्यक्ति अनिष्ट गतियों रूप से परिगमित होने से बचकर अपने अभीष्ट स्वरूप मुक्तावस्था को प्राप्त कर सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रत्येक वस्तु अनेकांतात्मक—एकानेकात्मक, भेदाभेदात्मक, सामान्य-विशेषात्मक, नित्यानित्यात्मक सत्ता है। जगत में विद्यमान प्रत्येक जड़-चेतन पदार्थ अनेक सहवर्ती गुणों और अनंत



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

संभावनाओं से परिपूर्ण परिणमनशील द्रव्य है तथा उसकी विभिन्न संभावनाओं की अभिव्यक्ति निश्चित कारणात्मक नियमों के अनुसार घटित होने वाली परिवर्तन की प्रक्रिया द्वारा होती है। सत्ता के इस शक्ति-व्यक्तिमय द्रव्यगुणपर्यायात्मक स्वरूप के ज्ञानपूर्वक ही समस्त लोक-व्यवहार तथा आध्यात्मिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु पुरुषार्थ संभव है। आज विज्ञान द्वारा पुद्गल द्रव्य में अंतर्निहित असीम संभावनाओं को पहचानने तथा उन संभावनाओं की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को समझकर प्रकृति पर नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास किया जा रहा है। प्राचीन काल में भारतीय मनीषियों ने आत्मा के अनंत शक्तिसंपन्न परिणमनशील स्वरूप को समझने हेतु गहन अनुसंधान कार्य किया है। उन्होंने न केवल विभिन्न जीवों के ज्ञानादि गुणों की अभिव्यक्ति में घटित हो रही उत्थान-पतन की प्रक्रिया की व्याख्या हेतु कर्मसिद्धांत का विस्तृत विवेचन किया है, बल्कि उन्होंने इस सत्य का भी प्रतिपादन किया है कि जिस आत्मा में शक्तिरूप से अनंत दर्शन ज्ञान सुख-वीर्य विद्यमान है वह वर्तमान समय में अपने-आप को शक्तिहीन, अज्ञानी और दुखी क्यों महसूस कर रहा है? साथ ही वह अपने इस वर्तमानकालीन व्यक्त स्वरूप का परित्याग कर अपने में शक्तिरूप से विद्यमान परमात्मस्वरूप को किस प्रकार प्राप्त कर सकता है? ज्ञानार्जन की यह प्रक्रिया तथा इसके फलस्वरूप लौकिक और आध्यात्मिक सभी प्रकार के लक्ष्यों की सिद्धि हेतु किया जाने वाला पुरुषार्थ—दोनों ही कार्य सत्ता के अनेकांतात्मक स्वरूप को सिद्ध करते हैं। ❖

**संदर्भ :**


1. सदसन्नित्यानित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः।

—अष्टश. अष्टस. पृ. 286

2. यदेव तत् तदेव अतत्, यदेवैकं तदेवानेकम्, यदेव सत् तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यम्, इत्येकवस्तुवस्तुत्व-निष्पादक परस्परविरुद्धशक्तिद्वय-प्रकाशनमनेकान्तः।

—समयसार (आत्मख्याति) स्याद्वाद अधिकार

3. गुणगुण्यादि संज्ञादि भेदात् भेदस्वभावः।

—आलाप पद्धति, सूत्र-112

4. स्वद्रव्यचटुष्ठमापेक्षया, गुणाः परस्पर स्वभावाः भवन्ति। द्रव्याण्यपि भवन्ति।

वही, सूत्र-119

वही, सूत्र-120

5. तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्वति उवदेसो।

—प्रवचनसार, गाथा-87, उत्तरार्द्ध

6. अभेदभेदात्मक अर्थतत्त्व तव स्वतन्त्रान्तान्यतरत् खपुष्पम्। युक्त्यानुशासन—7 पूर्वार्द्ध कारणकार्यद्रव्ययोर्गुणगुणिनोः कर्मतद्वतो सामान्यतद्वतो विशेषतद्वतोश्च पदार्थान्तरतया स्वतन्त्रयो सकृदप्यप्रतीयमानत्वात् सर्वदा अवयवायव्यात्मनो गुणगण्यात्मनः कर्मतद्वदात्मनः सामान्यविशेषात्मनश्च अर्थतत्वस्य जात्यन्तरस्य प्रत्यशादितः सर्वस्य निर्वाधिगवभासमात्।

—युक्त्यानुशासन टीका; पृ. 22

7. न्यायविनिश्चय 1/3

8. तत्त्वार्थवार्तिक भाग-1 पृ. 182

9. न्यायविनिश्चय, 1/5

10. सत्द्रव्यलक्षणम्, तत्त्वार्थसूत्र 5/29

11. उत्पाद्व्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। तत्त्वार्थ सूत्र 5/30

12. आलाप पद्धति, सूत्र—95

धर्मी तावत् अनन्तधर्मा जीवादिः, प्रमेयत्वाव्यथानुपपत्ते।

—अष्टसहस्री, पृष्ठ 152

13. अष्टसहस्री, पृष्ठ-152

14. अष्टसहस्री, पृष्ठ 159

15. सिद्धिविनिश्चय—10/3

16. लघीयस्त्रय—62

17. अष्टसहस्री—पृष्ठ 290

18. तत्त्वार्थवार्तिक—पृष्ठ 94

19. अष्टसहस्री, पृष्ठ 15

20. प्रमाण वार्तिक, मनोरथ नन्दि वृत्ति, 3/41

21. Encyclopedia of Indian Philosophy. Vol. III

22. समयसार : गाथा 6-7

23. अनन्त धर्मेणस्तत्त्वं पश्यन्ति प्रत्यगात्मनः।

—समयसार, कलश-2 पूर्वार्द्ध

24. समयसार गाथा : 7 पर अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका

25. अयमेवं न वेत्येनमविचारितगोचरः ।।163।।

जायेरन् संविदात्मानः सर्वेषामविशेषतः।

—न्यायविनिश्चय, 1/63 उत्तरार्द्ध 64 पूर्वार्द्ध

26. न्यायविनिश्चय विवरण; भाग-1; पृष्ठ-22

27. प्रमाणवार्तिकालंकार 2/223

28. न्याय कुमुदचन्द्रः भाग-1, पृष्ठ-227

29. प्रत्यक्षप्रतिसंवेद्यः कुण्डलादिषु सर्पवत्।

—न्यायविनिश्चय 1/120 पूर्वार्द्ध

30. न्यायविनिश्चय विवरण; भाग-1; पृष्ठ-445

31. भेदज्ञानात-प्रतीयेते प्रादुर्भावात्ययौ यदि।

अभेदज्ञानतः सिद्धा स्थितिरंशेन केनचित्।

—न्यायविनिश्चय 1/118


❖❖




Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अनेकांत : सत्य के खोज की व्यावहारिक पद्धति

प्रो. सागरमल जैन

अनेकांतवाद का मूल प्रयोजन सत्य को उसके विभिन्न आयामों में देखने, समझने और समझाने का प्रयत्न है। यही कारण है कि मानवीय प्रज्ञा के विकास के प्रथम चरण से ही ऐसे प्रयास परिलक्षित होने लगते हैं। भारतीय मनीषा के प्रारंभिक काल में हमें इस दिशा में दो प्रकार के प्रयत्न दृष्टिगत होते हैं—(क) बहुआयामी सत्ता के किसी पक्ष-विशेष की स्वीकृति के आधार पर अपनी दार्शनिक मान्यता का प्रस्तुतीकरण तथा (ख) उन एकपक्षीय (ऐकांतिक) अवधारणाओं के समन्वय का प्रयास। समन्वयसूत्र का सृजन ही अनेकांतवाद की व्यावहारिक उपादेयता को स्पष्ट करता है। वस्तुतः अनेकांतवाद का कार्य त्रिविध है—प्रथम, यह विभिन्न ऐकांतिक अवधारणाओं के गुण-दोषों की तार्किक समीक्षा करता है। दूसरे, वह उस समीक्षा में यह देखता है कि इस अवधारणा में जो सत्यांश है वह किस अपेक्षा से है। तीसरे, वह उन सापेक्षिक सत्यांशों के आधार पर, उन एकांतवादों को समन्वित करता है।

अनेकांतवाद एक दार्शनिक सिद्धांत होने की अपेक्षा दार्शनिक मंतव्यों, मान्यताओं और स्थापनाओं को उनके सम्यक् परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने की पद्धति (Method)-विशेष है। इस प्रकार अनेकांतवाद का मूल प्रयोजन सत्य को उसके विभिन्न आयामों में देखने, समझने और समझाने का प्रयास करना है। अतः वह सत्य की खोज की एक व्यावहारिक पद्धति है, जो सत्ता (Reality) को उसके विविध आयामों में देखने का प्रयत्न करती है। दार्शनिक विधियां दो प्रकार की होती हैं—1. तार्किक या बौद्धिक और 2. आनुभविक। तार्किक विधि सैद्धांतिक होती है, वह दार्शनिक स्थापनाओं में तार्किक संगति को देखती है। इसके विपरीत आनुभविक विधि सत्य की खोज तर्क के स्थान पर मानवीय अनुभूतियों के सहारे करती है। उसके लिए तार्किक संगति की अपेक्षा आनुभविक संगति ही अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। अनेकांतवाद की विकास-यात्रा इसी आनुभविक पद्धति के सहारे चलती है। उसका लक्ष्य 'सत्य' क्या है, यह बताने की अपेक्षा सत्य कैसा अनुभूत होता है—यह बताना है। अनुभूतियां वैयक्तिक होती हैं और इसीलिए अनुभूतियों के आधार पर निर्मित दर्शन भी विविध होते हैं। अनेकांत का कार्य उन सभी दर्शनों की सापेक्षिक सत्यता को उजागर करके उनमें रहे हुए विरोधों को समाप्त करना है। इस प्रकार अनेकांत एक सिद्धांत होने की अपेक्षा एक व्यावहारिक पद्धति ही अधिक है। यही कारण है कि अनेकांतवाद की एक दार्शनिक सिद्धांत के रूप में स्थापना करने वाले आचार्य सिद्धसेन दिवाकर (ई. चतुर्थ शती) को भी अनेकांतवाद की इस व्यावहारिक महत्ता के आगे नतमस्तक होकर कहना पड़ा—

> जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ।
> तस्स भुवणेक्क गुरुणो णमो अणेगंतवायस्स।।
>
> सन्मति-तर्क-प्रकरण-3।70

अर्थात् जिसके बिना लोक-व्यवहार का निर्वहन भी सर्वथा संभव नहीं है, उस संसार के एकमात्र गुरु अनेकांतवाद को नमस्कार है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अनेकांतवाद एक व्यावहारिक दर्शन है। इसकी महत्ता उसकी व्यावहारिक उपयोगिता पर निर्भर है। उसका जन्म दार्शनिक विवादों के सृजन के लिए नहीं, अपितु उनके निराकरण के लिए हुआ है। दार्शनिक विवादों के बीच समन्वय के सूत्र खोजना ही अनेकांतवाद की व्यावहारिक उपादेयता का प्रमाण है। अनेकांतवाद का यह कार्य त्रिविध है—

1. प्रत्येक दार्शनिक अवधारणा के गुण-दोषों की समीक्षा करना और इस समीक्षा में यह देखने का प्रयत्न करना कि उसकी हमारे व्यावहारिक जीवन में क्या उपयोगिता है। जैसे बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद और



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनात्मवाद की समीक्षा करते हुए यह देखना कि तृष्णा के उच्छेद के लिए क्षणिकवाद और अनात्मवाद की दार्शनिक अवधारणाएं कितनी आवश्यक एवं उपयोगी हैं।

2. प्रत्येक दार्शनिक अवधारणा की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करना और यह निश्चित करना कि उसमें जो सत्यांश है, वह किस अपेक्षा-विशेष से है। जैसे यह बताना कि सत्ता की नित्यता की अवधारणा द्रव्य की अपेक्षा से अर्थात् द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से सत्य है और सत्ता की अनित्यता उसकी पर्याय की अपेक्षा से औचित्यपूर्ण है। इस प्रकार वह प्रत्येक दर्शन की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करता है और वह सापेक्षिक सत्यता किस अपेक्षा से है, उसे भी स्पष्ट करता है।

3. अनेकांतवाद का तीसरा महत्त्वपूर्ण उपयोगी कार्य विभिन्न ऐकांतिक मान्यताओं को समन्वय के सूत्र में पिरोकर उनके एकांत रूपी दोष का निराकरण करते हुए उनके पारस्परिक विद्वेष का निराकरण कर उनमें सौहार्द और सौमनस्य स्थापित कर देना है। जिस प्रकार एक वैद्य किसी विष-विशेष के दोषों की शुद्धि करके उसे ओषधि बना देता है उसी प्रकार अनेकांतवाद भी दर्शनों अथवा मान्यताओं के एकांतरूपी विष का निराकरण करके उन्हें एक-दूसरे का सहयोगी बना देता है। अनेकांतवाद के उक्त तीनों ही कार्य (Functions) उसकी व्यावहारिक उपादेयता को स्पष्ट कर देते हैं।

दर्शन का जन्म मानवीय जिज्ञासा से होता है। ईसा पूर्व छठी शती में मनुष्य की यह जिज्ञासा पर्याप्त रूप से प्रौढ़ हो चुकी थी। अनेक विचारक विश्व के रहस्योद्घाटन के लिए प्रयत्नशील थे। इन जिज्ञासु चिंतकों के सामने अनेक समस्याएं थीं, जैसे—इस दृश्यमान विश्व की उत्पत्ति कैसे हुई, इसका मूल कारण क्या है? वह मूल कारण या परम तत्त्व जड़ है या चेतन? पुनः यह जगत सत् से उत्पन्न हुआ है या असत् से? यदि यह संसार सत् से उत्पन्न हुआ तो वह सत् या मूल तत्त्व एक है या अनेक। यदि वह एक है तो वह पुरुष (ब्रह्म) है या पुरुषेतर (जड़ तत्त्व) है, यदि पुरुषेतर है तो वह जल, वायु, अग्नि, आकाश आदि में से क्या है? पुनः यदि वह अनेक है तो वे अनेक तत्त्व कौन-से हैं? पुनः यदि यह संसार सृष्ट है तो वह स्रष्टा कौन है? उसने जगत की सृष्टि क्यों की और किससे की? इसके विपरीत यदि यह असृष्ट है तो क्या अनादि है? पुनः यदि यह अनादि है तो इसमें होने वाले उत्पाद, व्ययरूपी परिवर्तनों की क्या व्याख्या है, आदि। इस प्रकार के अनेक प्रश्न मानव-मस्तिष्क में उठ रहे थे। चिंतकों ने अपने चिंतन एवं अनुभव के बल पर इनके अनेक प्रकार से उत्तरों दिए। चिंतकों या दार्शनिकों के इन विविध उत्तर या समाधानों का कारण दोहरा था, एक ओर वस्तु तत्त्व या सत्ता की बहुआयामिता और दूसरी ओर मानवीय बुद्धि, ऐंद्रिक अनुभूति एवं अभिव्यक्ति-सामर्थ्य की सीमितता। फलतः प्रत्येक चिंतक या दार्शनिक ने सत्ता को अलग-अलग रूप में व्याख्यायित किया।

अनेकांतवाद का मूल प्रयोजन सत्य को उसके विभिन्न आयामों में देखने, समझने और समझाने का प्रयत्न है। यही कारण है कि मानवीय प्रज्ञा के विकास के प्रथम चरण से ही ऐसे प्रयास परिलक्षित होने लगते हैं। भारतीय मनीषा के प्रारंभिक काल में हमें इस दिशा में दो

**सच्चा अनेकांतवादी किसी दर्शन से द्वेष नहीं करता। वह संपूर्ण दृष्टिकोणों (दर्शनों) को इस प्रकार वात्सल्य दृष्टि से देखता है जैसे कोई पिता अपने पुत्र को, क्योंकि अनेकांतवादी की न्यूनाधिक बुद्धि नहीं हो सकती। सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का अधिकारी तो वही है, जो स्याद्वाद का आलंबन लेकर संपूर्ण दर्शनों में समान भाव रखता है। वास्तव में माध्यस्थ भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है। माध्यस्थ भाव रहने पर शास्त्र के पद का ज्ञान भी सफल है अन्यथा करोड़ों शास्त्रों का ज्ञान भी वृथा है। क्योंकि जहां आग्रह बुद्धि होती है वहां विपक्ष में निहित सत्य का दर्शन संभव नहीं होता। वस्तुतः शाश्वतवाद, उच्छेदवाद, नित्यवाद, अनित्यवाद, भेदवाद, अभेदवाद, द्वैतवाद, हेतुवाद, नियतिवाद, पुरुषार्थवाद आदि जितने भी दार्शनिक मत-मतांतर हैं, वे सभी परम सत्ता के विभिन्न पहलुओं से लिए गए चित्र हैं और आपेक्षिक रूप से सत्य हैं। द्रव्य दृष्टि और पर्याय दृष्टि के आधार पर इन विरोधी सिद्धांतों में समन्वय किया जा सकता है। अतः एक सच्चा स्याद्वादी किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं करता है, वह सभी दर्शनों का आराधक होता है।**



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार के प्रयत्न दृष्टिगत होते हैं—(क) बहुआयामी सत्ता के किसी पक्ष विशेष की स्वीकृति के आधार पर अपनी दार्शनिक मान्यता का प्रस्तुतीकरण तथा (ख) उन एकपक्षीय (ऐकांतिक) अवधारणाओं के समन्वय का प्रयास। समन्वयसूत्र का सृजन ही अनेकांतवाद की व्यावहारिक उपादेयता को स्पष्ट करता है। वस्तुतः अनेकांतवाद का कार्य त्रिविध है—प्रथम, यह विभिन्न ऐकांतिक अवधारणाओं के गुण-दोषों की तार्किक समीक्षा करता है। दूसरे, वह उस समीक्षा में यह देखता है कि इस अवधारणा में जो सत्यांश है वह किस अपेक्षा से है। तीसरे, वह उन सापेक्षिक सत्यांशों के आधार पर, उन एकांतवादों को समन्वित करता है।

इस प्रकार अनेकांतवाद मात्र तार्किक पद्धति न होकर एक व्यावहारिक दार्शनिक पद्धति है। यह एक सिद्धांत मात्र न होकर, सत्य को देखने और समझने की पद्धति (Method or system)-विशेष है, और यही उसकी व्यावहारिक उपादेयता है।

## अनेकांतवाद का व्यावहारिक पक्ष

अनेकांत का व्यावहारिक जीवन में क्या मूल्य और महत्त्व है, इसका यदि ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करें तो हमें सर्वप्रथम उसका उपयोग विवाद परांग्मुखता के साथ-साथ पर-पक्ष की अनावश्यक आलोचना व स्व-पक्ष की अतिरेक प्रशंसा से बचना है। इस प्रकार का निर्देश हमें सर्वप्रथम सूत्रकृतांग (1/1/2/23) में मिलता है। जहां यह कहा गया है कि जो अपने पक्ष की प्रशंसा और पर-पक्ष की निंदा में रत हैं, वे दूसरों के प्रति द्वेष-वृत्ति का विकास करते हैं, परिणामस्वरूप संसार में भ्रमण करते हैं। साथ ही महावीर चाहते थे कि इस अनेकांत शैली के माध्यम से कथ्य के सम्यक् रूप से स्पष्टीकरण हो और इस तरह का प्रयास उन्होंने भगवतीसूत्र में अनैकांतिक उत्तरों के माध्यम से किया है। जैसे जब उनसे पूछा गया कि सोना अच्छा है या जागना, तो उन्होंने कहा कि पापियों का सोना व धार्मिकों का जागना अच्छा है। जैन दार्शनिकों में इस अनेकांत दृष्टि का व्यावहारिक प्रयोग सर्वप्रथम सिद्धसेन दिवाकर ने किया। उन्होंने उद्घोष किया कि संसार के एकमात्र गुरु उस अनेकांतवाद को नमस्कार है जिसके बिना संसार का व्यवहार ही असंभव है। परमतत्त्व या परमार्थ की बात बहुत की जा सकती है, किंतु वह मनुष्य जो इस संसार में रहता है उसके लिए परमार्थ सत्य की बात करना उतनी सार्थक नहीं है जितनी व्यवहार जगत की, और व्यवहार का क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है जहां अनेकांत दृष्टि के बिना काम नहीं चलता है। परिवार में एक ही स्त्री को कोई पत्नी कहता है, कोई पुत्रवधू कहता है, कोई मां कहता है तो कोई दादी, कोई बहन कहता है तो कोई चाची, नानी आदि नामों से पुकारता है। एक व्यक्ति के संदर्भ में विभिन्न पारिवारिक संबंधों की इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता है। आर्थिक क्षेत्र में भी अनेक ऐसे प्रश्न हैं जो किसी एक तात्त्विक एकांतवादी अवधारणा के आधार पर नहीं सुलझाए जा सकते हैं। उदाहरण के रूप में यदि हम एकांतरूप से व्यक्ति को परिवर्तनशील मानते हैं तो यह कहा जा सकता है कि एक सीमा तक उनमें निहित सत्यों को देखने का प्रयत्न किया गया है।

**अनेकांत विचार दृष्टि विभिन्न धर्म-संप्रदायों की समाप्ति द्वारा एकता का प्रयास नहीं करती है। क्योंकि वैयक्तिक रुचि-भेद एवं क्षमता-भेद तथा देशकालगत भिन्नताओं के होते हुए विभिन्न धर्मों एवं संप्रदायों की उपस्थिति अपरिहार्य है। एक धर्म या एक संप्रदाय का नारा असंगत एवं अव्यावहारिक ही नहीं, अपितु अशांति और संघर्ष का कारण भी है। अनेकांत विभिन्न धर्म-संप्रदायों की समाप्ति का प्रयास न होकर उन्हें एक व्यापक पूर्णता में सुसंगत रूप से संयोजित करने का प्रयास हो सकता है। लेकिन इसके लिए प्राथमिक आवश्यकता है—धार्मिक सहिष्णुता और सर्वधर्म समभाव की।**

## दार्शनिक विचारों के समन्वय का आधार अनेकांतवाद

भगवान महावीर और बुद्ध के समय भारत में वैचारिक संघर्ष और दार्शनिक विवाद अपनी चरम सीमा पर थे। जैन आगमों के अनुसार उस समय 363 और बौद्ध आगमों के अनुसार 62 दार्शनिक मत प्रचलित थे। वैचारिक आग्रह और मतांधता के उस युग में एक ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता थी, जो लोगों को आग्रह एवं मतांधता से ऊपर उठकर सही दिशा-निर्देश दे सके। भगवान बुद्ध ने इस आग्रह एवं मतांधता से ऊपर उठने के लिए विवाद परांग्मुखता को अपनाया। सुत्तनिपात में वे कहते हैं, 'मैं विवाद के दो फल



Jain Education International | For Private & Personal Use Only | www.jainelibrary.org

बताता हूं। एक तो वह अपूर्ण व एकांगी होता है और दूसरे कलह एवं अशांति का कारण होता है। अतः निर्वाण को निर्विवाद भूमि समझने वाला साधक विवाद में न पड़े (सुत्तनिपात 51-21)'। बुद्ध ने अपने युग में प्रचलित सभी पर-विरोधी दार्शनिक दृष्टिकोणों को सदोष बताया और इस प्रकार अपने को किसी भी दार्शनिक मान्यता के साथ नहीं बांधा। वे कहते हैं कि पंडित किसी दृष्टि या वाद में नहीं पड़ता (सुत्तनिपात—51-3)। बुद्ध की दृष्टि में दार्शनिक वाद-विवाद निर्वाण मार्ग के साधक के कार्य नहीं हैं (सुत्तनिपात—46-8-9)। अनासक्त, मुक्त पुरुष के पास विवादरूपी युद्ध के लिए कोई कारण ही शेष नहीं रह जाता। इसी प्रकार भगवान महावीर ने भी आग्रह को साधना का सम्यक् पथ नहीं समझा। उन्होंने कहा कि आग्रह, मतांधता या एकांगी दृष्टि उचित नहीं है। जो व्यक्ति अपने मत की प्रशंसा और दूसरों की निंदा करने में ही पांडित्य दिखाते हैं, वे संसार-चक्र में घूमते रहते हैं (सूत्रकृतांग 1/1/2-23)। इस प्रकार भगवान महावीर व बुद्ध दोनों ही उस युग की आग्रह वृत्ति एवं मतांधता से जनमानस को मुक्त करना चाहते थे, फिर भी बुद्ध और महावीर की दृष्टि में थोड़ा अंतर था। जहां बुद्ध इन विवादों से बचने की सलाह दे रहे थे, वहीं महावीर इनके समन्वय की एक ऐसी विधायक दृष्टि प्रस्तुत कर रहे थे, जिसका परिणाम स्याद्वाद है।

स्याद्वाद विविध दार्शनिक एकांतवादों में समन्वय करने का प्रयास करता है। उसकी दृष्टि में अनित्यवाद-क्षणिकवाद, द्वैतवाद-अद्वैतवाद, भेदवाद-अभेदवाद आदि सभी वस्तु स्वरूप के आंशिक पक्षों को स्पष्ट करते हैं। इनमें से कोई भी असत्य तो नहीं है, किन्तु पूर्ण सत्य भी नहीं है। यदि इनको कोई असत्य बताता है तो वह आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लेने का उसका आग्रह ही है। स्याद्वाद अपेक्षाभेद से इन सभी के बीच समन्वय करने का प्रयास करता है और यह बताता है कि सत्य तब असत्य बन जाता है, जब हम आग्रही दृष्टि से उसे देखते हैं। यदि हम हमारी दृष्टि को या अपने को आग्रह से ऊपर उठाकर देखें तो हमें सत्य का दर्शन हो सकता है। सत्य का सच्चा दर्शन आधुनिक शिक्षा प्रणाली में परीक्षा, प्रमाण-पत्र व उसके आधार पर मिलने वाली नौकरी आदि में एकरूपता से नहीं होगा। यदि व्यक्ति परिवर्तनशील है, क्षण-क्षण बदलता ही रहता है तो अध्ययन करने वाला छात्र भिन्न होगा और जिसे प्रमाण-पत्र मिलेगा वह परीक्षा देने वाले से भिन्न होगा और उन प्रमाण-पत्रों के आधार पर जिसे नौकरी मिलेगी, वह उनसे पृथक् होगा। इस प्रकार व्यवहार के क्षेत्र में असंगतियां होंगी, यदि इसके विरुद्ध हम यह मानें कि व्यक्तित्व में परिवर्तन ही नहीं होता तो उसके प्रशिक्षण की व्यवस्था निरर्थक कहलाएगी। इस प्रकार अनेकांत दृष्टि का मूल आधार व्यवहार की समस्याओं का निराकरण करना है। प्राचीन आगमों में इसका उपयोग विवादों और आग्रहों से बचने तथा कथनों को स्पष्ट करने के लिए ही किया गया है। सर्वप्रथम आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने इस अनेकांत दृष्टि का प्रयोग दार्शनिक विरोधों के समन्वय की दिशा में किया। उन्होंने एक ओर परस्पर विरोधी ऐकांतिक मान्यताओं में दोषों की उद्भावना करके बताया कि कोई भी ऐकांतिक मान्यता न तो व्यावहारिक है, न ही सत्ता का सम्यक् एवं सत्य स्वरूप ही प्रस्तुत करती है। उनकी विशेषता यह रही कि वे केवल दोषों की उद्भावना करके ही सीमित नहीं रहे अपितु उन्होंने उन परस्पर विरोधी धारणाओं में निहित सत्यता का भी दर्शन किया और सत्य के समग्र स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए उन्हें समन्वित करने का प्रयत्न भी किया। जहां उनके पूर्व तक दूसरे दर्शनों को मिथ्या कहकर उनका मखौल उड़ाया जाता था, वहीं उन्होंने विभिन्न नयों के आधार पर उनकी सत्यता को स्पष्ट किया। मात्र यही नहीं, जिन-मत को भी मिथ्या मत-समूह कहकर उन सभी के प्रति समादर का भाव प्रकट किया। सिद्धसेन के पश्चात् यद्यपि समन्तभद्र ने भी ऐसा ही एक प्रयास किया और विभिन्न दर्शनों में निहित सापेक्षिक सत्यों को विभिन्न नयों के आधार पर व्याख्यायित किया, फिर भी जिन-मत को मिथ्या मत-समूह कहने का जो साहस सिद्धसेन के चिंतन में था, वह समन्तभद्र के चिंतन में नहीं आ पाया। सिद्धसेन और समन्तभद्र के पश्चात् जिस दार्शनिक ने अनेकांत दृष्टि की समन्वयशीलता का सर्वाधिक उपयोग किया वे आचार्य हरिभद्र हैं। हरिभद्र से पूर्व दिगंबर परंपरा के कुन्दकुन्द ने भी एक प्रयत्न किया था। उन्होंने नियमसार में व्यक्ति की बहुआयामिता को स्पष्ट करते हुए यह कहा था कि व्यक्ति को स्व-मत व पर-मत के विवाद में नहीं पड़ना चाहिए। किंतु अनेकांत दृष्टि से विभिन्न दर्शनों में पारस्परिक समन्वय का जो प्रयत्न हरिभद्र ने, विशेष रूप से अपने ग्रंथ शास्त्रवार्तासमुच्चय में किया वह निश्चय ही विरल है। हरिभद्र ने अनेक प्रसंगों में अपनी वैचारिक उदारता व समन्वयशीलता का परिचय दिया है जिसकी चर्चा हमने अपनी लघु पुस्तिका 'आचार्य हरिभद्र व उनका अवदान' में


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की है। अनेकांत की इस उदार शैली का प्रभाव परवर्ती जैन आचार्यों पर भी रहा और यही कारण रहा कि दूसरे दर्शनों की समालोचना करते हुए भी वे आग्रही नहीं बने। प्रकाश केवल अनाग्रही को ही मिल सकता है। महावीर के प्रथम शिष्य गौतम का जीवन स्वयं इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। गौतम के केवलज्ञान में आखिर कौन-सा तत्त्व बाधक बन रहा था? महावीर ने स्वयं इसका समाधान करते हुए गौतम से कहा था—'हे गौतम! तेरा मेरे प्रति जो ममत्व है यही तेरे केवलज्ञान (सत्य दर्शन) का बाधक है।' महावीर की स्पष्ट घोषणा थी कि सत्य का संपूर्ण दर्शन आग्रह के घेरे में रहकर नहीं किया जा सकता। आग्रह बुद्धि या दृष्टिराग सत्य को असत्य बना देता है। सत्य का प्रकटन आग्रह में नहीं, अनाग्रह में होता है, विरोध में नहीं, समन्वय में होता है। सत्य का साधक अनाग्रही और वीतराग होता है, उपाध्याय यशोविजयजी स्याद्वाद की इसी अनाग्रही एवं समन्वयात्मक दृष्टि को स्पष्ट करते हुए अध्यात्मोपनिषद में लिखते हैं—

यस्य सर्वत्र समता नयेषु, तनयेष्विव।
तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी।।61
तेन स्याद्वाद्मालंब्य सर्वदर्शन तुल्यताम्।
मोक्षोद्देशाविशेषेण यः पश्यति सः शास्त्रवित्।।70
माध्यस्थ्यमेव शास्त्रार्थो येन तच्चारु सिद्ध्यति।
स एव धर्मवादः स्यादन्यद्बालिशवल्गनम्।।71
माध्यस्थ सहितं ह्येकपदज्ञानमपि प्रमा।
शास्त्रकोटिर्वृथैवान्या तथा चोक्तं महात्मना।।73

सच्चा अनेकांतवादी किसी दर्शन से द्वेष नहीं करता। वह संपूर्ण दृष्टिकोणों (दर्शनों) को इस प्रकार वात्सल्य दृष्टि से देखता है जैसे कोई पिता अपने पुत्र को, क्योंकि अनेकांतवादी की न्यूनाधिक बुद्धि नहीं हो सकती। सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का अधिकारी तो वही है, जो स्याद्वाद का आलंबन लेकर संपूर्ण दर्शनों में समान भाव रखता है। वास्तव में माध्यस्थ भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है। माध्यस्थ भाव रहने पर शास्त्र के पद का ज्ञान भी सफल है अन्यथा करोड़ों शास्त्रों का ज्ञान भी वृथा है। क्योंकि जहां आग्रह बुद्धि होती है वहां विपक्ष में निहित सत्य का दर्शन संभव नहीं होता। वस्तुतः शाश्वतवाद, उच्छेदवाद, नित्यवाद, अनित्यवाद, भेदवाद, अभेदवाद, द्वैतवाद, हेतुवाद, नियतिवाद, पुरुषार्थवाद आदि जितने भी दार्शनिक मत-मतांतर हैं, वे सभी परम सत्ता के विभिन्न पहलुओं से लिए गए चित्र हैं और आपेक्षिक रूप से सत्य हैं। द्रव्य दृष्टि और पर्याय दृष्टि के आधार पर इन विरोधी सिद्धांतों में समन्वय किया जा सकता है। अतः एक सच्चा स्याद्वादी किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं करता है, वह सभी दर्शनों का आराधक होता है। परमयोगी आनन्दघनजी लिखते हैं—

षट् दरसण जिन अंग भणीजे, न्याय षडंग जो साधे रे।
नमि जिनवरना चरण उपासक, षटदर्शन आराधे रे।।1।।
जिन सुर पादप पाय बखाणुं, सांख्य जोग दोय भेदे रे।
आतम सत्ता विवरण करता, लही दुय अंग अखेदे रे।।2।।
भेद अभेद सुगत मीमांसक, जिनपर दोय कर भारी रे।
लोकालोक अवबंलन भजिये, गुरुगमथी अवधारी रे।।3।।
लोकायतिक सुख कूख जिनवरकी, अंश विचार जो कीजे।
तत्त्व विचार सुधारस धारा, गुरुगम विण केम पीजे।।4।।
जैन जिनेश्वर उत्तम अंग, अंतरंग बहिरंग रे।
अक्षर न्यास धरा आराधक, आराधे धरी संग रे।।5।।

**अनेकांत धार्मिक सहिष्णुता के क्षेत्र में**

सभी धर्म-साधना पद्धतियों का मुख्य लक्ष्य राग, आसक्ति, अहं एवं तृष्णा की समाप्ति रहा है। जहां जैन धर्म की साधना का लक्ष्य वीतरागता होना और बौद्ध दर्शन की साधना का लक्ष्य वीततृष्ण होना माना गया है वहीं वेदांत में अहं और आसक्ति से ऊपर उठना ही मानव का साध्य बताया गया है। लेकिन क्या एकांत या आग्रह वैचारिक राग, वैचारिक आसक्ति, वैचारिक तृष्णा अथवा वैचारिक अहं के ही रूप नहीं हैं और जब तक वे उपस्थित हैं, धार्मिक साधना के क्षेत्र में लक्ष्य की सिद्धि कैसे होगी? जिन साधना पद्धतियों में अहिंसा के आदर्श को स्वीकार किया गया उनके लिए आग्रह या एकांत वैचारिक हिंसा का प्रतीक भी बन जाता है। एक ओर साधना के वैयक्तिक पहलू की दृष्टि से मताग्रह वैचारिक आसक्ति या राग का ही रूप है तो दूसरी ओर साधना के सामाजिक पहलू की दृष्टि से वह वैचारिक हिंसा है। वैचारिक आसक्ति और वैचारिक हिंसा से मुक्ति के लिए धार्मिक क्षेत्र में अनाग्रह और अनेकांत की साधना अपेक्षित है। वस्तुतः धर्म का आविर्भाव मानव-जाति में शांति और सहयोग के विस्तार के लिए हुआ था। धर्म मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने के लिए है, लेकिन आज वही धर्म मनुष्य-मनुष्य में विभेद की दीवारें खींच रहा है। धार्मिक मतांधता में हिंसा, संघर्ष, छल, छद्म, अन्याय, अत्याचार—क्या नहीं हो रहा है? क्या वस्तुतः इसका कारण धर्म हो सकता है? इसका उत्तर निश्चित रूप से 'हां' में नहीं दिया जा सकता। यथार्थ में धर्म नहीं, किंतु


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्म का आवरण डालकर मानव की महत्त्वाकांक्षा, उसका अहंकार ही यह सब करवाता रहा है। यह धर्म नहीं, धर्म का नकाब डाले अधर्म है।

मूल प्रश्न यह है कि क्या धर्म अनेक हैं या हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर अनैकांतिक शैली से यह होगा कि धर्म एक भी है और अनेक भी। साध्यात्मक धर्म या धर्मों का साध्य एक है जबकि साधनात्मक धर्म अनेक हैं। साध्य रूप में धर्मों की एकता और साधन रूप से अनेकता को ही यथार्थ दृष्टिकोण कहा जा सकता है। सभी धर्मों का साध्य है—समत्वलाभ (समाधि) अर्थात् आंतरिक तथा बाह्य शांति की स्थापना तथा उसके लिए विक्षोभ के जनक राग-द्वेष और अस्मिता (अहंकार) का निराकरण। लेकिन राग-द्वेष और अस्मिता के निराकरण के उपाय क्या हों? यहीं विचार-भेद प्रारंभ होता है, लेकिन यह विचार-भेद विरोध का आधार नहीं बन सकता। एक ही साध्य की ओर उन्मुख होने से वे परस्पर विरोधी नहीं कहे जा सकते। एक ही केंद्र से आयोजित होने वाली परिधि से खिंची हुई विभिन्न रेखाओं में पारस्परिक विरोध प्रतीत अवश्य होता है, किंतु वह यथार्थ में होता नहीं है। क्योंकि केंद्र से संयुक्त प्रत्येक रेखा में एक-दूसरे को काटने की क्षमता नहीं होती है, किंतु जैसे ही वह केंद्र का परित्याग करती है वह दूसरी रेखाओं को अवश्य ही काटती है। साध्य सभी एकता में साधनरूपी धर्मों की अनेकता स्थित है। अतः यदि धर्मों का साध्य एक है तो उनमें विरोध कैसा? अनेकांत, धर्मों की साध्यपरक मूलभूत एकता और साधनपरक अनेकता को इंगित करता है।

विश्व के विभिन्न धर्माचार्यों ने अपने युग की तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने सिद्धांतों एवं साधनों के बाह्य नियमों का प्रतिपादन किया। देश-कालगत परिस्थितियों और साधकों की साधना की क्षमता की विभिन्नता के कारण धर्म-साधना के बाह्य रूपों में भिन्नताओं का आ जाना स्वाभाविक ही था और ऐसा हुआ भी। किंतु मनुष्य की अपने धर्माचार्य के प्रति ममता (रागात्मकता) और उसके अपने मन में व्याप्त आग्रह और अहंकार ने उसे अपने धर्म या साधना पद्धति को ही एकमात्र एवं अंतिम सत्य मानने को बाध्य किया। फलस्वरूप विभिन्न धार्मिक संप्रदायों और उनके बीच सांप्रदायिक वैमनस्य प्रारंभ हुआ। यद्यपि वैयक्तिक अहं धर्म-संप्रदायों के निर्माण का एक कारण अवश्य है, लेकिन वही एकमात्र कारण नहीं है। बौद्धिक भिन्नता और देश-कालगत तथ्य भी इसके कारण रहे हैं और इसके अतिरिक्त पूर्व प्रचलित परंपराओं में आई हुई विकृतियों के संशोधन के लिए भी संप्रदाय बने। उनके अनुसार संप्रदाय बनने के निम्न कारण हो सकते हैं :

(1) ईर्ष्या के कारण (2) किसी व्यक्ति की प्रसिद्धि की लिप्सा के कारण (3) किसी वैचारिक मतभेद (मताग्रह) के कारण (4) किसी आचार संबंधी नियमोपनियम में भेद के कारण (5) किसी व्यक्ति या पूर्व संप्रदाय द्वारा अपमान या खींचतान होने के कारण (6) किसी विशेष सत्य को प्राप्त करने की दृष्टि से और (7) किसी सांप्रदायिक परंपरा या क्रिया में द्रव्य, क्षेत्र एवं काल के अनुसार संशोधन या परिवर्तन करने की दृष्टि से। उपरोक्त कारणों में अंतिम दो को छोड़कर शेष सभी कारणों से उत्पन्न संप्रदाय आग्रह, धार्मिक असहिष्णुता और सांप्रदायिक विद्वेष को जन्म देते हैं।

विश्व इतिहास के अध्येता इसे भलीभांति जानते हैं कि धार्मिक असहिष्णुता ने विश्व में जघन्य दुष्कृत्य कराए। आश्चर्य तो यह है कि इस दमन, अत्याचार, नृशंसता और रक्तप्लावन को धर्म का बाना पहनाया गया। शांतिप्रदाता धर्म ही अशांति का कारण बना। आज के वैज्ञानिक युग में धार्मिक अनास्था का मुख्य कारण उपरोक्त भी है। यद्यपि विभिन्न मतों, पंथों और वादों में बाह्य भिन्नता परिलक्षित होती है, किंतु यदि हमारी दृष्टि व्यापक और अनाग्रही हो तो उसमें भी एकता और समन्वय के सूत्र परिलक्षित हो सकते हैं।

अनेकांत विचार-दृष्टि विभिन्न धर्म-संप्रदायों की समाप्ति द्वारा एकता का प्रयास नहीं करती है। क्योंकि वैयक्तिक रुचि-भेद एवं क्षमता-भेद तथा देश-कालगत भिन्नताओं के होते हुए विभिन्न धर्मों एवं संप्रदायों की उपस्थिति अपरिहार्य है। एक धर्म या एक संप्रदाय का नारा असंगत एवं अव्यावहारिक ही नहीं, अपितु अशांति और संघर्ष का कारण भी है। अनेकांत विभिन्न धर्म-संप्रदायों की समाप्ति का प्रयास न होकर उन्हें एक व्यापक पूर्णता में सुसंगत रूप से संयोजित करने का प्रयास हो सकता है। लेकिन इसके लिए प्राथमिक आवश्यकता है—धार्मिक सहिष्णुता और सर्वधर्म समभाव की।

अनेकांत के समर्थक जैनाचार्यों ने इसी धार्मिक सहिष्णुता का परिचय दिया है। आचार्य हरिभद्र की धार्मिक


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहिष्णुता तो सर्वविदित ही है। अपने ग्रंथ शास्त्रवार्ता-समुच्चय में उन्होंने बुद्ध के अनात्मवाद, न्याय दर्शन के ईश्वर कर्तृत्ववाद और वेदांत के सर्वात्मवाद (ब्रह्मवाद) में भी संगति दिखाने का प्रयास किया। अपने ग्रंथ लोकतत्त्व संग्रह में आचार्य हरिभद्र लिखते हैं :

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्य परिग्रहः।।

मुझे न तो महावीर के प्रति पक्षपात है और न कपिलादि मुनिगणों के प्रति द्वेष है। जो भी वचन तर्कसंगत हो उसे ग्रहण करना चाहिए।

इसी प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने शिव-प्रतिमा को प्रणाम करते समय सर्वदेव समभाव का परिचय देते हुए कहा था :

भवबीजांकुरजनना, रागद्या क्षयमुपागता यस्य।।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरौ, जिनो वा नमस्तस्मै।।

संसार परिभ्रमण के कारण रागादि जिनके क्षय हो चुके हैं, उन्हें मैं प्रणाम करता हूं चाहे वे ब्रह्मा हों, विष्णु हों, शिव हों या जिन हों।

## राजनीतिक क्षेत्र में अनेकांतवाद के सिद्धांत का उपयोग

अनेकांतवाद का सिद्धांत न केवल दार्शनिक एवं धार्मिक अपितु राजनीतिक विवाद भी हल करता है। आज का राजनीतिक जगत भी वैचारिक संकुलता से परिपूर्ण है। पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, फासीवाद, नाजीवाद आदि अनेक राजनीतिक विचारधाराएं तथा राजतंत्र, कुलतंत्र, अधिनायकतंत्र आदि अनेकानेक शासन प्रणालियां वर्तमान में प्रचलित हैं। मात्र इतना ही नहीं उनमें से प्रत्येक एक-दूसरे की समाप्ति के लिए प्रयत्नशील हैं। विश्व के राष्ट्र खेमों में बंटे हुए हैं और प्रत्येक खेमे का अग्रणी राष्ट्र अपना प्रभाव-क्षेत्र बढ़ाने हेतु दूसरे के विनाश में तत्पर है। मुख्य बात यह है कि आज का राजनीतिक संघर्ष मात्र आर्थिक हितों का संघर्ष न होकर वैचारिकता का भी संघर्ष है। अमेरिका, चीन और रूस अपनी वैचारिक प्रभुसत्ता के प्रभाव को बढ़ाने के लिए ही प्रतिस्पर्धा में लगे रहे हैं। एक-दूसरे को नाम-शेष करने की उनकी यह महत्त्वाकांक्षा कहीं मानव जाति को ही नाम-शेष न कर दे।

आज के राजनीतिक जीवन में स्याद्वाद के दो व्यावहारिक फलित—वैचारिक सहिष्णुता और समन्वय अत्यंत उपादेय हैं। मानव जाति ने राजनीतिक जगत में राजतंत्र से प्रजातंत्र तक की जो लंबी यात्रा तय की है उसकी सार्थकता स्याद्वाद दृष्टि को अपनाने में ही है। विरोधी पक्ष द्वारा की जाने वाली आलोचना के प्रति सहिष्णु होकर उसके द्वारा अपने दोषों को समझना और उन्हें दूर करने का प्रयास करना, आज के राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। विपक्ष की धारणाओं में भी सत्यता हो सकती है और सबल विरोधी दल की उपस्थिति से हमें अपने दोषों के निराकरण का अच्छा अवसर मिलता है, इस विचार-दृष्टि और सहिष्णु भावना में ही प्रजातंत्र का भविष्य उज्ज्वल रह सकता है। राजनीतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातंत्र (Parliamentary Democracy) वस्तुतः राजनीतिक स्याद्वाद है। इस परंपरा में बहुमत दल द्वारा गठित सरकार अल्पमत दल को अपने विचार प्रस्तुत करने का अधिकार मान्य करती है और यथासंभव उससे लाभ भी उठाती है। दार्शनिक क्षेत्र में जहां भारत स्याद्वाद का सृजक है, वहीं वह राजनीतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातंत्र का समर्थक भी है। अतः आज स्याद्वाद सिद्धांत का व्यावहारिक क्षेत्र में उपयोग करने का दायित्व भारतीय राजनीतिज्ञों पर है। इसी प्रकार हमें यह भी समझना है कि राज्य-व्यवस्था का मूल लक्ष्य जनकल्याण को दृष्टि में रखते हुए विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं के मध्य एक सांग संतुलन स्थापित करना है। आवश्यकता सैद्धांतिक विवादों की नहीं, अपितु जनहित के संरक्षण एवं मानव की पाशविक वृत्तियों के नियंत्रण की है।

## मनोविज्ञान और अनेकांतवाद

वस्तुतः अनेकांतवाद न केवल एक दार्शनिक पद्धति है, अपितु वह मानवीय व्यक्तित्व की बहुआयामिता को भी स्पष्ट करती है। जिस प्रकार वस्तुतत्त्व विभिन्न गुणधर्मों से युक्त होता है उसी प्रकार से मानव व्यक्तित्व भी विविध विशेषताओं या विलक्षणताओं का पुंज है, उसके भी विविध आयाम हैं। प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व के भी विविध आयाम या पक्ष होते हैं, मात्र यही नहीं, उसमें परस्पर विरोधी गुण भी देखने को मिलते हैं। सामान्यतया वासना व विवेक परस्पर विरोधी माने जाते हैं, किंतु मानव व्यक्तित्व में ये दोनों विरोधी गुण एक साथ उपस्थित हैं। मनुष्य में एक ओर अनेकानेक वासनाएं, इच्छाएं और आकांक्षाएं होती हैं तो दूसरी ओर उसमें विवेक का तत्त्व भी होता है जो उसकी वासनाओं, आकांक्षाओं और इच्छाओं पर नियंत्रण रखता है। यदि मानव व्यक्तित्व को


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

समझना है तो हमें उसके वासनात्मक पहलू और आदर्शात्मक पहलू (विवेक)—दोनों को ही देखना होगा। मनुष्य में न केवल वासना और विवेक के परस्पर विरोधी गुण पाए जाते हैं, अपितु उसमें अनेक दूसरे भी परस्पर विरोधी गुण देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ—विद्वत्ता या मूर्खता को लें। प्रत्येक व्यक्ति में विद्वत्ता में मूर्खता और मूर्खता में विद्वत्ता समाहित होती है। कोई भी व्यक्ति समग्रतः विद्वान या समग्रतः मूर्ख नहीं होता है। मूर्ख में भी कहीं-न-कहीं विद्वत्ता और विद्वान में भी कहीं-न-कहीं मूर्खता छिपी रहती है। किसी को विद्वान या मूर्ख मानना, यह सापेक्षिक कथन ही हो सकता है। मानव व्यक्तित्व के संदर्भ में मनोविश्लेषणवादियों ने वासनात्मक अहं और आदर्शात्मक अहं की जो अवधारणाएं प्रस्तुत की हैं वे यही सूचित करती हैं कि मानव व्यक्तित्व बहुआयामी है। उसमें ऐसे अनेक परस्पर विरोधी गुण-धर्म छिपे हुए हैं। प्रत्येक व्यक्ति में जहां एक ओर कोमलता या करुणा का भाव रहा हुआ है वहीं दूसरी ओर उसमें आक्रोश और अहंकार भी विद्यमान है। एक ही मनुष्य के अंदर इनफिरियारिटी कांपलेक्स और सुपीरियारिटी कांपलेक्स दोनों ही देखे जाते हैं। कभी-कभी तो हीनत्व की भावना ही उच्चत्व की भावना में अनुस्यूत देखी जाती है। भय और साहस परस्पर विरोधी गुण-धर्म हैं। किंतु कभी-कभी भय की अवस्था में ही व्यक्ति अकल्पनीय साहस का प्रदर्शन करता है। इस प्रकार मानव व्यक्तित्व में वासना और विवेक, ज्ञान और अज्ञान, राग और द्वेष, कारुणिकता और आक्रोश, हीनत्व और उच्चत्व की ग्रंथियां एक साथ देखी जाती हैं। इससे यह फलित होता है कि मानव व्यक्तित्व भी बहुआयामी है और उसे सही प्रकार से समझने के लिए अनेकांत की दृष्टि आवश्यक है।

**प्रबंधशास्त्र और अनेकांतवाद**

वर्तमान युग में प्रबंधशास्त्र एक महत्त्वपूर्ण विधा है, किंतु यह विधा भी अनेकांत दृष्टि पर ही आधारित है। किस व्यक्ति से किस प्रकार कार्य लिया जाए ताकि उसकी संपूर्ण योग्यता का लाभ उठाया जा सके, यह प्रबंधशास्त्र की विशिष्ट समस्या है। प्रबंधशास्त्र, चाहे वह वैयक्तिक हो या संस्थागत, उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष तो व्यक्ति ही होता है और प्रबंध और प्रशासक की सफलता इसी बात पर निर्भर होती है कि हम उस व्यक्ति के व्यक्तित्व और उसके प्रेरक तत्त्वों को किस प्रकार समझाएं। एक व्यक्ति के लिए मृदु आत्मीय व्यवहार एक अच्छा प्रेरक हो सकता है तो दूसरे के लिए कठोर अनुशासन की आवश्यकता हो सकती है। एक व्यक्ति के लिए आर्थिक उपलब्धियां ही प्रेरक का कार्य करती हैं तो दूसरे के लिए पद और प्रतिष्ठा महत्त्वपूर्ण प्रेरक तत्त्व हो सकते हैं। प्रबंध-व्यवस्था में हमें व्यक्ति की प्रकृति और स्वभाव को समझना आवश्यक होता है। एक प्रबंधक तभी सफल हो सकता है जब वह मानव-प्रकृति की इस बहुआयामिता को समझे और व्यक्तिविशेष के संदर्भ में यह जाने कि उसके जीवन की प्राथमिकताएं क्या हैं? प्रबंध और प्रशासन के क्षेत्र में एक ही चाबुक से सभी को नहीं हांका जा सकता। जिस प्रबंधक में प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति की जितनी अच्छी समझ होगी, वह उतना ही सफल प्रबंधक होगा। इसके लिए अनेकांत दृष्टि या सापेक्ष दृष्टि को अपनाना आवश्यक है।

प्रबंधशास्त्र के क्षेत्र में वर्तमान में समग्र गुणवत्ता प्रबंधन (Total Quality Management) की अवधारणा प्रमुख बनती जा रही है, किंतु व्यक्ति अथवा संस्था की समग्र गुणवत्ता का आकलन निरपेक्ष नहीं है। गुणवत्ता के अंतर्गत अनेक गुणों की पारस्परिक समन्वयात्मकता आवश्यक होती है। विभिन्न गुणों का पारस्परिक सामंजस्य में रहते हुए जो एक समग्र रूप बनता है वही गुणवत्ता का आधार है। अनेक गुणों के पारस्परिक सामंजस्य में ही गुणवत्ता निहित होती है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में विभिन्न गुण एक-दूसरे के साथ समन्वय करते हुए रहते हैं। विभिन्न गुणों की यही सामंजस्यतापूर्ण स्थिति ही गुणवत्ता का आधार है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में विभिन्न गुण ठीक उसी प्रकार सामंजस्यपूर्वक रहते हैं जिस प्रकार शरीर के विभिन्न अवयव सामंजस्यपूर्ण स्थिति में रहते हैं। जैसे शरीर के विभिन्न अंगों का सामंजस्य टूट जाना शारीरिक विकृति या विकलांगता का प्रतीक है, उसी प्रकार व्यक्ति के जीवन के गुणों में पारस्परिक सामंजस्य का अभाव व्यक्तित्व के विखंडन का आधार बनता है। पारस्परिक सामंजस्य में ही समग्र गुणवत्ता का विकास होता है। अनेकांत दृष्टि व्यक्तित्व के उन विभिन्न गुणों या पक्षों और उनके पारस्परिक सामंजस्य को समझने का आधार है। व्यक्ति में वासनात्मक पक्ष अर्थात् उसकी जैविक आवश्यकताएं और विवेकात्मक पक्ष अर्थात् वासनाओं के संयमन की शक्ति दोनों की अपूर्ण समझ किसी प्रबंधन के प्रबंधक की असफलता का कारण ही होगी। समग्र गुणवत्ता



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विभिन्न गुणों अथवा पक्षों और उनके पारस्परिक सामंजस्य की समझ पर ही आधारित होती है और यह समझ ही प्रबंधशास्त्र का प्राण है। दूसरे शब्दों में कहें तो अनेकांत दृष्टि के आधार पर ही संपूर्ण प्रबंधशास्त्र अवस्थित है। विविध पक्षों के अस्तित्व की स्वीकृति के साथ उनके पारस्परिक सामंजस्य की संभावना को देख पाना प्रबंधशास्त्र की सर्वोत्कृष्टता का आधार है।

**समाजशास्त्र और अनेकांतवाद**

समाजशास्त्र के क्षेत्र में सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबंधों को सम्यक् प्रकार से समझ पाना या समझा पाना ही है। व्यक्ति के बिना समाज और समाज के बिना व्यक्ति (सभ्य व्यक्ति) का अस्तित्व संभव नहीं है। जहां एक ओर व्यक्तियों के आधार पर ही समाज खड़ा होता है, वहीं दूसरी ओर व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्माण समाजरूपी कार्यशाला में ही संपन्न होता है। जो विचारधाराएं व्यक्ति और समाज को एक-दूसरे से निरपेक्ष मानकर चलती हैं वे न तो सही रूप में व्यक्ति को समझ पाती हैं और न ही समाज को। व्यक्ति और समाज—दोनों का अस्तित्व परस्पर सापेक्ष है। इस सापेक्षता को समझे बिना न तो व्यक्ति को ही समझा जा सकता है और न समाज को। समाजशास्त्र के क्षेत्र में अनेकांत दृष्टि व्यक्ति और समाज के इस सापेक्षिक संबंध को देखने का प्रयास करती है। व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से निरपेक्ष नहीं हैं। यह समझ ही समाजशास्त्र के सभी सिद्धांतों का मूलभूत आधार है। सामाजिक सुधार के जो भी कार्यक्रम हैं उनका आवश्यक अंग व्यक्ति सुधारना भी है। न तो सामाजिक सुधार के बिना व्यक्ति सुधार संभव है न व्यक्ति सुधार के बिना सामाजिक सुधार। वस्तुतः व्यक्ति और समाज में आंगिकता का संबंध है। व्यक्ति में समाज और समाज में व्यक्ति इस प्रकार अनुस्यूत हैं कि उन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। व्यक्ति और समाज की इस सापेक्षिकता को समझना समाजशास्त्र के लिए आवश्यक है और यह समझ अनेकांत दृष्टि के विकास से ही संभव है, क्योंकि वह एकत्व में अनेकत्व अथवा एकता में विभिन्नता तथा विभिन्नता में एकता का दर्शन करती है, उसके लिए एकत्व और पृथकत्व दोनों का ही समान महत्त्व है। वह यह मानकर चलती है कि व्यक्ति और समाज परस्पर सापेक्ष हैं और एक के अभाव में दूसरे की कोई सत्ता नहीं है।

सामाजिक नैतिकता से जुड़ा एक दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न है वैयक्तिक कल्याण और सामाजिक कल्याण में किसे प्रमुख माना जाए? इस समस्या के समाधान के लिए भी हमें अनेकांत दृष्टि को ही आधार बनाकर चलना होगा। यदि व्यक्ति और समाज परस्पर सापेक्ष हैं, व्यक्ति के हित में समाज का हित है और समाज के हित में व्यक्ति का हित समाया है तो इन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। जो लोग वैयक्तिक हितों और सामाजिक हितों को परस्पर निरपेक्ष मानते हैं, वे वस्तुतः व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबंधों से अनभिज्ञ हैं। वैयक्तिक कल्याण और सामाजिक कल्याण परस्पर भिन्न प्रतीत होते हुए भी एक-दूसरे से पृथक नहीं हैं। हमें यह मानना होगा कि समाज के हित में ही व्यक्ति का हित है और व्यक्ति के हित में समाज का हित। अतः एकांत स्वार्थपरतावाद और एकांत परोपकारवाद दोनों ही संगत सिद्धांत नहीं हो सकते। न तो वैयक्तिक हितों की उपेक्षा की जा सकती है, न ही सामाजिक हितों की। अनेकांत दृष्टि हमें यही बताती है कि वैयक्तिक कल्याण में सामाजिक कल्याण और सामाजिक कल्याण में वैयक्तिक कल्याण अनूस्यूत है। दूसरे शब्दों में वे परस्पर सापेक्ष हैं।

**पारिवारिक जीवन में स्याद्वाद दृष्टि का उपयोग**

कौटुंबिक क्षेत्र में इस पद्धति का उपयोग परस्पर कुटुंबों में और कुटुंब के सदस्यों में संघर्ष को टालकर शांतिपूर्ण वातावरण का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। सामान्यतया पारिवारिक जीवन में संघर्ष के दो केंद्र होते हैं। पिता-पुत्र तथा सास-बहू। इन दोनों विवादों में मूल कारण दोनों का दृष्टिभेद है। पिता जिस परिवेश में बड़ा हुआ, उन्हीं संस्कारों के आधार पर पुत्र का जीवन ढालना चाहता है। पिता की दृष्टि अनुभवप्रधान होती है, जबकि पुत्र की दृष्टि तर्कप्रधान। एक प्राचीन संस्कारों से ग्रसित होता है तो दूसरा उन्हें समाप्त कर देना चाहता है। यही स्थिति सास-बहू में होती है। सास यह अपेक्षा करती है कि बहू ऐसा जीवन जीए जैसा उसने स्वयं बहू के रूप में जीया था, जबकि बहू अपने युग के अनुरूप और अपने मातृ पक्ष के संस्कारों से प्रभावित जीवन जीना चाहती है। मात्र इतना ही नहीं, उसकी अपेक्षा यह भी होती है कि वह उतना ही स्वतंत्र जीवन जीए, जैसा वह अपने माता-पिता के पास जीती थी। इसके विपरीत श्वसुर पक्ष उससे एक अनुशासित जीवन की अपेक्षा करता है। यही सब विवाद



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के कारण बनते हैं। इसमें जब तक सहिष्णु दृष्टि और दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जाता, तब तक संघर्ष समाप्त नहीं हो सकता। वस्तुतः इसके मूल में जो दृष्टिभेद है, उसे अनेकांत पद्धति से सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है।

वास्तविकता यह है कि हम जब दूसरे के संबंध में कोई विचार करें, कोई निर्णय लें तो स्वयं अपने को उस स्थिति में खड़ा कर सोचना चाहिए। दूसरे की भूमिका में स्वयं को खड़ा करके ही उसे सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है। पिता पुत्र से जिस बात की अपेक्षा करता है उसके पहले अपने को पुत्र की भूमिका में खड़ा कर विचार कर ले। अधिकारी कर्मचारी से किस ढंग से काम लेना चाहता है, उसके पहले स्वयं को उस स्थिति में खड़ा करे, फिर निर्णय ले। यही एक ऐसी दृष्टि है, जिसके अभाव में लोक-व्यवहार असंभव है और इसी आधार पर अनेकांतवाद जगद्गुरु होने का दावा करता है।

**अर्थशास्त्र और अनेकांत**

सामान्यतया अर्थशास्त्र का उद्देश्य जन-सामान्य का आर्थिक कल्याण होता है, किंतु आर्थिक प्रगति के पीछे मूलतः वैयक्तिक हितों की प्रेरणा ही कार्य करती है। यही कारण है कि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में पूंजीवादी और साम्यवादी दृष्टियों के केंद्र बिंदु ही भिन्न-भिन्न बन गए। साम्यवादी शक्तियों का आर्थिक क्षेत्र में पिछड़ने का एकमात्र कारण यह रहा कि उन्होंने आर्थिक प्रगति के लिए वैयक्तिक प्रेरणा की उपेक्षा की, किंतु दूसरी ओर यह भी हुआ कि वैयक्तिक आर्थिक प्रेरणा और वैयक्तिक अर्थलाभ को प्रमुखता देने के कारण सामाजिक कल्याण की आर्थिक दृष्टि असफल हो गई और उपभोक्तावाद इतना प्रबल हो गया कि उसने सामाजिक-आर्थिक कल्याण की पूर्णतः उपेक्षा कर दी। परिणामस्वरूप अमीर और गरीब के बीच खाई अधिक गहरी होती गई।

इसी प्रकार अर्थशास्त्र के क्षेत्र में आर्थिक प्रगति का आधार व्यक्ति की इच्छाओं, आकांक्षाओं और आवश्यकताओं को बढ़ाना मान लिया गया। किंतु इसका परिणाम यह हुआ कि अर्थशास्त्र के क्षेत्र में स्वार्थपरता और शोषण की दृष्टि ही प्रमुख हो गई। आवश्यकताओं की सृष्टि और इच्छाओं की पूर्ति को ही आर्थिक प्रगति का प्रेरक तत्त्व मानकर हमने आर्थिक साधन और सुविधाओं में वृद्धि की, किंतु उसके परिणामस्वरूप आज मानव जाति उपभोक्तावादी संस्कृति से ग्रसित हो गई है और इच्छाओं और आकांक्षाओं की दृष्टि के साथ चाहे भौतिक सुख-सुविधाओं के साधन बढ़े भी हों, किंतु उसने मनुष्य की अंतरात्मा को विपन्न बना दिया। आकांक्षाओं की पूर्ति की दौड़ में मानव अपनी आंतरिक शांति खो बैठा। फलतः आज हमारा आर्थिक क्षेत्र विफल होता दिखाई दे रहा है। वस्तुतः इस सबके पीछे आर्थिक प्रगति को ही एकमात्र लक्ष्य बना लेने की ऐकांतिक जीवन दृष्टि है।

कोई भी तंत्र चाहे वह अर्थतंत्र हो, राजतंत्र या धर्मतंत्र, बिना अनेकांत दृष्टि को स्वीकार किए सफल नहीं हो सकता, क्योंकि इन सबका मूल केंद्र तो मनुष्य ही है। जब तक वे मानव-व्यक्तित्व की बहुआयामिता और उसमें निहित सामान्यताओं को नहीं स्वीकार करेंगे, तब तक इन क्षेत्रों में हमारी सफलताएं भी अंततः विफलताओं में ही बदलती रहेंगी। वस्तुतः अनेकांत दृष्टि ही एक ऐसी दृष्टि है जो मानव के समग्र कल्याण की दिशा में हमें अग्रसर कर सकती है। समग्रता की दिशा में अंगों की उपेक्षा नहीं, अपितु उनका पारस्परिक सामंजस्य ही महत्त्वपूर्ण होता है और अनेकांतवाद का यह सिद्धांत इसी व्यावहारिक जीवन दृष्टि को समुपस्थित करता है।

**अनेकांत को जीने की आवश्यकता**

अनेकांतवाद के सैद्धांतिक पक्ष पर तो प्राचीन काल से लेकर अब तक बहुत विचार-विमर्श या आलोचन-प्रत्यालोचन हुआ, किंतु उसका व्यावहारिक पक्ष उपेक्षित ही रहा। अनेकांतवाद मात्र सैद्धांतिक चर्चा का विषय नहीं है, वह प्रयोग में लाने का विषय है, क्योंकि इस प्रयोगात्मकता के द्वारा ही हम वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के संघर्षों एवं वैचारिक विवादों का निराकरण कर सकते हैं। अनेकांतवाद को मात्र जान लेना या समझ लेना ही पर्याप्त नहीं है, उसे व्यावहारिक जीवन में जीना भी होगा और तभी उसकी वास्तविक मूल्यवत्ता को समझ सकेंगे।

हम देखते हैं कि अनेकांत एवं स्याद्वाद के सिद्धांत दार्शनिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं पारिवारिक जीवन के विरोधों के समन्वय की एक ऐसी विधायक दृष्टि प्रस्तुत करते हैं—जिससे मानव-जाति को संघर्षों के निराकरण में सहायता मिल सकती है। ❖



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# आधुनिक युग को जैन दर्शन का प्रदेय
# नयवाद और अनेकांतवाद

डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी

•

**नयवाद या इसके भेद-प्रभेदों आदि के विवेचन-प्रसंग में मुख्य, गौण, सामान्य और विशेष—इन शब्दों का काफी प्रयोग होता है। वस्तुतः इन शब्दों पर ही नय, प्रमाण, अनेकांत और स्याद्वाद जैसे दार्शनिक सिद्धांतों का विवेचन आधारित होता है। अतः इन शब्दों का अर्थ समझ लेने से इन जटिल सिद्धांतों को समझ लेने में सरलता होती है।**

जैन धर्म-दर्शन भारत के प्राचीनतम धर्म-दर्शनों में से एक प्रमुख धर्म-दर्शन है। इसके सिद्धांत ऐसे शाश्वत एवं चिरनवीन हैं, जो समसामयिक एवं प्रासंगिकता की कसौटी पर सदा खरे उतरे हैं। ये प्राचीन काल में जितने आवश्यक थे, उतने ही आधुनिक युग में भी हैं। क्योंकि संसार-परिभ्रमण से क्लांत मुमुक्षु जीव को स्वपुरुषार्थ के बल पर बंधन से मुक्ति की प्रक्रिया का प्रशस्त मार्ग जैन धर्म स्पष्ट रूप से दिखलाता है। यहां न तो ईश्वर-कर्तृत्व का प्रलोभन है, और न ही मोक्षप्राप्ति हेतु संयम-साधना में किसी प्रकार की छूट। हां, इसमें भावों की विशुद्धता की महत्ता जरूर दिखलाई देती है। आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, लोक-परलोक आदि मान्यताएं इस जैन धर्म को पूर्ण आस्तिक धर्म-दर्शन प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, समता, सापेक्षता, सह-अस्तित्व, सात तत्त्व, छह द्रव्य, अनेकांत, स्याद्वाद, नय, निक्षेप आदि अनेक जैन धर्म के ऐसे अनुपम और मौलिक सिद्धांत हैं, जिनके कारण जैन धर्म-दर्शन समृद्ध और गौरवान्वित है। जैसे-जैसे विज्ञान प्रगति करता जा रहा है और उसके आश्चर्यजनक अन्वेषण सामने आ रहे हैं, इसके परिप्रेक्ष्य में जैन धर्म के ये सिद्धांत और मान्यताएं और भी निखर कर सामने आ रही हैं। अतः आधुनिक युग को जैन दर्शन का प्रदेय अनुपम है।

यहां मेरे आलेख का विषय इन प्रदेयों में नयवाद और अनेकांतवाद पर विशेष आधारित है। ये दोनों जैन दर्शन के विशेष पारिभाषिक शब्द हैं। ये अन्यत्र कहीं इन अर्थों और अभिप्रायों में उपलब्ध नहीं होते। इसीलिए भारतीय दर्शन को जैन दर्शन का इस दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण अवदान है।

नयवाद और अनेकांतवाद ऐसे सिद्धांत हैं, जिन्हें एक निबंध में बांधना संभव नहीं है। ये अनेक ग्रंथों के विषय हैं। फिर भी इस विषयक प्रयास यहां प्रस्तुत है :

**नयवाद विषयक साहित्य**

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन का अपना विशिष्ट स्थान एवं महत्त्व है। इसके पुरस्कर्ता जैन आचार्यों ने साहित्य की प्रत्येक विधा की तरह प्रत्येक दार्शनिक एवं तात्त्विक विषय पर गहन, स्वतंत्र एवं मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है। प्रमाण की तरह अनेक ग्रंथों में स्वतंत्र एवं विविध विषयों के साथ 'नय' का विवेचन किया गया है।

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में 'नयवाद' जैन दर्शन की अपनी मौलिक देन है। नय विषयक वांग्मय में प्रमुख रूप में आचार्य कुन्दकुन्दकृत समयसार, उमास्वातिकृत तत्त्वार्थ-सूत्र, समन्तभद्राचार्यकृत आप्तमीमांसा एवं स्वयंभू-स्तोत्र, आचार्य सिद्धसेनकृत सन्मतिसूत्र, आचार्य अकलंकदेवकृत लघीयस्त्रय, सिद्धिविनिश्चय, तत्त्वार्थवार्तिक, आचार्य विद्यानन्दकृत तत्त्वार्थश्लोक-वार्तिक, आचार्य देवसेनकृत लघुनयचक्र और आलाप-पद्धति, माइल्ल-धवलकृत द्रव्य-स्वभाव-प्रकाशक-नयचक्र, आचार्य मल्लवादी कृत द्वादशारनयचक्र, भट्टारक देवसेनकृत नयचक्र, महाकवि



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

राजमल्लविरचित पंचाध्यायी इत्यादि जैन वांग्मय के इन महान ग्रंथों के साथ ही साथ अनेक अन्यान्य ग्रंथों में भी प्रासंगिक रूप में नयवाद का अच्छा विवेचन किया गया है।

यद्यपि विविध विधाओं में विरचित जैन वांग्मय अगाध है, किंतु उपर्युक्त प्रमुख ग्रंथ 'नयवाद, पर आधारित हैं। वस्तुतः नय को समझे बिना जैन आगम का हार्द हृदयंगम होना मुश्किल है। जबकि नय का सम्यक् स्वरूप जानने वालों का उसमें प्रवेश सहज हो जाता है। संपूर्ण मतभेदों को समाप्त करने के लिए नयवाद प्रमुख आधार है। सम्यक् ज्ञान के लिए नयविवक्षा अपरिहार्य है। यद्यपि नय विवेचन गूढ़ विषय लगता अवश्य है, किंतु इसमें प्रवेश करते ही इसकी सरल पद्धति का एवं द्रव्यस्वभाव के प्रकाशन हेतु इसकी अनिवार्यता का स्पष्ट अनुभव होता है।

**नय स्वरूप**

जैन दर्शन के अनुसार जिन तत्त्वों का श्रद्धान और ज्ञान करके मुमुक्षु मोक्षमार्ग में रत होता है, उन तत्त्वों का अधिगम ज्ञान से होता है। यही ज्ञान अधिगम के उपायों को प्रमाण और नय—इन दो रूपों में विभाजित कर देता है। प्रत्येक वस्तु प्रमाण एवं नय का विषय है। अतः अधिगम के उपायों में प्रमाण के साथ नयों का भी निर्देश है। ये ही तत्त्वाधिगम के मूल दो भेद हैं।[1]

यद्यपि प्रमाण और नय—ये दोनों ही ज्ञान हैं, किंतु दोनों में अंतर यही है कि नय वस्तु के एक अंश (धर्म) का ज्ञान कराता है, जबकि प्रमाण वस्तु के संपूर्ण अंशों (धर्मों) का। अर्थात् प्रमाण वस्तु के पूर्ण रूप को ग्रहण करता है, जबकि नय प्रमाण द्वारा गृहीत वस्तु के अंश को ग्रहण करता है। इसे इस तरह भी कह सकते हैं कि 'नय' पूर्ण सत्य की एक बाजू को जानने वाली दृष्टि का नाम है। इस तरह कहा जा सकता है कि जिससे वस्तुतत्त्व का निर्णय किया जाता है, उसे सम्यक् रूप से जाना जाता है—उसे प्रमाण कहते हैं तथा ज्ञाता का वह अभिप्राय-विशेष 'नय' कहलाता है जो प्रमाण के द्वारा जानी गई वस्तु के एकदेश का स्पर्श करता है।[2] नयज्ञान वस्तु के प्रत्येक अंश का अवबोध करता है। अतः 'नय' विवेचन-प्रक्रिया का प्रमाण द्वारा गृहीत वस्तु के अंश को अभिप्राय के अनुसार विश्लेषित करना है।

**जैन दर्शन केवल भावना और विश्वास की भूमि पर खड़ा होकर मात्र कल्पनालोक में विचरण नहीं करता और न ही यह वस्तुग्राही दृष्टिकोणों का तिरस्कार ही करता है। यह तो अनंत गुण-पर्यायात्मक वस्तु का विभिन्न दृष्टिकोणों द्वारा विश्लेषण और विवेचन करता है। वस्तु के धर्म अनंत हैं और उसके दर्शक-दृष्टिकोण भी अनंत हैं। प्रतिपादन के साधन 'शब्द' भी अनंत हैं। अतः वस्तु स्पर्श करने वाली दृष्टियां अपने से भिन्न वस्तुओं को ग्रहण करने वाले दृष्टिकोणों का समादर करती हैं, वे सत्योन्मुख होने के कारण यथार्थ कही जाती हैं।**

जैन दर्शन के अनुसार वस्तु का वस्तुत्व भी दो बातों पर आधारित है। प्रथम प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप को अपनाए हुए है और द्वितीय यह है कि प्रत्येक वस्तु अपने से भिन्न अनंत वस्तुओं के स्वरूप को नहीं अपनाए हुए है और तभी उस वस्तु का वस्तुत्व कायम है। यदि ऐसा नहीं माना जाएगा तो वह वस्तु ही नहीं रहेगी। यही कारण है कि घट, घट ही है तथा घट, पट नहीं है। इन दो बातों पर ही घट का अस्तित्व बनता है।[3] इसे कहते हैं घट है भी और नहीं भी है। अपने स्वरूप से 'अस्ति' रूप है और अपने से भिन्न पर-स्वरूप से 'नास्ति' रूप है।

वस्तुतः जैन दर्शन अनेकांतवादी दर्शन है। जैन दार्शनिकों ने अपने अनेकांतवादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन स्याद्वाद शैली में किया है। स्याद्वाद शैली में नयों का प्रयोग किया जाता है, जो वस्तु के एक-एक अंश को विषय बनाते हैं।

अनेक धर्मात्मक वस्तु प्रमाण का विषय है और प्रमाण-ज्ञान उसे समग्रभाव से ग्रहण करता है, उसमें अंश विभाजन करने की ओर उसका लक्ष्य नहीं होता। जैसे 'यह घड़ा है'—इस ज्ञान में प्रमाण घड़े को अखंड भाव से उसके रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि अनंत गुण-धर्मों का विभाजन न करके पूर्ण रूप में जानता है, जबकि 'नय' उसका विभाजन करके रूपवान् घटः, रसवान् घटः—इत्यादि रूप में उसे अपने-अपने अभिप्राय के अनुसार जानता है।[4]

इस तरह जो वाद विभिन्न दृष्टि-भंगों में से उत्पन्न सापेक्ष विचारों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास करता है उसे ही 'नयवाद' कहते हैं। क्योंकि नय अंश-विभाजन कर अभिप्राय विशेषानुसार वस्तु को ग्रहण करता है। प्रमाण-ज्ञान अंश



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ग्राही नय उत्पत्ति के लिए भूमिका प्रस्तुत करता है। जैसे छोटे-बड़े पात्रों के अनुसार ही जल भरा जाता है, उसी प्रकार प्रमाण के धरातल पर नय अनेक रूपों में और वेशों में अपना अस्तित्व प्रदर्शित करता है। अतः नय प्रमाण रूप सागर का वह अंश है, जिसे ज्ञाता ने अपने अभिप्राय के पात्र में भर लिया है। अलग-अलग दृष्टिकोणों या भंगों को आंशिक सत्य स्वीकार कर उनमें सामंजस्य स्थापित करते हुए पूर्ण सत्य की ओर अग्रसर होना नयवाद का लक्ष्य है।

नय का विषय एकांत है, किंतु एकांतों के समूह का नाम ही तो अनेकांत है। अतः जो वस्तु प्रमाण की दृष्टि में अनेकांत रूप है, वही वस्तु नय की दृष्टि में एकांत स्वरूप है। जैसे एक के बिना अनेक नहीं, वैसे ही एकांत के बिना अनेकांत नहीं। कहा भी है—

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्।।
(बृहत्स्वयंभू स्तोत्र 103)

अर्थात् प्रमाण और नय के द्वारा अनेकांत भी अनेकांत रूप है। प्रमाण की अपेक्षा अनेकांत है और विवक्षित नय की अपेक्षा एकांत है। अतः नय के बिना अनेकांत संभव नहीं है। अकलंकदेव के अनुसार सम्यक् एकांत नय कहलाता है और सम्यक् अनेकांत प्रमाण। नय विवक्षा वस्तु के एक धर्म का निश्चय कराने वाली होने से एकांत है और प्रमाण विवक्षा वस्तु के अनेक धर्मों की निश्चय स्वरूप होने के कारण अनेकांत है।

अस्तित्व आदि जितने वस्तु के निज स्वभाव हैं उन सबको अथवा विरोधी धर्मों को युगपत् ग्रहण करने वाला प्रमाण है। प्रमाण वस्तु को सब दृष्टि बिंदुओं से जानता है। इसीलिए वस्तु के समस्त अंशों को जानने वाला प्रमाण होता है। और उन्हें गौण-मुख्य भाव से ग्रहण करने वाला नय है। अर्थात् प्रमाण द्वारा ज्ञात अनंत धर्मात्मक वस्तु के किसी एक अंश अथवा गुण को मुख्य करके जानने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। नय-ज्ञान में वस्तु के अन्य अंश की ओर उपेक्षा या गौणता रहती है।

नय तथा प्रमाण के उपर्युक्त स्वरूप-विवेचन से इन दोनों का अंतर भी स्पष्ट हो जाता है। षट्खंडागम की धवला टीका में कहा भी है कि प्रमाण नय नहीं है क्योंकि प्रमाण का विषय अनेकांत (अनेक धर्मात्मक वस्तु) है और न नय प्रमाण है क्योंकि नय का विषय एकांत अर्थात् अनंत धर्मात्मक वस्तु का एक अंश (धर्म) है।

इस तरह नयवाद वस्तु के गुण, स्वरूप एवं विविध पर्यायों का यथार्थ विवेचन है, जो पूर्ण सत्य को प्राप्त करने में महत्त्वपूर्ण योग देता है, क्योंकि नय का आविष्कार वस्तु के यथार्थ स्वरूप को अवगत करने के लिए ही किया गया है। अपनी दृष्टि तक सीमित रहते हुए भी दूसरों की दृष्टि पर प्रहार न करना ही नय का मूल लक्ष्य है।

वस्तुतः श्रुत के दो कार्य हैं—स्याद्वाद और नय। संपूर्ण वस्तु के कथन को स्याद्वाद और वस्तु के एकदेश के कथन को 'नय' कहते हैं। आ. समन्तभद्र ने कहा है कि स्याद्वाद के द्वारा गृहीत अनेकांतात्मक पदार्थ के धर्मों का अलग-अलग कथन करने वाला नय है। अतः प्रमाण के द्वारा अनेकांत का बोध होता है और नय के द्वारा एकांत का बोध होता है। किंतु नय तभी सुनय है जब वह सापेक्ष हो। यदि वह अन्य नयों के द्वारा गृहीत अन्य धर्मों का निराकरण करता है तो वह दुर्नय हो जाता है। अतः सापेक्ष नयों के द्वारा गृहीत एकांतों के समूह का नाम ही अनेकांत है और अनेकांत का ग्राहक या प्रतिपादन स्याद्वाद है। अतः स्याद्वाद को समझने के लिए नय को समझना आवश्यक है और नय के द्वारा ही एकांत का निरास संभव है। क्योंकि यद्यपि नय एकांत का ग्राहक है, किंतु वह एकांत भी तभी 'सम्यक् एकांत' कहा जाता है जब वह अन्य एकांतों का निराकरण नहीं करता। अतः अन्य सापेक्ष एकांत ही सम्यक् एकांत हैं। यद्यपि जैन दर्शन सम्यक् एकांत का विरोधी नहीं है, किंतु मिथ्या एकांत का विरोधी है। इस प्रकार के एकांतों के समन्वय के लिए नय का ज्ञान आवश्यक है। नय का ज्ञाता यह जानता है कि वस्तु को जानने के बाद ज्ञाता अपने अभिप्राय के अनुसार उसका कथन करता है, अतः उसका कथन उतने ही अंश में सत्य है, सर्वांश में नहीं। दूसरा ज्ञाता उसी वस्तु को अपने अभिप्राय के अनुसार भिन्न रूप से कहता है। उनके पारस्परिक विरोध को नय दृष्टि से ही दूर किया जा सकता है। अतः वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझने के साथ उसके संबंध में विभिन्न कलाओं के विभिन्न अभिप्रायों को समझने के लिए नय को जानना चाहिए।

मूलतः नय के दो रूप हैं—सम्यक् नय अर्थात् सुनय एवं मिथ्या नय अर्थात् दुर्नय। सुनय सापेक्ष होता है, पर दुर्नय अन्य निरपेक्ष होकर अन्य का निराकरण करता है। जो नय अनेकांतात्मक वस्तु के किसी धर्मविशेष को सापेक्षिक रूप से ग्रहण करता है वह सुनय है तथा जो नय दूसरे धर्मों



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का निराकरण करता है और अपने ही अधिकार प्रतिष्ठित करता है वह दुर्नय है। दुर्नय स्यात् का तिरस्कार कर निरपेक्षता को अपनाता है। यह अपने पक्ष का आग्रह और पर का विरोध करता है, किंतु सुनय अनेकांतात्मक वस्तु के किसी विशेष अंश को मुख्य भाव से ग्रहण करके भी अन्य अंशों का निराकरण नहीं करता। उनकी ओर तटस्थ भाव रखता है। क्योंकि अनंत धर्मात्मक वस्तु में सभी नय बराबर हैं। इस तरह सभी सापेक्ष नय सुनय और निरपेक्ष नय दुर्नय कहे जाते हैं।

नयवाद या इसके भेद-प्रभेदों आदि के विवेचन प्रसंग में मुख्य, गौण, सामान्य और विशेष—इन शब्दों का काफी प्रयोग होता है। वस्तुतः इन शब्दों पर ही नय, प्रमाण, अनेकांत और स्याद्वाद जैसे दार्शनिक सिद्धांतों का विवेचन आधारित होता है। अतः इन शब्दों का अर्थ समझ लेने से इन जटिल सिद्धांतों को समझ लेने में सरलता होती है। इन शब्दों के क्रमशः यहां तात्पर्यार्थ प्रस्तुत हैं—

**मुख्य** : प्रत्येक पदार्थ में अनेक धर्म या गुण होते हैं। उन अनेक धर्मों में से जिस समय जिस धर्म की विवक्षा होती है, उस समय वही धर्म प्रधान माना जाता है। इस विवक्षित प्रधान धर्म को उस समय मुख्य धर्म कहा जाता है।

**गौण** : अनंतधर्मात्मक वस्तु में एक साथ सभी धर्मों का कथन तो संभव नहीं है। अतः उनमें से एक बार में एक धर्म का ही कथन संभव है। जिस समय जिस बिवक्षित धर्म का प्रतिपादन किया जा रहा है, उस मुख्य धर्म के अतिरिक्त बाकी सभी धर्म उस समय अविवक्षित होने से 'गौण' कहलाते हैं। अर्थात् जिनकी विवक्षा उस समय न हो, वे गौण होते हैं। यही गौण शब्द का अर्थ है।

**सामान्य** : जैन दर्शन में वस्तु का लक्षण सामान्य-विशेषात्मक माना जाता है। इसमें सामान्य द्रव्य है और उस द्रव्य की पर्याय 'विशेष' कही जाती है। अतः वस्तु के जिस धर्म के कारण अनेक पदार्थ एक जैसे दिखते हों, उसको सामान्य कहते हैं। जैसे अनेक गायों में गोत्व धर्म सामान्य है।

**विशेष** : सजातीय और विजातीय पदार्थों से भिन्नता का बोध कराने वाला धर्म 'विशेष' कहा जाता है।

**नय के भेद**

नय के अनेक तरह से भेद किए गए हैं। सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन दिवाकर ने तो यहां तक कह दिया है कि 'जावइया वयणवहा तावइया चेव होंति णयवाया'—अर्थात् जितने वचन विकल्प हैं उतने ही नयवाद हैं। सर्वार्थसिद्धि में कहा है—'नय अनंत भी हो सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु की शक्तियां अनंत हैं। अतः प्रत्येक शक्ति की अपेक्षा भेद को प्राप्त होकर नय अनंत विकल्परूप हो जाते हैं। फिर भी मूलरूप में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—ये दो नय हैं, क्योंकि वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है। माइल्ल धवल के अनुसार सर्वनयों के मूल निश्चय और व्यवहार—ये दो नय हैं। इनमें निश्चय नय द्रव्याश्रित है और व्यवहार नय पर्यायाश्रित है।

जो वस्तु में सामान्य धर्म को मुख्य और विशेष धर्म को गौण करता है, वह द्रव्यार्थिक नय है। इसके विपरीत जो वस्तु के सामान्य स्वरूप को गौण कर विशेष स्वरूप को मुख्यता से ग्रहण करता है, वह पर्यायार्थिक नय है। अर्थात् जो पर्याय को गौण करके द्रव्य का ग्रहण करता है उसे द्रव्यार्थिक नय तथा जो द्रव्य को गौण करके पर्याय को ग्रहण करता है उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

वस्तुतः वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक या सामान्य विशेषात्मक है। द्रव्य और पर्यायि को या सामान्य और विशेष को देखने वाली दो आंखें हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। एक दृष्टि से देखना एक देश को देखना है और दोनों दृष्टियों से देखना सब वस्तु को देखना है। इस तरह वस्तु को देखने की ये दो दृष्टियां हैं।

इन्हीं को जब निश्चय तथा व्यवहार नय के नाम से अभिहित करते हैं तब जो अभेद और अनुपचार रूप से वस्तु का निश्चय करते हैं, वह निश्चय नय है तथा भेद और उपचार रूप से वस्तु का व्यवहार करना व्यवहार नय है। माइल्ल धवल ने भी कहा है—'जो एक वस्तु के धर्मों में कथंचित् भेद व उपचार करता है उसे व्यवहार नय कहते हैं और उससे विपरीत निश्चय नय होता है। निश्चय नय को भूतार्थ और व्यवहार नय को अभूतार्थ कहते हैं। निश्चय नय आत्मसिद्धि का हेतु है, अतः जब यह शुद्धात्मा को मुख्यता से विषय करता है, उस समय व्यवहार नय गौण रूप में उपस्थित रहता है। यदि एक नय का व्यवहार करते समय दूसरी नयदृष्टि का सर्वथा परित्याग कर दिया जाए, तो नयज्ञान सुनय कोटि में नहीं आ सकेगा। इस प्रकार नय के अनेक भेद किए गए हैं। किंतु जैनाचार्यों ने मुख्यता से जिन नैगम, संग्रह आदि सात नयों का प्रतिपादन किया है, वे इस नयवाद को समझने में बहुत सहयोगी बनते हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि विविध दृष्टिकोणों के आधार पर नयों के असंख्यात भेद संभव हैं



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

क्योंकि प्रत्येक नय एक नया दृष्टिकोण उपस्थित करता है और यह दृष्टिकोण अपने में समीचीन होता है। किंतु मूल नय के भेदों के विषय में विभिन्न मत हैं। किंतु द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु के दो ही मूल अंश हैं और उनको विषय करने वाले ये दो मूल नय माने गए हैं। क्योंकि इन दो ही नयों में सभी नय गर्भित हैं।

**सात नय**

वचन प्रकारों के आधार पर निम्नलिखित सात नयों की व्यवस्था जैनाचार्यों ने की है—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत।[5] द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—इन दोनों नयों के ये सात उत्तर भेद हैं। इनका विवेचन इस प्रकार है :

**1. नैगम नय :**

निगम अर्थात् संकल्प। प्रस्थ आदि रूप संकल्पमात्र को जो वस्तु रूप से ग्रहण करता है उसे नैगम नय कहते हैं। जैसे कोई पुरुष इस संकल्प से कि जंगल से लकड़ी लाकर उसका प्रस्थ (अनाज मापने का एक बर्तनविशेष) बनाऊंगा, कुल्हाड़ी लेकर जंगल की ओर जाता है, उससे कोई पूछता है कि कहां जा रहे हो? वह कहता है, प्रस्थ लाने के लिए। यहां वह लकड़ी में प्रस्थ बनाने का संकल्प मात्र है, उसमें ही प्रस्थ का व्यवहार करता है। इस प्रकार यह लोक-व्यवहार अनिष्पन्न अर्थ के आलंबन से संकल्पमात्र को विषय करता है। अतः यह सब नैगम नय का विषय है।

**2. संग्रह नय :**

भेद सहित सब पर्यायों को अपनी जाति के अविरोध द्वारा एक मानकर सामान्य से सबको ग्रहण करने वाला नय संग्रह नय है। जैसे सत्, द्रव्य और घट आदि। समस्त भेद-प्रभेदों का—उनकी जो-जो जाति है, उसके अनुसार उनमें एकत्व के ग्रहण करने वाले नय को संग्रह नय कहते हैं। जैसे सत् कहने पर सत्ता के आधारभूत सभी पदार्थों का संग्रह हो जाता है। 'द्रव्य' कहने पर जीव, अजीव और उनके भेद-प्रभेदों का संग्रह होता है। 'घट' कहने पर 'घट' रूप से कहे जाने वाले समस्त घटों का संग्रह हो जाता है।

**3. व्यवहार नय :**

संग्रह नय के द्वारा ग्रहण किए गए पदार्थों का विधिपूर्वक भेद करना व्यवहार नय है। जैसे जो सत् है, वह द्रव्य और पर्याय के भेद से दो प्रकार का है। व्यवहार से जीव द्रव्य के देव, नारकी आदि रूप और अजीव द्रव्य से घटादि रूप-भेदों का आश्रय लिया जाता है। इस प्रकार इस नय की प्रवृत्ति वहीं तक होती है, जहां तक वस्तु में फिर कोई भेद करना संभव नहीं रहता। इस तरह लौकिक व्यवहार के अनुसार विभाग करने वाले नय को व्यवहार नय इसलिए कहा क्योंकि यह भेद-मूलक होता है।

**4. ऋजुसूत्र नय :**

जो सरल को सूत्रित अर्थात् स्वीकार करता है वह ऋजुसूत्र नय है। यह एक समयवर्ती पर्याय को विषय करता है। अतीत और अनागत चूंकि विनष्ट और अनुत्पन्न हैं, उनसे व्यवहार नहीं हो सकता। अतः इनका विषय एक क्षणवर्ती वर्तमान पर्याय है। इसीलिए वर्तमान क्षण में होने वाले पर्याय को, प्रधान रूप से ग्रहण करने वाले नय को ऋजुसूत्र नय कहते हैं।

**5. शब्द नय :**

लिंग, संख्या, कारक, काल, पुरुष और उपसर्ग आदि के भेद से अर्थ को भेद-रूप ग्रहण करने वाला शब्द नय होता है। शब्द की प्रधानता के कारण इसे शब्द नय कहते हैं। इसके अनुसार जब ये सब अलग-अलग हैं, तब इनके द्वारा कहा जाने वाला अर्थ भी पृथक्-पृथक् ही होना चाहिए। इसी कारण क्रियाभेद से भी अर्थभेद माना जाता है।

**6. समभिरूढ़ नय :**

लिंग आदि का भेद न होने पर भी शब्दभेद से अर्थ का भेद मानने वाला समभिरूढ़ है। जहां शब्द नय शब्दभेद से अर्थभेद नहीं मानता, वहां यह नय शब्दभेद द्वारा अर्थभेद स्वीकार करता है। जैसे—इन्द्र, शक्र, पुरन्दर—ये तीनों शब्द स्वर्ग के स्वामी इन्द्र के वाचक और सभी पर्यायवाची एवं एक ही लिंग के हैं, किंतु ये तीनों शब्द उस इन्द्र के भिन्न-भिन्न धर्मों को कहते हैं। अर्थात् जब आनंद करता है तब इन्द्र, शक्तिशाली होने से शक्र तथा नगरों को नष्ट करने वाला होने से पुरन्दर कहा जाता है। इस प्रकार यह नय पर्याय-भेद से शब्द के भिन्न अर्थ मानता है।

**7. एवंभूत नय :**

जिस शब्द का जिस क्रियारूप अर्थ है, वह क्रिया जब हो रही हो तभी उस पदार्थ को ग्रहण करने वाला वचन और ज्ञान एवंभूत नय कहलाता है। समभिरूढ़ नय जहां शब्द-भेद के अनुसार अर्थभेद करता है, वहां एवंभूत नय व्युत्पत्त्यर्थ के घटित होने पर ही शब्दभेद के अनुसार अर्थभेद करता है। इसके अनुसार जिस शब्द का जिस क्रियारूप अर्थ



Jain Education International | For Private & Personal Use Only | www.jainelibrary.org

है। तद्रूप क्रिया से परिणत समय में ही उस शब्द का वह अर्थ हो सकता है, अन्य समय में नहीं। जैसे पूजा करते समय ही पुजारी कहना, अन्य समय में उस व्यक्ति को पुजारी न कहना एवंभूत का विषय है। एवंभूत नय में उपयोग सहित क्रिया की प्रधानता है।

इन सात नयों में प्रारंभ के तीन द्रव्यार्थिक, शेष चार पर्यायार्थिक नय हैं। इन्हीं सात नयों में नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्र—ये चार अर्थ नय कहलाते हैं। शेष तीन नय शब्द नय हैं। ये सातों नय परस्पर सापेक्ष अवस्था में ही सम्यक् माने जाते हैं तथा निरपेक्ष अवस्था में दुर्नय। इन सातों की यह भी विशेषता है कि इनका विषय उत्तरोत्तर अल्प होता जाता है।

इस प्रकार जैन दर्शन केवल भावना और विश्वास की भूमि पर खड़ा होकर मात्र कल्पनालोक में विचरण नहीं करता और न ही यह वस्तुग्राही दृष्टिकोणों का तिरस्कार ही करता है। यह तो अनंत गुण-पर्यायात्मक वस्तु का विभिन्न दृष्टिकोणों द्वारा विश्लेषण और विवेचन करता है। वस्तु के धर्म अनंत हैं और उसके दर्शक-दृष्टिकोण भी अनंत हैं। प्रतिपादन के साधन 'शब्द' भी अनंत हैं। अतः वस्तु स्पर्श करने वाली दृष्टियां अपने से भिन्न वस्तुओं को ग्रहण करने वाले दृष्टिकोणों को समादर करती हैं, वे सत्योन्मुख होने के कारण यथार्थ कही जाती हैं। जिन दृष्टियों में यह आग्रह रहता है कि मेरे द्वारा देखा गया वस्तु का अंश ही सत्य है, अन्य के द्वारा जाना गया मिथ्या है। वे वस्तु-स्वरूप से परांग्मुख होने के कारण मिथ्या और विषमवादिनी होती हैं। इस प्रकार अनंत धर्मात्मक वस्तु को ग्रहण करने वाला दृष्टिकोण दर्शन है।

### अनेकांतवाद

जैन दर्शन का हार्द यदि एक शब्द में कहना हो तो वह शब्द है—अनेकांतवाद। यही जैन दर्शन की विश्व को एक अनुपम और मौलिक देन है। जैन दर्शन की यह मान्यता है कि वस्तु बहुआयामी है, उसमें परस्पर विरोधी अनेक गुण-धर्म हैं, किंतु प्रायः लोग अपनी एकांत दृष्टि से वस्तु का समग्र बोध नहीं कर पाते। जबकि अनेकांतवाद एक ऐसा सिद्धांत है जो वस्तुतत्त्व को उसके समग्र स्वरूप के साथ प्रस्तुत करता है। इसके बिना निर्विवाद लोक-व्यवहार भी नहीं चल सकता। वस्तुतः आग्रही, एकांत और संकीर्ण स्वार्थपूर्ण विचारों के कारण ही आज ईर्ष्या, कलह, कलुषता और परस्पर विवाद की स्थिति निर्मित होती जा रही है, ऐसी स्थिति में अनेकांतवाद बहुत उपयोगी है। क्योंकि अनेकांतवादी वस्तुतत्त्व के विभिन्न पक्षों को तत्-तद् दृष्टि से स्वीकार कर समन्वय का श्रेष्ठ मार्ग अपनाता है, वह सिर्फ अपनी ही बात नहीं करता अपितु सामने वाले की बात को भी धैर्यपूर्वक सुनता है। जहां सिर्फ अपनी ही बात का आग्रह होता है, वहां दूर-दूर तक सत्य के दर्शन नहीं होते।

### वैचारिक अहिंसा अर्थात् अनेकांतवाद

अहिंसा-पालन हेतु वैचारिक मतभेदों को दूर करने का मार्ग जैन धर्म में 'अनेकांत' सिद्धांत द्वारा प्रतिपादित किया गया। अनेकांतवाद वह सिद्धांत है जो वस्तुतत्त्व विषयक वैज्ञानिक अनुभव पर आधारित है, जो व्यक्ति को उदार एवं सम्यक् दृष्टि प्रदान करता है। प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण-धर्म होते हैं। उनके अनेक पहलू होते हैं। भिन्न-भिन्न व्यक्ति, भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से उनका वर्णन करते हैं, क्योंकि सत्य किसी व्यक्ति या धर्म की बपौती नहीं है। सबकी बात सहिष्णुतापूर्वक सुनो और जिस दृष्टिकोण से वह कही गई है, उसे उसी दृष्टिकोण से समझने का प्रयत्न करना चाहिए। हमारे बड़े-से-बड़े विरोधी की बात भी किसी-न-किसी दृष्टिकोण से सही हो सकती है। उदार, समन्वय-बुद्धि से उस बात को सुनने और उस पर विचार करने की आवश्यकता है। ऐसी दृष्टि प्राप्त होने पर कदाग्रह, हठधर्म, पक्षपात आदि के लिए गुंजाइश नहीं रहती। समस्त पारस्परिक विवाद एवं झगड़े समाप्त करने का यह अमोघ उपाय है।

अनेकांत विचारधारा वाला व्यक्ति जो कथन करता है, वह स्याद्वाद पद्धति से करता है। 'ही' के स्थान में 'भी' का प्रयोग करता है। अपनी बात ही संपूर्ण सत्य है और अन्य सबका मत सर्वथा असत्य है—ऐसा एकांत दावा वह नहीं करता। वह तो 'जो सच्चा सो मेरा'—इस यथार्थ मान्यता का अनुसरण करते हुए 'जो मेरा सो सच्चा'—इस अयथार्थ मान्यता के आग्रह का त्याग करता है। इस प्रकार की सहिष्णुतापूर्ण उदार समन्वय बुद्धि, पारस्परिक शांति की विधायक है। इसका प्रयोग दार्शनिक और धार्मिक क्षेत्र में ही नहीं, सामाजिक, राजनीतिक तथा लौकिक जीवन के भी प्रत्येक क्षेत्र में सफलतापूर्वक किया जा सकता है और उसके द्वारा शांति का संप्रसारण होगा ही। इसीलिए जैन धर्म के इस सापेक्षिक अनेकांत सिद्धांत को वैचारिक और व्यावहारिक अहिंसा कहें तो अत्युक्ति न होगी।

वस्तुतः सत्य का परिज्ञान कराने के लिए वस्तु का सभी दृष्टियों से विचार करना अत्यन्त अपेक्षित है। अतः


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेकांतवादी दृष्टिकोण के अनुसार प्रत्येक पदार्थ नित्य और अनित्य है। जहां नित्यता है, वहां अनित्यता भी है। इसीलिए तीर्थंकर महावीर ने कहा, 'उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा' (स्थानांग सूत्र-10) अर्थात् तत्त्व उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, अर्थात् पर्याय दृष्टि से उत्पन्न और विनष्ट होता हुआ भी द्रव्य नित्य है। कोई भी पदार्थ इसका कभी भी अपवाद नहीं हो सकता। किंतु पर्यायों का विनाश और उत्पाद सदैव होता रहता है। नित्यत्व पदार्थ के मूल स्वभाव से संबधित है, जो सदा-सर्वदा ध्रुव है, शाश्वत है और जबकि अनित्यत्व पदार्थ की पर्याय से संबंध रखता है। पर्याय परिवर्तनशील है। अतः नाशवान है। इसे हम इस तरह भी समझ सकते हैं—जैसे एक घड़ा है, घड़े का दूसरा रूप मिट्टी है। वह अतीत काल में भी विद्यमान थी, वर्तमान में भी है और आगतकाल में भी रहेगी, अर्थात् घड़े का विनाश होने पर भी मिट्टी अपने रूप में रही है। इस दृष्टिकोण से पदार्थ न एकांत नित्य है, न एकांत अनित्य, वह तो नित्य-अनित्य उभय रूप है।

इसीलिए अनेकांत शब्द की उत्पत्ति भी इस प्रकार की गई है—'अनेके अन्ताः यस्मिन् असौ अनेकान्तः'—जिसमें अनेक धर्म तादात्म्य भाव से रहते हैं, उसका नाम अनेकांत है। इसी अनेकांतमयी जैन शासन में विवक्षावश किसी बात को गौण और कभी किसी को मुख्यरूपता प्रदान की जाती है।

तत्त्वार्थवार्तिक में अनेकांत का छल करने वालों को आचार्य अकलंकदेव स्वामी ने कहा कि 'जो लोग' वही वस्तु है और वही वस्तु नहीं है, वही नित्य है और वही अनित्य—ऐसा कैसे हो सकता है? वह तो छलमात्र हुआ, ऐसा कहकर अनेकांत का मजाक उड़ाते हैं, वे वस्तुतः अनेकांत को समझ ही नहीं सके। अनेकांत छल रूप नहीं है, क्योंकि जहां वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करके वचन-विधान किया जाता है, वहां छल होता है। जैसे 'नव कम्बलो देवदत्तः'—यहां 'नव' शब्द के दो अर्थ होते हैं। '9' संख्या तथा दूसरा 'नया'। तब 'नूतन' विवक्षा कहे गए 'नव' शब्द संख्या रूप अर्थ विकल्प करके वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना छल कही जाती है। किंतु सुनिश्चित मुख्य-गौण विवक्षा से संभव अनेक धर्मों का सुनिर्णीत रूप से प्रतिपादन करने वाला अनेकांतवाद 'छल' नहीं हो सकता, क्योंकि वचन विघात नहीं किया गया है, अपितु यथास्थिति वस्तुतत्त्व का निरूपण किया गया है।

यद्यपि इस सिद्धांत की कुछ जटिलता के कारण कहीं-कहीं इस दर्शन की विवेचनाओं में पूर्वापर विरोध-सा प्रतीत होने लगता है, किंतु इस सिद्धांत का हार्द समझ लेने पर कोई भी सहृदयी व्यक्ति इसे अपनाकर इसकी प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकता। क्योंकि तत्त्व की जितनी विशदता तथा व्यापकता से विवेचना प्रस्तुत करने में यह अनेकांत का सिद्धांत समर्थ है, उतना विश्व में अन्य कोई सिद्धांत नहीं है।

इस तरह हम देखते हैं कि आज के संदर्भ में हम अपने प्यारे भारत देश की एकता और अखंडता सुरक्षित रखने में इस अनेकांत सिद्धांत का प्रयोग करके उसे साकार कर सकते हैं। क्योंकि हमारा देश विभिन्न वर्गों, जातियों, समुदायों, भाषाओं, धर्मों, विभिन्न वेशभूषाओं आदि रूप में ऐसा संगठित रूप है, जहां अनेकता और विभिन्नताओं में एकता के दर्शन होते हैं। इस प्रकार की राष्ट्रीय एकता की भावना का निरंतर विकास अनेकांत सिद्धांत का प्रत्यक्ष उदाहरण है और विशेषकर यह सिद्धांत तब और कार्यकारी सिद्ध होता है जब हमारी लोकतांत्रिक प्रणाली में अब केंद्र और प्रदेशों में किसी एक पार्टी को स्पष्ट बहुमत न मिल पाने के कारण विभिन्न और विरोधी विचारधाराओं की तेरह-तेरह या इससे भी अधिक पार्टियों को एक साथ मिलकर सरकार बनाने के लिए विवश होना पड़ता है, तब तो विभिन्नताओं में एकता के इस प्रयास को अनेकांत नाम ही दिया जा सकता है। इस प्रकार के संतुलित समझौते, सामंजस्य, सापेक्षता और समरसता की भावनाएं अनैकांतिक चिंतनधाराओं के विकास की प्रत्यक्ष उदाहरण है, जो हमें विभिन्नताओं के बाद भी मिला-जुलाकर एक साथ रहने और विश्वबंधुत्व की भावना को प्रोत्साहित करने में सहायक हैं। किंतु हमें तीर्थंकर महावीर की उन भावनाओं को ध्यान में रखना होगा, जिनमें 'सर्वजीव हिताय सर्वजीव सुखाय' की मंगल भावना निहित है। ❖

**संदर्भ**


1. प्रमाणनयैरधिगमः—तत्त्वार्थसूत्र 1/6
2. क. ज्ञातृणामभिसन्धयः खलु नयाः—सिद्धिविनिश्चय 10/1
   ख. नयोज्ञातुरभिप्रायः—लघीयस्त्रय, श्लोक 52
3. माइल्ल धवल कृत नयचक्र : प्रस्तावना, पृ. 11, सं. पं. कैलाशचंद्र शास्त्री
4. सिद्धिविनिश्चय, भाग 1, प्रस्तावना, पृ. 140, सं. पं. महेन्द्र कुमार जैन
5. सर्वार्थसिद्धि 1/33-2, पैरा. 1-249 ❖❖





Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# शारीरिक संरचना में झलकता अनेकांत

डॉ. जे. पी. एन. मिश्रा

**परिस्थिति चाहे कैसी भी हो, शरीर के अंदर प्रतिक्रियाएं सदा संतुलित रूप से ही संपादित होती हैं। यदि कहीं असंतुलन होता है तो वह आनुवांशिकता या अन्य रचनात्मक दोषों के कारण ही होता है। इन सभी अनुक्रियाओं के बीच विरोध के साथ सह-अस्तित्व अनेकांत का ज्वलंत उदाहरण है।**

सर्वथा भिन्न प्रकार की रचना एवं क्रिया वाले जीवों का एक साथ सामंजस्य बिठाते हुए सहजीवन बिताना अनेकांत का उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है। यूं तो विरोधीगुण, विरोधी प्रकृति तथा विरोधी विचारधारा के बावजूद मिलजुल कर परस्पर प्रेम से रहना, संघर्ष से बचते हुए सह-अस्तित्व की रक्षा करना ही अनेकांत है, पर यह केवल व्यवहार के लिए ही नहीं प्रकृति के अनेक अन्य क्षेत्रों में भी लागू होता है। मानव समस्त प्राणियों में श्रेष्ठ माना जाता है। इस श्रेष्ठता का पैमाना उसका चिंतन और व्यवहार है। व्यवहार वह प्रक्रिया है जो मनुष्य स्वयं के साथ करता है, अन्य मनुष्यों के साथ करता है, पर्यावरण और पारिस्थितिकी के साथ करता है और अन्य प्राणियों के साथ संपादित करता है। व्यवहार की प्रक्रिया में मनुष्य के साथ-साथ कोई एक अन्य पक्ष अवश्य होता है, यानी व्यवहार द्विपक्षीय प्रक्रिया है। द्विपक्षीय व्यवहार में अनेकांत की भूमिका अपेक्षाकृत स्पष्ट दृष्टिगोचर हो सकती है। यदि हम सूक्ष्मता से विचार करें तो मानव शरीर की रचना एवं क्रिया अनेकांत की सार्वभौमिकता एवं शाश्वतता को सिद्ध कर रही दिखाई देती है।

**शारीरिक संरचना के स्तरों में अनैकांतिक व्यवस्था**

मानव शरीर की संरचना के मुख्य पांच स्तर होते हैं—

1. रासायनिक स्तर, 2. कोशिकीय स्तर, 3. ऊतकीय स्तर, 4. अंगीय स्तर, 5. तंत्रीय स्तर।

रासायनिक स्तर का संबंध प्रकृति में पाए जाने वाले रासायनिक तत्त्वों से है। हाइड्रोजन, आक्सीजन, नाइट्रोजन, कार्बन, फास्फोरस, लोहा, तांबा आदि इसके कुछ उदाहरण हैं। ये सारे तत्त्व, जिनकी कुल संख्या वर्तमान में 109 है—स्वतंत्र रूप से भी और संयुक्त रूप से भी प्रकृति में पाए जाते हैं। हममें से हर कोई पानी से परिचित है। पानी का निर्माण हाइड्रोजन और आक्सीजन के क्रमशः दो और एक अणुओं के मिलने से होता है। ये दोनों प्रकार के अणु जब एक विशेष प्रकार के 'बंध' के द्वारा एक-दूसरे से बंध जाते हैं, तो पानी बन जाता है। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के दो या दो से अधिक अणु जब निश्चित अनुपात में 'बंध' बनाते हैं तो उसे यौगिक कहते हैं। कहना न होगा कि समस्त सृष्टि की रचना इन्हीं तत्त्वों/यौगिकों के द्वारा ही हुई है—चाहे वे जीवित प्राणी हों या मृत पदार्थ। यहां यह उल्लेखनीय है कि इन तत्त्वों की रचना विरोधी गुणधर्म वाले इलेक्ट्रॉनों/प्रोटॉनों के संयोग से होती है। इन तत्त्वों के अणु विपरीत गुण वाले होते हुए भी आपस में संयोग करते हैं। संयोग ही नहीं, कुछ इस प्रकार की रचना के लिए आपस में 'बंध' बनाते हैं जो सर्वथा स्थाई और दृढ़ होते हैं। मानव शरीर की संरचना में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट, वसा, विटामिन, खनिज लवण आदि यौगिक प्रमुख हैं। सर्वथा विपरीत गुण रखते हुए भी ये सारे रासायनिक पदार्थ एक साथ मिलते हैं, रहते हैं, कार्य करते हैं और जीवन को आयाम देते हैं।

कोशिकीय स्तर का प्रादुर्भाव विशिष्ट इकाई रचनाओं से होता है जिसे कोशिका कहते हैं। कोशिका जीव की ऐसी इकाई है जो जीवन के समस्त लक्षणों से ओतप्रोत तथा समग्र गुणों वाली होती है। सबसे पहली भिन्नता कोशिका के आकार-प्रकार में होती है। कुछ कोशिकाएं गोल या



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अंडाकार, कुछ आयताकार, कुछ सूत्र की तरह लंबी, कुछ बेलनाकार, कुछ शंखाकार तथा कुछ चपटी होती हैं। कुछ कोशिकाओं से रोम निकले होते हैं जबकि कुछ कोशिकाओं का आकार अव्यवस्थित और अस्तव्यस्त होता है। यही नहीं, कोशिकाओं की अवस्थिति में भी बहुत-सारी विविधताएं होती हैं। कोशिकाओं का आकार कुछ माईक्रोमीटर से लेकर मिलीमीटर व्यास या परिमाप का होता है। यह तो हुई बात इनके आकार-प्रकार की। अब इनकी संरचना की ओर दृष्टिपात करें तो पाएंगे कि वहां भी अलग-अलग प्रकार की विशिष्टताओं की भरमार है। किसी एक कोशिका की मूल संरचना में सबसे बाहरी आवरण होता है जो झिल्ली के आकार का होता है जिसे कोशिका भित्ति कहते हैं। उसके अंदर गाढ़ा तरल पदार्थ होता है जिसे जीवद्रव्य कहते हैं। जीवद्रव्य के केंद्र में एक छोटी-सी गोल रचना होती है जिसे केंद्रक कहते हैं। कोशिका भित्ति के निर्माण हेतु वसा और प्रोटीन तथा फास्फेट नामक तीन विपरीत गुण-धर्म वाले रासायनिक पदार्थ मिलते हैं जो कोशिका को दृढ़ रूप देते हैं। यह भित्ति अनेक अति सूक्ष्म छिद्रों वाली होती है। इन छिद्रों पर रासायनिक यौगिक ही सुरक्षा प्रहरी का कार्य करते हैं जो चुने हुए पदार्थों को कोशिका के अंदर आने-जाने की अनुमति देते हैं। प्रकृति की कितनी चामत्कारिक विशेषता और जटिलता है कि अनेकानेक पदार्थों के आस-पास भ्रमण के बाद भी वहां कोई रासायनिक संघर्ष नहीं होता, सब-कुछ सहजता से होता चला जाता है। जीवद्रव्य गाढ़ा तरल पदार्थ होते हुए भी अपने अंदर भांति-भांति के कोशिका उपांगों को समाहित किए होता है। इनमें माइटोकान्ड्रिया, एन्डोप्लाज्मिक रेटिकुलम, गाल्जीकाम, लाइसोसोम आदि प्रमुख हैं। इनमें से कोई श्वसन का काम करता है, कोई खाना खाने-पचाने का काम करता है तो कोई उत्सर्जन का। कोई भी उपांग एक-दूसरे के कामों में हस्तक्षेप नहीं करते, बल्कि एक-दूसरे को सहयोग ही करते हैं। अनेकांत का इससे बेहतर उदाहरण अन्यत्र कहां मिल सकता है। जीवद्रव्य के अंदर पाया जाने वाला केंद्रक कोशिका का या यों कहें कि जीवन का तिलिस्मी खजाना है। इसके अंदर पत्ती के आकार के गुणसूत्र होते हैं जिन्हें सामान्यतया क्रोमोसोम कहा जाता है। इनके ऊपर डी.एन.ए. के बने हुए 'जीन' होते हैं। मानव जाति के जितने भी संभावित गुण होते हैं उनमें से हर एक के लिए अलग-अलग 'जीन' होते हैं। कालापन-गोरापन, लंबाई-ठिगनापन, मंदबुद्धि-तीव्रबुद्धि, क्रोधी-शांत आदि 'गुणों के जोड़ों' के कतिपय उदाहरण हैं। यह प्रकृति का चमत्कार और अनेकांत का अनुपम उदाहरण ही तो है कि हजारों गुणों के एक साथ रहते हुए भी कभी अंतर्गुणीय संघर्ष नहीं होता। जहां-कहीं भी एक गुण होगा उसका विरोधी उसके साथ होगा, परंतु जब एक सक्रिय होगा तो दूसरा निष्क्रिय—जिसके कारण स्वतः ही सामंजस्य स्थापित हो जाता है।

शरीर के ऊतकीय स्तर में एक समान कोशिकाएं अपने-अपने व्यक्तिगत गुणों के साथ एक साथ सहवास करते हुए एक विशेष प्रकार की रचना बनाती हैं। जब कोमल कोशिकाएं मिलती हैं तो मृदु ऊतक बनता है और जब कड़ी कोशिकाएं (ऐसी कोशिकाएं जिनकी भित्ति अपेक्षाकृत अधिक कठोर और मजबूत होती है) मिलती हैं तो कठोर ऊतक बनता है। आवश्यकतानुसार मृदु और कठोर ऊतक एक साथ भी सहवास करते हैं तो अतिविशिष्ट प्रकार के ऊतकों का निर्माण होता है। अलग प्रकार की विशेषता एवं विपरीत गुण-धर्म के बाद भी दो भिन्न ऊतक एक-दूसरे का आदर करते हैं, पोषण करते हैं तथा एक-दूसरे की सुरक्षा भी करते हैं, यही नहीं एक-दूसरे की तकलीफों में भागीदार भी बनते हैं। जब किसी एक ऊतक में घाव हो जाता है या कोई विकृति आ जाती है तो दूसरा ऊतक, जो उसके पास भी हो सकता है और दूर भी हो सकता है—निःस्वार्थ भाव से उसकी रोगमुक्ति का कारण बनता है। यह है सह-अस्तित्व एवं अनेकांत का सच्चा दृष्टांत।

शरीर की रचना के क्रम में ऊतकों के बाद अगली सीढ़ी अंगीय स्तर की होती है। जब भिन्न-भिन्न प्रकार के अंग एक साथ मिलते हैं तो विशेष कार्य के लिए विशेष रचना बनती है, जिसे अंग कहा जाता है। नाक, आंख, कान, दांत, जीभ, अंगुली, हाथ, पैर, हृदय, यकृत, फेफड़े—अंगों के कतिपय उदाहरण हैं। एक 'अंगुली' की रचना को देखें तो इसकी व्यवस्था में अनेक ऊतक शामिल हैं। कठोर तथा निश्चित आकार वाली अस्थि, रक्तवाहिकाएं, तंत्रिका शाखाएं, रक्त, पेशियां और त्वचा मिलकर इसका निर्माण करती हैं। इन सभी ऊतकों की प्रकृति सर्वथा भिन्न है, फिर भी जब अंगुली की बात आती है तो सभी की एकजुटता या इनके बीच अनैकांतिक समावेश स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

शरीर की रचना के स्तरों में अंतिम है तंत्रीय व्यवस्था। कोशिका से लेकर अंगों तक की जितनी रचना बनती है वह सोद्देश्य होती है। हर अंग का योगदान एक



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कार्यविशेष की दिशा में होता है जो एक जैसा भी हो सकता है और भिन्न भी हो सकता है। एक तंत्र की व्यवस्था में अनेक, परंतु अलग-अलग आकार-प्रकार तथा प्रकृति के अंग शामिल होते हैं। उदाहरण के लिए हम श्वसन तंत्र को लें। इसमें नासाद्वार, नासागुहा, ग्रसनी, श्वासनली, श्वसनिका और फेफड़े शामिल होते हैं। नासाद्वार, नासागुहा और ग्रसनी, जो अपेक्षाकृत कठोर स्वरूप की होती हैं—मिलकर वायु को श्वासनली तक पहुंचाते हैं। श्वासनली—जो कुछ मुलायम तथा कुछ कठोर ऊतकों का मिलाजुला रूप है—उस वायु को निश्चित दाब के साथ फेफड़ों तक ले जाती है। फेफड़ों की रचना अत्यंत मृदु, झिल्लीनुमा तिहरे आवरणों से होती है जिनके बीच-बीच में छोटे-छोटे प्रकोष्ठ होते हैं, जिनके चारों तरफ रक्त की वाहिकाओं में रक्त का सघन प्रवाह होता है। वहां पहुंचने के बाद वायु से आक्सीजन रक्त में चली जाती है और रक्त के अंदर से कार्बन-डाईआक्साइड निकलकर प्रकोष्ठों की वायु में मिल जाती है। इस प्रकार एक ही तंत्र के सहयोगी अवयवों में कुछ इस प्रकार तालमेल होता है कि एक वायु को अंदर लाता है, दूसरा उसे बाहर निकालता है; एक आक्सीजन अपने अंदर आत्मसात करता है; दूसरा उसके विपरीत कार्बन-डाईआक्साइड को बाहर निकालता है।

**दर्शन**

सांख्य दर्शन के अनुसार शरीर का अस्तित्व भिन्न प्रकृति वाले घटकों के मेल का परिणाम है। उसके अनुसार समूचा ब्रह्मांड विश्वात्मा और प्रकृति नामक दो घटकों से मिलकर बना है। प्रकृति में तीन गुण होते हैं—सत्त्व (सत्य, शुचिता, सौंदर्य और संतुलन), रजस (शक्ति तथा वेग) तथा तमस (गति को रोकने तथा बाधित करने का गुण)। प्रकृति के अंदर कर्म करने की प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि वह जड़ है। पुरुष प्रकृति का चेतन तत्त्व है। यह गुणों से ऊपर होता है। पुरुष पदार्थ में जीवन का संचार करता है। पुरुष और प्रकृति के संयोग से ही संपूर्ण सृष्टि को अस्तित्व प्राप्त होता है। शरीर का अस्तित्व भी इनमें से एक है। इनके संयोग से तीन अन्य घटकों की उत्पत्ति होती है। ये हैं—महत या बुद्धि, अहंकार तथा मन। इन तीनों से पांच सूक्ष्म तत्त्वों की उत्पति होती है—ध्वनि, स्पर्श, आकृति, रस एवं गंध। सूक्ष्म तत्त्वों द्वारा ही पंच महाभूतों—आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी का ज्ञान होता है। इन पांचों से संबंधित पांच ज्ञानेंद्रियां हैं—कर्ण, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, नासिका तथा पांच कर्मेंद्रियां हैं—मुख, हस्त, पाद, गुदा तथा जननेंद्रिय।

हमारा शरीर प्रकृति का एक अंश है और आत्मा पुरुष का। कर्म करना हमारा सहज स्वभाव है। कर्मों के कारण सभी आत्माएं जन्म, मृत्यु एवं पुनर्जन्म के चक्र में उलझी रहती हैं। जीवन के वैज्ञानिक स्वरूप को समझने तथा उससे लाभान्वित होने में कर्म-सिद्धांत अत्यंत सहायक होते हैं। कार्मिक विकास प्रक्रिया को ठीक ढंग से न समझ पाने के कारण ही लोग उसे धारण नहीं कर पाते। पूर्ववत् कर्म को रूढ़ता के साथ किया जाता है तथा वर्तमान जीवन के प्रति एक नियतिवादी धारणा बना ली जाती है।

प्रकृति और पुरुष, सूक्ष्म तत्त्व और पंचमहाभूत, ज्ञानेंद्रियां तथा कर्मेंद्रियां आदि अपने-आप में एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न होते हुए भी परस्पर सहयोग कर शारीरिक अस्तित्व के कारण बनते हैं—यह अनेकांत दर्शन का ज्वलंत उदाहरण है।

**विविध शरीर-क्रियाओं में अनेकांत**

मूलतः शरीर एक इकाई के रूप में कार्य करता है। एक व्यक्ति के पीछे एक ही शरीर होता है। उसके व्यवहार को एक व्यक्ति के व्यवहार के रूप में देखा जाता है, परंतु शरीर-क्रिया विज्ञान के दृष्टिकोण से देखा जाए तो कई आश्चर्यजनक तथ्य सामने आते हैं। जीवन चलाने के लिए मुख्य रूप से निम्नांकित क्रियाएं की जाती हैं।

1. चयापचय, 2. वृद्धि, 3. गति, 4. उत्तेजनात्मकता अथवा प्रतिक्रिया, 5. विभेदित विकास, 6. प्रजनन।

**चयापचय**—एक सामान्य-सी बात दिखाई देती है कि मनुष्य जो-कुछ खाता-पीता है या ग्रहण करता है वह शरीर के अंदर जाकर किसी अन्य रूप में परिवर्तित हो जाता है। आहार के रूप में ग्रहण किए गए पदार्थों—चावल, दाल, चपाती, सब्जी, दूध, घी, मिठाई आदि को यदि शरीर के अंदर खोजा जाए तो उनका कोई अस्तित्व नहीं मिलेगा। यह शरीर की क्षमता ही है जो बाजरे की कठोर रोटी तथा मक्खन जैसे कोमल पदार्थों—दोनों को समूल परिवर्तित कर देती है। ये खाद्य पदार्थ परिवर्तित होकर अस्थि, मज्जा, रक्त, हार्मोन, आंसू, पाचक रस आदि-आदि अनेक रासायनिक पदार्थों में बदल जाते हैं। चयापचय की संपूर्ण प्रक्रिया 'चय' और 'अपचय' नामक दो क्रियाओं के क्रमिक रूप से घटित होने से पूरी होती है। जो-कुछ हम खाते-पीते हैं उसे तोड़-फोड़ कर उनके मूल यौगिकों/अणुओं में परिवर्तित करने को अपचय तथा इन अणुओं को पुनर्नियोजित कर नए और शरीर के उपयोग लायक पदार्थों


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के निर्माण को चय कहते हैं। यह प्रक्रिया सुनने में जितनी सहज लगती है, हकीकत में उतनी आसान नहीं है। अनैकांतिक व्यवहार के रूप में शरीर के अनेक अंग इसमें अपना सक्रिय योगदान देते हैं।

दांत भोजन को काटते-चबाते हैं। जीभ चबाने में मदद करती है। लार-ग्रंथियां लार बनाती हैं जो भोजन की रासायनिक क्रिया व पाचन में मदद करती है। भोजन जब ग्रासनली के सहयोग से नीचे आमाशय में जाता है, वहां जठर रस भोजन को आगे पचाता है। फिर जब कुछ पचा हुआ भोजन आगे छोटी आंत में जाता है तो उसमें यकृत (लीवर) से पित्त और क्लोम ग्रंथि से अग्नाशय रस मिलता है तब जाकर भोजन का पाचन पूर्ण होता है। यहां तक आते-आते भोजन शरीर के उपयोग लायक पदार्थों में टूटकर रक्त में अवशोषित कर लिया जाता है।

इसी प्रकार श्वसन क्रिया के क्रम में नाक की सहायता से श्वास श्वासनली में होता हुआ फेफड़ों में पहुंचता है, जहां गैसों (आक्सीजन, कॉर्बनडाई आक्साईड) का विनिमय होता है। आक्सीजन रक्त में जाती है और कार्बनडाई-आक्साईड बाहर निकलती है। रक्त के साथ मिलकर उपयोगी खाद्य-अणु तथा आक्सीजन शरीर की प्रत्येक कोशिका के अंदर पहुंचते हैं, जहां उनका आक्सीकरण होता है। इस आक्सीकरण की प्रक्रिया में कोशिका के वही उपांग सक्रिय भूमिका निभाते हैं जिनका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। आक्सीकरण के पश्चात् ऊर्जा मुक्त होती है जो ए.टी.पी. के रूप में संग्रह की जाती है तथा कार्बनडाई-आक्साईड, पानी एवं अन्य त्याज्य पदार्थ पुनः रक्त परिपथ में आ जाते हैं जो गुर्दों के द्वारा छानकर पेशाब के रूप में बाहर कर दिए जाते हैं। कोशिकाओं तक लाए गए विभिन्न यौगिकों/अणुओं की पुनर्संयोजन की प्रक्रिया तथा ऊर्जा की सहायता से एक ओर आवश्यक नवीन रसायनों का उत्पादन होता है, दूसरी ओर नवीन कोशिकाओं का निर्माण होता है जिससे शरीर में वृद्धि होती है। इस प्रकार चयापचय का चक्र अनवरत चलता रहता है।

उपरोक्त पूरे प्रकरणों पर समग्र रूप से दृष्टिपात करें तो पाएंगे कि शरीर के बहुत-सारे अंग, बहुत-सारे तंत्र एक साथ मिलकर कार्य करते हैं। अलग-अलग रचना तथा कार्य होते हुए भी वे कभी एक-दूसरे का विरोध नहीं करते, बल्कि सहयोग करते हैं। पूरी प्रक्रिया में यदि कोई कड़ी कमजोर साबित होती है तो उसके कार्यों को कोई दूसरा अंग निर्वहन करने के लिए वैकल्पिक व्यवस्था तत्काल कर लेता है। उदाहरण के लिए जब किन्हीं कारणों से शरीर के अंदर प्रोटीन की कमी हो जाती है तो पाचन संस्थान और शरीर की कतिपय अन्य कोशिकाएं पहले कार्बोहाईड्रेट को जोड़कर कार्बन, आक्सीजन और हाईड्रोजन मुक्त करती हैं। तत्पश्चात् नाईट्रोजन अणुओं को मिलाकर वे प्रोटीन का निर्माण कर लेती हैं तथा प्रोटीन की न्यूनतम आवश्यकता पूरी हो जाती है। इसी प्रकार जब कार्बोहाइड्रेट की कमी होती है तो प्रोटीन को कार्बोहाईड्रेट में परिवर्तित करने का क्रम शुरू हो जाता है। कार्बोहाइड्रेट और वसा दोनों यौगिक शरीर के लिए ऊर्जा के मुख्य स्रोत होते हैं, परंतु शरीर वसा का उपयोग तभी करता है जब कार्बोहाइड्रेट की कमी होती है। ऐसी स्थिति में परस्पर सहयोग की भावना के अंतर्गत वसा को अन्य कार्यों से मुक्त करके मात्र ऊर्जा उत्पादन के लिए उपलब्ध कराया जाता है। ये सारी व्यवस्थाएं शरीर के अंदर क्रियात्मक अनेकांत की भावना की परिचायक हैं।

**वृद्धि**—मात्र एक कोशिका से प्रारंभ होकर एक वयस्क प्राणी बन जाना वृद्धि कहलाता है। यह जीवन का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। वास्तव में आकार में बढ़ने की प्रक्रिया ही वृद्धि है। जीवित प्राणी होने के कारण मानव शरीर की वृद्धि सुनियोजित ढंग से होती है। हर एक अंग की वृद्धि आनुपातिक रूप में ही होती है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और नियंत्रक की भूमिका निभाने वाले अंग मस्तिष्क के वृद्धि-विकास का क्रम भी सदैव सीमा के अंदर होता है। ऐसा नहीं है कि अपेक्षाकृत अधिक शक्तिशाली तथा नियामक शक्तियों से युक्त होने के कारण वह आकार में बड़ा हो जाए तथा हाथ, पैर, अंगुलियां और आंख, कान, नाक आदि छोटे रह जाएं। ऐसी ही व्यवस्था सभी अंगों और तंत्रों के साथ लागू होती है। कोई अंग किसी अन्य अंग के अधिकारों का अतिक्रमण कभी नहीं करता, चाहे वह कितना ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हो। इसी का परिणाम है कि शरीर संतुलित रूप से कार्य करने में सक्षम होता है। हां, कभी-कभी ऐसी परिस्थितियां भी सामने आती हैं कि किसी अंग-विशेष को अधिक कार्य करने की आवश्यकता होती है। उस दशा में उसको अधिक सशक्त बनाया जाना अपेक्षित होता है। तब इसकी इकाइयों में बढ़ोतरी के साथ उसके आकार में भी बढ़ोतरी आवश्यक हो जाती है। ऐसे में अन्य सभी अंगों के सापेक्षिक सहयोग एवं सहमति से उसमें अधिक वृद्धि का क्रम शुरू हो जाता है। स्वस्थ जीवन चलाने एवं संतुलित शारीरिक कार्यों के लिए इस प्रकार के नियोजित एवं परस्पर



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सहयोग की भावना को अनेकांत की व्यावहारिक परंपरा के रूप में देखा जा सकता है।

**गति**—सभी जीवित प्राणी और वनस्पतियां गति करते हैं, परंतु सब में उसका स्वरूप अलग-अलग होता है। मानव स्वच्छंद रूप से गति करने वाले प्राणियों में से एक है। गति करने के लिए पेशियों का कार्य करना, शरीर की अस्थि-संधियों में निरंतरता बने रहना, इन सभी कार्यों में निरंतर आवश्यक निर्देश मिलते रहना आवश्यक होता है। पेशियां फैलती-सिकुड़ती हैं, अस्थियां उन्हें फैलने-सिकुड़ने का आधार देती हैं, रक्त प्रवाह से उन्हें समर्थन और सहयोग मिलता है, तंत्रिकाएं उन्हें आवश्यक निर्देश देती रहती हैं। आदेश कभी काम करने का होता है और कभी काम बंद करने का। इन दो विरोधी आदेशों के बीच संतुलन बनाकर गति की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है और जीवन चलाने के लिए आवश्यक सामग्री तथा साधन जुटाए जाते हैं। गतिहीन शरीर को रुग्ण कहा जाता है। वास्तव में जीवन के रहने तक शरीर पूरी तरह गतिहीन हो ही नहीं सकता। यदि बाह्यगति को रोक भी दिया जाए तो भी श्वसन के क्रम में फेफड़ों की गति तथा रक्त प्रवाह के लिए हृदय-गति को भला कैसे रोका जा सकता है? इस प्रकार बाह्य तथा आंतरिक गतियों के बीच हर हाल में संतुलन बनाए रखना अपेक्षित होता है। हर प्रतिरोध के बावजूद भी शरीर ऐसा करता है। अनेकांत का इससे बेहतर उदाहरण भला क्या हो सकता है?

**प्रतिक्रिया और साम्यावस्था**—सामाजिक प्राणी होने के कारण मानव का संबंध स्वयं से, पर्यावरण से, अन्य जंतुओं से तथा सहजीवी मानवों से अविच्छिन्न होता है। एक तरफ वह स्वयं से आवश्यकतानुरूप व्यवहार करता है, दूसरी तरफ ब्रह्मांड के अन्य सभी घटकों से निरंतर संपर्क बनाकर रखता है। ऐसा करना केवल आवश्यकता नहीं उसकी मजबूरी है, इस क्रम में अनेकानेक उद्दीपन देता और लेता है। परिणामस्वरूप उसकी शरीर की संरचना में एवं क्रिया में इस तरह के परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों के चलते शरीर के विभिन्न तंत्र कभी अनुकूल तो कभी प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करते हैं। ऐसे में एक अंग या अवयव दूसरे की सहायता भी करता है और विरोध भी। परंतु इस सहयोग और विरोध के बीच एक सामंजस्य सदैव बना रहता है जो अपने-आप में अनैकांतिक व्यवस्था का द्योतक है।

हममें से अनेक इस तथ्य से परिचित होंगे कि मनुष्य एक समतापी जीव है अर्थात् बाह्य वातावरण कैसा भी हो शरीर के अंदर का तापमान सदैव एक जैसा ही रहता है। जब बाहर तापमान बहुत कम होता है तो पेशियां तथा लीवर की कोशिकाएं अधिक मात्रा में ऊष्मा का उत्पादन करती हैं। रक्त उस ऊष्मा को पूरे शरीर में फैलाने का माध्यम बनता है। इस क्रम में जब तापमान बढ़ने लगता है और वह नियत सीमा से ऊपर जाने लगता है तो इन्हीं अंगों की कतिपय कोशिकाएं उसका विरोध शुरू कर देती हैं और ऊष्मा का उत्पादन रुक जाता है। इसके ठीक विपरीत जब बाहर तापमान अपेक्षाकृत अत्यधिक न्यून होता है तब एक तो ऊष्मा का उत्पादन अत्यधिक कम कर दिया जाता है, दूसरे पसीना निकालकर एवं ऊष्मा के फैलाव की दिशा बदलकर आंतरिक तापमान को नियंत्रित किया जाता है। यहां यह उल्लेखनीय है कि एक ही समय में दोनों विरोधी प्रक्रियाएं सक्रिय रहती हैं, फिर भी इनके बीच संतुलन बना रहता है, वे दोनों एक-दूसरे की सीमाओं का अतिक्रमण नहीं करतीं। जब कभी ऐसी अप्रिय स्थिति उत्पन्न होती है तो मस्तिष्क के द्वारा उसका परिमार्जन किया जाता है। यह एक शुद्ध अनैकांतिक व्यवस्था का उदाहरण है।

इसी प्रकार की एक अन्य अनैकांतिक व्यवस्था का उदाहरण शरीर में ग्लूकोज (शुगर) के स्तर को लेकर देखा जा सकता है। भोजन पाचन के बाद ग्लूकोज के रूप में परिवर्तित होता है और रक्त में अवशोषित हो जाता है, जिससे रक्त में एकाएक शुगर की मात्रा बढ़ जाती है। शरीर की वे तमाम कोशिकाएं और ऊतक इसका विरोध करते हैं, क्योंकि, उन्हें बढ़ी हुई शुगर के कारण परेशानी होती है। तब इन्सुलिन-हार्मोन को अग्नाशय से अलग हटा दिया जाता है और रक्त में शुगर की सामान्य मात्रा ही शेष रह जाती है।

मानव शरीर के अंदर रचना और क्रिया के दृष्टिकोण से देखा जाए तो तंत्रिकातंत्र की रचना और इसकी क्रियाविधि अनैकांतिक व्यवस्था का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। तंत्रिकातंत्र की इकाइयां जिन्हें 'न्यूरान' कहते हैं—रचना में भी भिन्न होती हैं और क्रिया में भी। एक समूह शरीर के अंगों की सक्रियता बढ़ाता है जबकि दूसरा उनकी सक्रियता घटाता है। तंत्रिकाएं 'नर्वज्' भी विरोधी गुणों वाली होती हैं। एक वे होती हैं जो उत्तेजना उत्पन्न करती हैं, दूसरी वे होती हैं जो उत्तेजना कम करने के लिए काम करती हैं। तंत्रिकातंत्र का ही एक भाग होता है जिसे स्वायतशाषी तंत्रिकातंत्र के नाम से जाना जाता है। इसके द्वारा शरीर के आंतरिक महत्त्वपूर्ण अंगों की गतिविधियों को नियंत्रित और नियोजित



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया जाता है। इसके दो अनुभाग होते हैं—अनुकंपी और परानुकंपी। ये दोनों कार्य की दृष्टि से एक-दूसरे के सतत विरोधी होते हैं तथा एक-दूसरे के ठीक विपरीत काम करते हैं। इनमें से एक अनुकंपी हृदय गति को बढ़ाता है तो दूसरा परानुकंपी उसे कम करता है। एक यदि श्वसन गति को तेज करता है तो दूसरा इसके ठीक विपरीत इसे घटाने का प्रयास करता है। इनके आपसी विरोध के बाद भी शारीरिक क्रियाएं ठीक ढंग से चलती हैं तो उसका कारण है इनके कार्यों में तालमेल और सामंजस्य का स्थापत्य। जब जैसी आवश्यकता हो, तभी एक की गति बढ़ती तो दूसरा स्वयमेव ही पीछे हट जाता है और संतुलन बना रहता है। यहां यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि समय-समय पर दोनों की सक्रियता अपरिहार्य है। इसके बावजूद भी इनके बीच टकराव न होकर सदैव सामंजस्य की स्थिति बनी रहती है और शरीर का काम ठीक ढंग से चलता रहता है।

सामान्य परिस्थितियों में हमारी यह धारणा होती है कि शरीर शांत होना चाहिए, उसमें उत्तेजना नहीं होनी चाहिए। परंतु सदा के लिए ऐसा होना न तो उचित है और न ही अपेक्षित। बाह्य उद्दीपनों या सूचनाओं को पांच इंद्रियां ग्रहण कर मस्तिष्क तक पहुंचाती हैं। वहां उनका विश्लेषण होता है। विश्लेषण के परिणामस्वरूप अपेक्षित प्रतिक्रिया तैयार की जाती है। अब बारी आती है—इस प्रतिक्रिया को अंजाम देने की। इसके लिए मस्तिष्क से मुख्यतया तीन मार्ग निकलते हैं। पहला मार्ग होता है मस्तिष्क के हाइपोथैलेमस से होता पीयूष ग्रंथि और अन्य अंतःस्रावी ग्रंथियों तक जाने का। इनसे हार्मोन का स्राव होता है जो रक्त प्रवाह के द्वारा ऊतकों/कोशिकाओं तक पहुंचता है और उनमें परिवर्तन उत्पन्न करता है। दूसरा मार्ग है स्पाइनल और क्रेनियल तंत्रिकाओं के रास्ते सीधे अस्थियों/अस्थिपेशियों तक जाने का। इसके परिणामस्वरूप अपेक्षित गति और परिवर्तन होता है। तीसरा मार्ग है स्वायत्तशाषी तंत्रिकातंत्र का—जिसके द्वारा शरीर के विभिन्न आंतरिक अंगों में परिवर्तन उत्पन्न किया जाता है। इस पूरे परिदृश्य पर दृष्टि डालने से एक बात स्पष्ट होती है कि किसी एक उद्दीपन-विशेष के पश्चात् या तो शरीर का एक तंत्र-विशेष प्रभावित होता है अथवा एक से अधिक तंत्र एक साथ प्रभावित होते हैं। उदाहरण के लिए जब अंतःस्रावी ग्रंथियों में हार्मोन का स्राव होता है जो आंगिक उत्तेजना बढ़ाते हैं—यदि अधिक देर तक ऐसी स्थिति बनी रहे तो तंत्रिकाओं के द्वारा इसके विरोध की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है। मस्तिष्क इस पुकार को सुनकर मास्टर अंतःस्रावी ग्रंथि पिट्युटरी के द्वारा अन्य ग्रंथियों के स्रावों को रोकने का आदेश देता है, तब जाकर स्थिति पुनः सामान्य हो पाती है। प्रतिक्रियाएं जीवन चलाने के लिए आवश्यक हैं, क्योंकि इनके घटित होने से ही एक ओर सक्रियता बनी रहती है तो दूसरी ओर सामंजस्य और संतुलन स्थापित करने में भी सहायता मिलती है। इन प्रतिक्रियाओं के क्रम में मनुष्य को प्रियता और अप्रियता—दोनों ही स्थितियों का सामना करना पड़ता है। संतुलन स्थापित करने के लिए हृदय को अप्रिय स्थिति में डालकर उसकी सुविधा के विपरीत कार्य संपादित होता है। यकृत और आंतों से उनकी इच्छा के विपरीत कार्य संपादित होता है। न चाहते हुए भी स्वयं मस्तिष्क को अधिक कार्य संपन्न करना पड़ता है। ये सारी स्थितियां अंगीय अप्रियता की श्रेणी में आती हैं। इसके ठीक उलट शरीर का नियंत्रक कभी-कभी इन अंगों को पूरी तरह आराम करने या काम बंद करने की भी सलाह और आदेश दे देता है जिसके फलस्वरूप अंगीय प्रियता की स्थिति पैदा होती है। इसे ही हम प्रतिक्रिया विरति की संज्ञा देते हैं। कभी-कभी ऐसे हालात भी बनते हैं कि दो विपरीत रासायनिक या यांत्रिक क्रियाएं एक साथ प्रारंभ हो जाती हैं। तब मस्तिष्क उन दोनों के बीच संतुलन स्थापित करने के लिए प्रक्रियाओं का नया क्रम शुरू करवा देता है। तब वे विरोधी क्रियाएं स्वतः ही स्थगित हो जाती हैं। परिस्थिति चाहे कैसी भी हो शरीर के अंदर प्रतिक्रियाएं सदा संतुलित रूप से ही संपादित होती हैं। यदि कहीं असंतुलन होता है तो वह आनुवांशिकता या अन्य रचनात्मक दोषों के कारण ही होता है। इन सभी अनुक्रियाओं के बीच विरोध के साथ सह-अस्तित्व अनेकांत का ज्वलंत उदाहरण है।

**सार संक्षेप**—मानव शरीर की रचना और क्रिया—दोनों में अनेक विरोधी युग्मों का समावेश दृष्टिगोचर होता है। विपरीत प्रकृति की रचनाओं के साथ रहते हुए भी उनमें परस्पर सहयोग और सहजीवन की भावना का संचार रहता है। वे एक-दूसरे के कार्यों में सदा सहयोग करते हैं। आवश्यकता पड़ने पर अपने कार्यों की दिशा को किसी अंग के कार्य—जो कमजोर पड़ गया है—की दिशा में मोड़ देते हैं। जीवन के विशेष गुणों के संपादन में भी, परस्पर विरोध के बावजूद सहयोग से कार्य किया जाता है। इन सभी लक्षणों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव शरीर की रचना और क्रियाएं अनेकांत की अवधारणा को पुष्ट करती हैं तथा मूर्त रूप देती हैं। ❖



Jain Education International　For Private & Personal Use Only　www.jainelibrary.org

# अनेकांत और अरस्तू

डॉ. आनंदप्रकाश त्रिपाठी 'रत्नेश'

जहाँ पाश्चात्य जगत में अरस्तू के पूर्व यह मान्यता थी कि द्रव्य वह निरपेक्ष सत्ता है जो अपने अस्तित्व एवं ज्ञान के लिए किसी पर निर्भर नहीं है, वहीं अरस्तू ने द्रव्य की निरपेक्षता को समाप्त कर द्रव्य एवं आकार को सापेक्ष माना है। उसके अनुसार द्रव्य एवं आकार आपस में परिवर्तित होते रहते हैं, अर्थात् द्रव्य आकार में और आकार द्रव्य में बदलता रहता है। उदाहरणार्थ लकड़ी द्रव्य है तथा मेज, कुर्सी आदि आकार हैं। पुनः लकड़ी आकार है तो वृक्ष द्रव्य और वृक्ष आकार है तो बीज द्रव्य है।

पाश्चात्य दर्शन में ज्ञानियों के सम्राट के रूप में प्रसिद्ध अरस्तू ने अपने चिंतन एवं दार्शनिक विचारों से ज्ञान एवं दर्शन-प्रेमियों को अत्यधिक प्रभावित किया है। यूनान के एक नगर स्टैगिरा में 384 ई. पू. में जन्म लेकर 322 ई. पू. में प्राणांत होने तक (63 वर्षों तक) उन्होंने दर्शन की जो सेवा की है, उसके लिए वे आज भी अमर हैं और युगों-युगों तक अमर रहेंगे। एथेंस के इस महान दार्शनिक ने दर्शन के अध्ययन को प्रोत्साहित करने के लिए 335 ई. पू. में 'लाइसियम' नामक संस्था की स्थापना की जिसे दर्शन के इतिहास में भ्रमणशील संस्था के नाम से जाना जाता है। चूंकि इस संस्था में वे भ्रमण करते हुए विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे, अतः इसे 'पेरिपेटेटिक' (भ्रमणशील) संस्था के रूप में मान्यता मिली थी। अरस्तू अपनी संस्था के माध्यम से दार्शनिकों की एक ऐसी फौज खड़ी करना चाहते थे जो दर्शन के गूढ़ रहस्यों को उद्घाटित करते हुए दर्शन के मर्म को जन-जन तक पहुंचा सके। इस दृष्टि से उन्होंने अपने गुरु प्लेटो के दार्शनिक सिद्धांतों पर कैंची चलाने में कोई हिचक नहीं दिखाई। तत्त्व एवं द्रव्य के संदर्भ में प्लेटो के एकांतवादी विचारों को भी उन्होंने नहीं बख्शा। दर्शन में वे स्वतंत्र चिंतन के पक्षधर थे। इसी स्वतंत्र चिंतन के कारण दर्शन जगत में उन्होंने एक क्रांति की—जिसे समन्वय की क्रांति कहा जाता है। प्रो. गौम्पर्ज के अनुसार अरस्तू ने प्लेटो के दर्शन के एकांतवादी चिंतन का खंडन करने में कोई संकोच नहीं किया। प्लेटो के सामान्य-विशेष, नित्य-अनित्य, द्रव्य-सार के भेद अरस्तू को मान्य नहीं थे।[1] अरस्तू ने एकांत विचार की दृष्टि से अपने गुरु प्लेटो की ही नहीं, अपितु पितामह गुरु सुकरात की भी खबर ली। सुकरात का सिद्धांत 'ज्ञान ही परम शुभ है' अरस्तू को मान्य नहीं था, क्योंकि इसमें उन्हें एकांत की बू आती थी।[2] उनका मानना था कि यदि किसी के समक्ष शुभ ही शुभ हो, ज्ञान ही ज्ञान हो तथा अशुभ एवं अज्ञान का कोई विकल्प न हो तो उसके शुभ एवं ज्ञान को स्वीकार करने का कोई महत्त्व नहीं होगा अर्थात् अरस्तू को सुकरात का यह ऐकांतिक विचार कभी अच्छा नहीं लगा था।

उपर्युक्त उद्धरणों एवं दृष्टांतों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अरस्तू को एकांतवादी दृष्टिकोण, ऐकांतिक विचार एवं एकवादी तत्त्व चिंतन कभी प्रिय नहीं था। इसका मतलब यह नहीं निकालना चाहिए कि वे जैन के अनेकांत सिद्धांत से प्रभावित थे।

यद्यपि यह सच है कि उन्होंने एकांत को न स्वीकार कर अपने चिंतन में अनेकांत को बढ़ावा दिया है। ऐसा उन्होंने अपने ज्ञान एवं विवेक से किया है।

प्रश्न उठता है कि अनेकांत क्या है? अरस्तू का अनेकांतवादी चिंतन क्या है? दर्शन के विद्यार्थी यह जानते हैं कि अनेकांतवाद जैन दर्शन का आधारभूत सिद्धांत है। इस सिद्धांत के अनुसार 'अनंतधर्मामम् वस्तु' अर्थात् वस्तु एक धर्मा न होकर अनंत धर्मा है। समयसार आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द ने अनेकांत को परिभाषित करते हुए लिखा है—'यदेव तत् तदेव अतत्, यदेवेकं तदेवानेकम्, यदेवसत् तदेवासत्, यदेव नित्यं तदेवानित्यम्, इत्येक वस्तु वस्तुत्वनिष्पादक परस्पर विरुद्ध शक्तिद्वय प्रकाशनमनेकान्तः।'[3]



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् एक ही वस्तु सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य स्वभाव वाली है। ऐसी एक ही वस्तु के वस्तुत्व के निष्पादक परस्पर विरोधी शक्तियुक्त धर्मों को प्रकाशित करने वाला अनेकांत है।

तात्पर्य यह है कि अनेकांत केवल अनंत धर्मों का पुंज मात्र वस्तु को नहीं मानता है, अपितु एक ही वस्तु में एक ही काल में अनंत विरोधी धर्म एक साथ रहते हैं—ऐसा मानता है। द्रव्य में शाश्वत और अशाश्वत, एक और अनेक, सामान्य और विशेष, वाच्य और अवाच्य आदि विरोधी युगलों को अनेकांत में स्वीकृति मिलती है।[4] आचार्य अकलंक ने अनेकांत को व्याख्यायित करते हुए अष्टसहस्री में लिखा है—'सदसन्नित्यानित्यादि सर्वथैकान्त प्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः' अर्थात् वस्तु सत् ही नहीं असत् भी है, नित्य ही नहीं अनित्य भी है। इसीलिए अनेकांत को समन्वय, सहिष्णुता, सह-अस्तित्व, सामंजस्य का प्रतिष्ठापक माना जाता है।

इस प्रकार अनेकांत के अनुसार वस्तु विरोधी युगलों का पुंज है। सूत्रकृतांग का विभज्यवाद, भगवती सूत्र की गौतम-महावीर प्रश्नोत्तरी से यह स्पष्ट होता है कि अनेकांतवाद का बीज आगमों में निहित था। आगमों में कहीं अनेकांत का उल्लेख नहीं मिलता है। सर्वप्रथम अनेकांत शब्द का उल्लेख आचार्य सिद्धसेन के ग्रंथ सन्मति तर्क प्रकरण में मिलता है—

जेण विणा लोगस्स ववहारो सव्वहाण निव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंत वायस्स।।[5]

अर्थात् जिसके बिना जगत का व्यवहार भी नहीं चलता, सत्य प्राप्ति की बात तो दूर है ऐसे जगत के एकमात्र गुरु अनेकांत को नमस्कार है।

जिस प्रकार आगमों में अनेकांत शब्द का उल्लेख हुए बिना अनेकांत का विचार निहित है, उसी प्रकार अरस्तू के दर्शन में अनेकांत शब्द का प्रयोग हुए बिना अनेकांतवाद का चिंतन निहित है। कुछ लोगों के अनुसार अरस्तू के दर्शन का अभ्युदय प्लेटो के दर्शन की प्रतिक्रिया-स्वरूप हुआ था। प्लेटो ने जो सामान्य-विशेष का, एक-अनेक का, नित्य एवं अनित्य का, द्रव्य एवं आकार का भेद स्वीकार कर दोनों को पृथक-पृथक माना था, वहीं अरस्तू ने भेदाभेद को स्वीकार किया था। इस भेदाभेद को स्वीकार करने के कारण ही अरस्तू को प्लेटो के दर्शन की समीक्षा करनी पड़ी थी। प्लेटो के दर्शन का मुख्य सिद्धांत है—उसका प्रत्ययवाद। उसके अनुसार वस्तु अनेक, अनित्य, असत् एवं विशेष है। इसके विपरीत प्रत्यय एक, नित्य, सत् एवं सामान्य है। अरस्तू को प्लेटो का यह सिद्धांत मान्य नहीं था। अतः उसने दर्शन जगत में कुछ ऐसे निष्कर्ष प्रतिपादित किए जिनसे प्लेटो के ऐकांतिक चिंतन के खंडन के साथ-साथ उसके स्वयं के अनैकांतिक दृष्टिकोण को समझा जा सकता है—

**वस्तुओं का तत्त्व वस्तुओं में**—प्लेटो ने वस्तुओं से पृथक प्रत्यय के अस्तित्व को स्वीकार किया था। वह मानता था कि वस्तुओं का स्थान सांसारिक जगत है और प्रत्ययों का पारमार्थिक जगत। इसके विपरीत अरस्तू का मानना था कि चूंकि प्रत्यय वस्तुओं के तत्त्व (Essence) हैं, अतः कोई वस्तु भला अपने तत्त्व या सार से रहित नहीं हो सकती है? अतः यह कहना उचित नहीं है कि वस्तुएं सांसारिक जगत में हैं और प्रत्यय पारमार्थिक जगत में। अरस्तू के अनुसार किसी भी वस्तु का प्रत्यय उसी में ही निहित है, उससे पृथक नहीं।[6] रेटोरिक ग्रंथ में अरस्तू यह स्पष्ट करता है कि अनुभव-आधारित वस्तु और बुद्धि पर आधारित उसके तत्त्व को अलग-अलग करके देखा नहीं जा सकता।[7]

**सामान्य और विशेष अनुस्यूत हैं**—प्लेटो ने प्रत्यय को सामान्य और वस्तु को विशेष कहकर सामान्य और विशेष को पृथक-पृथक माना था। उसके अनुसार सामान्य और विशेष का अलग-अलग अस्तित्व है। प्लेटो के इस विचार पर टिप्पणी करते हुए अरस्तू ने माना है कि सामान्य के बिना विशेष का कोई महत्त्व नहीं है और विशेष के बिना सामान्य का कोई अस्तित्व नहीं है। उसके अनुसार न केवल विशेष द्रव्य है और न केवल सामान्य द्रव्य है। सामान्य और विशेष अन्योन्याश्रित हैं। एक के अभाव में दूसरे की कल्पना संभव नहीं। वह यह प्रश्न करता है कि क्या मनुष्यत्व किसी मनुष्य से पृथक् है, गोत्व किसी गाय से पृथक है, मेजत्व किसी मेज से पृथक है? अर्थात् नहीं। मनुष्यत्व—मनुष्य में ही होगा और मनुष्य बिना मनुष्यत्व के मनुष्य नहीं कहलाएगा। इस प्रकार एक ही वस्तु एक समय सामान्य भी है और विशेष भी। राम एक मनुष्य है। वह सामान्य भी है और विशेष भी।[8] अरस्तू का यह चिंतन अनेकांतवाद को ही पुष्ट करता है।

**द्रव्य और आकार अपृथक हैं**—अरस्तू के अनुसार द्रव्य वह है जिसका परिवर्तन होता है और आकार वह है जिस रूप में परिवर्तन होता है। कहा भी गया है—What become is matter what it becomes is form. जहां



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पाश्चात्य जगत में अरस्तू के पूर्व यह मान्यता थी कि द्रव्य वह निरपेक्ष सत्ता है जो अपने अस्तित्व एवं ज्ञान के लिए किसी पर निर्भर नहीं है, वहीं अरस्तू ने द्रव्य की निरपेक्षता को समाप्त कर द्रव्य एवं आकार को सापेक्ष माना है। उसके अनुसार द्रव्य एवं आकार आपस में परिवर्तित होते रहते हैं, अर्थात् द्रव्य आकार में और आकार द्रव्य में बदलता रहता है। उदाहरणार्थ लकड़ी द्रव्य है तथा मेज, कुर्सी आदि आकार हैं। पुनः लकड़ी आकार है तो वृक्ष द्रव्य और वृक्ष आकार है तो बीज द्रव्य है।

उपर्युक्त मत से यह स्पष्ट होता है कि अरस्तू द्रव्य एवं आकार को सापेक्ष ही मानता है। अरस्तू के द्रव्य एवं आकार की सापेक्षता के संदर्भ में बिलड्यूरांट ने लिखा है—Every thing is both the form or reality which has grown out of something which was its matter or raw material, and it may in its turn be the matter out of which still higher forms will grow. So the man is the form of which the child was the matter. The child is the form and its embryo the matter. The embryo the form, the Ovum the matter and so back till we reach in a Vauge way the conception of matter without form at all.

अर्थात् प्रत्येक वस्तु में द्रव्य एवं आकार का वास है। द्रव्य एवं आकार एक-दूसरे में परिवर्तित होते रहते हैं। यदि आदमी आकार है तो द्रव्य बच्चा है और बच्चा आकार है तो भ्रूण द्रव्य है और भ्रूण आकार है तो रज (अन्य संदर्भ में अंडा) द्रव्य है। अतः वस्तु में एक ही समय में द्रव्य एवं आकार हैं, जबकि दोनों विरोधी हैं। द्रव्य निर्गुण है और आकार सगुण है। द्रव्य संभावना है और आकार वास्तविकता है। द्रव्य ह्रास का कारण है और आकार विकास का कारण है (Matter Obstructs and form constructs.)।

**कारणता सापेक्ष है**—अरस्तू के दर्शन में कारणता सिद्धांत का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह चार प्रकार के कारणों को स्वीकार करता हुआ देखा जाता है।[11] वे इस प्रकार हैं—

1. भौतिक या उपादान कारण—(Material Cause)
2. निमित्त कारण—(Efficient Cause)
3. स्वरूप कारण—(Formal Cause)
4. अंतिम कारण—(Final Cause)

इन कारणों को एक दृष्टांत से समझा जा सकता है। मिट्टी का घड़ा बनकर तैयार हुआ। यह एक कार्य है। यह घड़ा मिट्टी से बना है, अतः मिट्टी घड़े का उपादान कारण है। इस घड़े को बनाने में निमित्त कुंभकार बना, अतः कुंभकार निमित्त कारण है। कुंभकार घड़ा बनाने के पूर्व घड़े का आकार अपने मस्तिष्क में बनाता है। यह स्वरूप कारण है और जिस घड़े को देखकर कुंभकार घड़ा बनाने के लिए प्रेरित होता है वह अंतिम या लक्ष्य कारण है। इन चार कारणों को वह (अरस्तू) दो भागों में विभक्त करता है—

1. द्रव्य, 2. आकार। उपादान कारण को ही वह द्रव्य कहता है और अंतिम तीन कारणों को वह आकार के अंतर्गत समाहित कर देता है। इस प्रकार चार कारण द्रव्य एवं आकार में समाहित होकर सापेक्ष हो जाते हैं।[12]

**सत् और असत् सापेक्ष हैं**—पाश्चात्य दर्शन में जहां इलियाई दार्शनिकों ने सत् से जगत की उत्पत्ति को स्वीकार किया था, वहीं हेराक्लाइटल ने असत् से सत् जगत की उत्पत्ति को स्वीकार किया था। दोनों ही सिद्धांतों में विरोध दृष्टिगोचर होता है। यदि जगत सत् से बना है तो जगत के परिवर्तन एवं विकास की व्याख्या कूटस्थ नित्य सत् से कैसे की जा सकती है और यदि जगत असत् से निर्मित है तो असत् अर्थात् अस्तित्वविहीन तत्त्व से जगत की व्याख्या कैसे की जा सकती है? इसका समाधान अरस्तू अपने दर्शन में इस प्रकार देता है—सत् और असत् परस्पर विरोधी नहीं हैं। उसके अनुसार—दोनों सापेक्ष हैं। अरस्तू ने असत् के लिए संभाव्यता (Potentiality) शब्द का और सत् के लिए वास्तविकता (Actuality) शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार अरस्तू असत् का मतलब शून्य न मानकर संभाव्य मानता है। असत् से उत्पत्ति का मतलब शून्यता या अभाव से उत्पत्ति नहीं अपितु संभाव्य से उत्पत्ति संभव है।[13]

**आकार पूर्व में और पश्चात् में भी**—अरस्तू के दर्शन का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धांत द्रव्य एवं आकार है। इनमें भी उसने आकार को विशेष महत्त्व दिया है और इसे विकास का सूचक बतलाया है। यों तो द्रव्य के परिवर्तन को वह आकार मानता है। इस दृष्टि से आकार का अस्तित्व बाद में ही है। किंतु अरस्तू द्रव्य के पहले भी आकार के अस्तित्व को मानता है। चूंकि स्वरूप एवं लक्ष्यकारण आकार में समाहित हैं, अतः आकार पहले भी है। कुंभकार मिट्टी तब इकट्ठा करता है जब उसके मस्तिष्क में घड़ा बनाने का विचार आ जाता है, अतः स्वरूपकारण की दृष्टि


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से घड़ा (आकार) पहले है। कुंभकार ने एक घड़ा देखा। उस घड़े से वह बहुत प्रभावित होता है। उसके अनुरूप वह स्वयं घड़ा बनाना चाहता है। पूर्व घड़े अर्थात् लक्ष्यकारण से प्रेरित होकर वह घड़ा बनाना चाहता है। अतः लक्ष्यकारण की दृष्टि से आकार पूर्व में भी है। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि अरस्तू के दर्शन में आकार पहले भी है और पश्चात् में भी।

**नैतिकता और अनेकांत**—अरस्तू के तात्त्विक विवेचन में ही अनेकांत दृष्टिगोचर नहीं होता, अपितु नैतिक चिंतन में भी अनेकांत परिलक्षित होता है। उसके अनुसार नैतिकता की दृष्टि से भावना उपयोगी भी है और उपयोगी नहीं भी है। उपयोगी इसलिए है कि भावना से ही दूसरों का दुख-दर्द समझकर उन्हें सहयोग दे सकते हैं और अनुपयोगी इसलिए है कि भावना के वशीभूत होकर हम कभी-कभी इतने भावुक हो जाते हैं कि अपना कर्तव्य ही भूल जाते हैं। अतः वह भावना को तिलांजलि न देकर बुद्धि नियंत्रित भावना को नैतिकता की दृष्टि से उपयोगी मानता है। अतः उसके अनुसार हमें भावना का दास न बनकर भावना का शासक बनना चाहिए।

वह नैतिकता के अंतर्गत सद्गुणों की व्याख्या अपने ढंग से करता है। वह सुकरात की तरह न ही एक सद्गुण मानता है और प्लेटो की तरह न ही चार सद्गुण मानता है। उसके अनुसार सद्गुण अनंत हैं। वह सद्गुणों में मध्यम प्रतिपक्ष को मानता है। उसके सद्गुण दो अंतों के बीच में निदृष्ट हैं। उदाहरण की दृष्टि से—

1. साहस कायरता और उतावलेपन के बीच में है।
2. दानशीलता क्षुद्रता और अपरिष्कृत अपव्यय के बीच में है।
3. सुशीलता उत्साहहीनता और प्रचंडता के मध्य है।
4. विनम्रता क्रूरता और चापलूसी के मध्य है।
5. भद्रता निर्लज्जता और लज्जाशीलता के बीच में है।
6. आत्मसंयम उदासीनता एवं संयमहीनता के बीच में है।

इसी प्रकार वह समस्त सद्गुणों की व्याख्या करता है। यह मध्यम प्रतिपदा भी स्थाई नहीं है। अरस्तू के अनुसार व्यक्ति की प्रतिभा ही समय-समय पर सद्गुणों के मध्यम मार्ग का निर्धारण करती है। यह मध्यम मार्ग हर परिस्थिति एवं देश-काल में एक जैसा नहीं रहता है। परिवर्तित भी हो सकता है।

अरस्तू का न्याय सिद्धांत भी अनैकांतिक था। यद्यपि वह दो प्रकार का न्याय मानता था—

1. वितरणात्मक न्याय, 2. सुधारात्मक न्याय।

वितरणात्मक न्याय के अंतर्गत वह व्यक्तियों को योग्यता के अनुसार सम्मान और पुरस्कार देने का हिमायती था। किंतु सुधारात्मक न्याय के अंतर्गत वह व्यक्तियों के अपराध के अनुसार दंड का भी हिमायती था। वितरण एवं सुधार का मूल्यांकन वह निरपेक्ष रूप में नहीं करता था। उसके अनुसार—'Justice is relative to persons and a just distribution is one in which the relative values of the things given correspond to those of the persons receiving.'

इस प्रकार वह न्याय को भी व्यक्ति के सापेक्ष ही मानता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि ग्रीक युग का महान दार्शनिक अरस्तू जैन अनेकांतवाद से भले ही अप्रभावित हो, किंतु उसके सिद्धांत, दर्शन एवं विचार जैन अनेकांतवाद के अधिक निकट हैं। उनका द्रव्य और आकार सिद्धांत अर्थात् उसकी तत्त्व मीमांसा अनेकांत को ही परिपुष्ट करती है। उसका नैतिक दर्शन भी निरपेक्ष नैतिकता के स्थान पर सापेक्ष नैतिकता को बढ़ावा देता है। सद्गुण संबंधी मध्यम प्रतिपदा एवं न्याय सिद्धांत भी उसे अनेकांत के निकट ही खड़ा करते हैं। इस प्रकार यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि अरस्तू का दर्शन अनेकांतवाद के अधिक सन्निकट है। ❖

**संदर्भ :**


1. ग्रीक थिंकर्स, भाग 4, पृ. 78
2. ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलास्फी, पृ. 320
3. 10/247
4. अन्ययोग व्यवच्छेदिका, श्लोक 25
5. 3/68
6. मेटाफिजिक्स, 4/28/1024
7. 1/2/1356
8. मेटाफिजिक्स, 4/28/1030
9. आऊटलाईन्स आफ फिलास्फी, पृ. 78-79
10. डिमीटरियोलोजिया, 4/3/381
11. ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलास्फी, पृ. 268
12. ग्रीक दर्शन, पृ. 225
13. अरिस्टाटल, पृ. 279


❖❖




Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अनुभूति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अगर इस लैंप से आता सफेद प्रकाश
वास्तविक है, वास्तविक है
वह हाथ जो लिखता है
तो क्या वास्तविक हैं वे आंखें भी
जो देखती हैं वह जो मैं लिखता हूं

एक शब्द से दूसरे तक जाते
मेरा कहा मिट जाता है
मैं जानता हूं कि मैं जीवित हूं
दो वाक्यांशों के बीच

**—आक्तोवियो पाज (स्पहानी कवि)**

रूपांतर : **उदयन वाजपेयी**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# व्यवहार में अनेकांत का प्रयोग

युवाचार्य महाश्रमण

•

अनाग्रह भाव दुराग्रही आदमी के व्यवहार में मलिनता पैदा करता है, जबकि मिथ्या बातों और अनुपयोगी तथ्यों का आग्रह नहीं होना चाहिए। आदमी का दृष्टिकोण भी सत्यपरक होना चाहिए।

अनेकांत और स्याद्वाद दार्शनिक सिद्धांत हैं। व्यवहार में भी इनका प्रयोग किया जा सकता है। इन्हें व्यावहारिक बनाने के लिए कुछ बिंदुओं पर ध्यान केंद्रित करना आवश्यक है। अनाग्रह भाव दुराग्रही आदमी के व्यवहार में मलिनता पैदा करता है, जबकि मिथ्या बातों और अनुपयोगी तथ्यों का आग्रह नहीं होना चाहिए। आदमी का दृष्टिकोण भी सत्यपरक होना चाहिए। मिथ्या आग्रह के संबंध में कुमार श्रमणकेशी ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया है—

चार वणिक् मित्र अर्थार्जन के लिए निकले। मार्ग में उन्हें एक लोहे की खान मिली। चारों मित्रों ने अपनी शक्ति के अनुसार लोहे की गठरियां बांध लीं। वे थोड़ा आगे बढ़े और चांदी की खान आ गई। तीन मित्रों ने लोहा छोड़कर चांदी की गठरियां बांध लीं। किंतु चौथा मित्र बोला—मैंने एक बार जो ले लिया, वही ठीक है। मुझे चांदी नहीं चाहिए। उन्होंने थोड़ा ही रास्ता पार किया कि सोने की खान आ गई। तीनों ने अपनी गठरियों में चांदी के स्थान पर सोना भर लिया। वे और थोड़ा आगे बढ़े कि हीरों की खान मिली। तीनों मित्रों ने सोने के पत्थर वहीं छोड़ दिए और हीरक प्रस्तरों से अपनी गठरियां भर लीं।

तीनों मित्रों ने लोहवणिक् को काफी समझाते हुए कहा, 'भैया! कहां लोहखंड और कहां हीरे? तुम वणिक् हो। व्यापार करना जानते हो। किस वस्तु से कितना लाभ होता है, यह तुमसे छिपा नहीं है। जरा अपने भविष्य को सोचो और दुराग्रह छोड़कर माल बदल लो।'

लोहवणिक् ने अपने मित्रों का यह उपदेश तो सुना, पर उत्तेजित हो बोला—'मेरी चिंता करने वाले तुम कौन होते हो? क्या मैं इतनी बात भी नहीं सोच सकता? तुम्हारी ये लचीली नीतियां मुझे पसंद नहीं हैं। अपना भविष्य मैं खुद सोच सकता हूं।'

अपने मित्र की इतनी कड़ी बात सुनने के बाद भी तीनों मित्रों के मन में उसके प्रति करूणा ही उमड़ी रही। उन्होंने एक मुट्ठी हीरक-प्रस्तर उठाए और पोटली में डालने का प्रयत्न किया। किंतु मित्र की हठधर्मिता ने उनको यह भी न करने दिया। उनकी मुट्ठी को हवा में उछालते हुए उसने कहा, 'मेरे काम में हस्तक्षेप करने की कोई जरूरत नहीं है आपको।' वे बेचारे क्या करते! मित्र के इस व्यवहार से उनके दिल पर बड़ा आघात लगा। वे चारों अपने शहर लौट गए।

तीनों मित्रों ने बाजार में अपने हीरक-प्रस्तर बेचे और लाखों रुपये कमा लिए। उनका जीवन-स्तर अब काफी ऊंचा उठ गया। रहने के लिए बंगला, घूमने के लिए कार, अन्य सुविधा-सामग्री और अच्छा-खासा व्यवसाय। एक दिन तीनों मित्रों ने मिलकर एक प्रीतिभोज का आयोजन किया। मनोरंजन के लिए संगीत और नृत्य के कार्यक्रम भी थे। अनेक विशिष्ट अतिथि उपस्थित थे। ऐसे ही क्षणों में एक चने बेचने वाला बंगले के नीचे से गुजरा। तीनों मित्रों ने उसको देखा और अपने अनुचर को भेजकर उसे ऊपर बुला लिया। उसने सोचा, आज तो भगवान की कृपा हो गई, जो इतने बड़े लोगों को मेरा चना पसंद आया है। वह इसी खुशी में आत्म-विभोर था। अमीर मित्र बोले, 'क्यों रे! पहचानता है हमें?'

'बाबूजी! आपको मैं कैसे पहचानूंगा? कहां राजा भोज और कहां गंगू तेली?'

मित्रों ने पिछला सारा घटनाचक्र उसके सामने उधेड़ते हुए कहा, 'कितना समझाया था तुझे उस समय, पर तू नहीं माना। यदि हमारी बात मान लेता तो आज यों चने



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बेचता नहीं फिरता!' यह बात सुनते ही वह बेहोश होकर गिर पड़ा। उसके सारे चने बिखर गए। वहां उपस्थित व्यक्ति बोले, 'अरे! यह क्या रंग में भंग कर दिया। निकालो इसे यहां से बाहर।' बड़ी मुश्किल से उसे होश में लाया गया। कुछ लोगों ने मिलकर उसके चने इकट्ठे किए। मित्र-वणिक् ने एक सौ का नोट उसके पात्र में रख उसको बंगले से नीचे भेज दिया।

वह चने बेचने वाला और कोई नहीं, वही लोहवणिक् था, जो अपने मित्रों के समझाने पर लोहा छोड़कर अन्य खनिज लेने के लिए तैयार नहीं हुआ था। उसने लोहा बेचकर जो पैसा कमाया, कुछ ऋण चुकाने में लगा दिया और बाकी पैसों से चने भूनकर बेचने का धंधा शुरू किया। अपने साथियों का ठाट-बाट देख उसे अपनी बुद्धि पर तरस आ गया। चने बेचे बिना ही सौ का नोट ले रोता-बिलखता वह अपने घर आ गया।

पति की आंखों में आंसू देख उसकी पत्नी बोली, 'आज क्या हो गया आपको? इतनी जल्दी कैसे लौट आए? चने बिके नहीं? किसी ने आपको पीटा? क्या हुआ हम गरीब हैं तो, जीने का अधिकार सबको है? आप बोलते क्यों नहीं? मुझे सही बात बताइए, अभी जाकर राजदरबार में फरियाद करूंगी...।' पत्नी की सहानुभूति पाकर उसके धैर्य का बांध टूट गया। उसने रोते-रोते अपनी सारी राम-कहानी कह सुनाई।

पत्नी ने सारी बात सुनी कि उत्तेजित हो गई। बेलन हाथ में लेकर उसे मारने दौड़ी, किंतु तब तक वह घर की दहलीज लांघ चुका था। पीछे से आकर टकराते हुए शब्द ही उसके कानों में पड़े, 'अरे कर्मफूट! मुट्ठी-भर हीरे ही ले आते तो मैं भी अच्छे कपड़े और जेवर पहनकर बैठती, तुम्हारे पीछे तो मैंने जीवन के सारे सुख ही खो दिए।'

अपनी हठधर्मिता के परिणाम को समझकर लोहवणिक् बहुत दुखी हुआ, पर अब हो क्या सकता था?

इस प्रसंग से यह स्पष्ट है कि अर्थहीन आग्रह कितना नुकसानदेह हो जाता है। दुनिया में कलह के अनेक कारण हैं। उनमें एक कारण मत का दुराग्रह भी बनता है।

आदमी को अपने नियम व्रत में अवश्य आग्रह रखना चाहिए, यानी उसके पालन में दृढ़ता रखनी चाहिए। दृढ़ता भी यहां तक कि मरना मंजूर, पर नियम को नहीं तोडूंगा। इस आग्रह की तुलना श्रद्धा और निष्ठा के साथ की जा सकती है। निष्ठा-आस्था जो अच्छे तत्त्वों में होती है, उसे सदाग्रह कहा जा सकता है। सदाग्रह ग्राह्य है, कदाग्रह त्याज्य है। सदाग्रह में शक्ति होती है, बल होता है। इसे कट्टरता भी कहा जा सकता है, पर वह कट्टरता वांछनीय नहीं जिसके द्वारा हिंसा को महत्त्व दिया जाता है। एक बात को सत्य मानकर आदमी स्वीकार करता है, पर असत्यता स्पष्ट प्रतीत हो तो उसे छोड़ने में संकोच भी नहीं होना चाहिए। यद्यपि यह साहस आसान नहीं है।

व्यावहारिक जीवन में दुराग्रह से समस्याएं उत्पन्न होती हैं अथवा बढ़ती हैं। इसी प्रकार स्वार्थपरक विचारधारा भी पारस्परिक संबंधों को कमजोर बनाती है। जहां एक व्यक्ति केवल अपने हित और स्वार्थपूर्ति की बात ही सोचता है, दूसरों के हित पर विचार ही नहीं करता, ध्यान नहीं देता—वहां भी मधुर संबंध विच्छिन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार केवल अपनी रुचि को प्रधानता देना और दूसरों की रुचि की उपेक्षा करना भी व्यक्ति-व्यक्ति में दुराव पैदा करता है।

'...लड़के ने कहा—पिताजी अब मैं आपके साथ भोजन नहीं करूंगा। और अकेला भोजन करने के लिए बैठा। पिता यह कहते हुए उसके साथ भोजन करने बैठ गया कि इतने दिन तुम मेरे साथ भोजन करते थे, अब मैं तुम्हारे साथ भोजन किया करूंगा। लड़का पानी-पानी हो गया—अपने पिता के निरहंकार और वात्सल्य भाव पर। मधुरता के साथ पिता ने मूल स्थिति को कायम रख लिया।'

ऐसा ही एक प्रसंग आचार्य भिक्षु के जीवन में भी आता है। एक बार स्वामीजी विहार करते हुए देसूर जा रहे थे। मार्ग में घाणेराव के महाराज मिले। उन्होंने पूछा, 'तुम्हारा नाम क्या है।' स्वामीजी ने कहा, 'मेरा नाम भीखण है।'

वे बोले, 'क्या भीखणजी तेरापंथी तुम ही हो?'

स्वामीजी, 'हां, मैं ही हूं।'

उनमें से एक व्यक्ति ने आवेश में आकर कहा, 'तुम्हारा मुंह देखने वाला नरक में जाता है।'

स्वामीजी ने तत्काल उलटकर पूछा, 'और तुम्हारा मुंह देखने वाला?'

उसने सिर ऊंचा उठाते हुए गर्वीले स्वर में कहा, 'मेरा मुंह देखने वाला स्वर्ग में जाता है।'

स्वामीजी बोले, 'किसी का मुंह देखने मात्र से स्वर्ग या नरक मिलता हो, यह बात तो मैं नहीं मानता, पर हमने तो तुम्हारा मुंह देखा है, तुम्हारे ही कथनानुसार हम तो स्वर्ग या मोक्ष में जाएंगे। तुमने चूंकि हमारा मुंह देखा है, इसलिए तुम नरक के भागी बनोगे।'

यह सुनकर वे सब चुपचाप आगे चले गए। ❖


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अनेकांत का सेतु : विचारों के तट

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

अनेकांत दर्शन में अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, अवक्तव्य, अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य, अस्ति-नास्ति अवक्तव्य—यह सप्तभंगी वस्तुबोध की न्यूनतम प्रक्रिया है। इसके विस्तार की कोई इयत्ता नहीं है। इस आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु अनंतधर्मात्मक होती है। एक समय में एक ही धर्म का प्रतिपादन संभव है, इसलिए उसका प्रतिपादन अपेक्षाभेद के साथ किया जाता है। यह तथ्य भी ज्ञातव्य है कि वस्तु के अनंतधर्मों को स्वीकार करने पर भी उनको अभिव्यक्ति देने की क्षमता किसी में नहीं है। ऐसी स्थिति में सापेक्षता का सिद्धांत ही समाधायक हो सकता है।

मनुष्य एक विचारशील प्राणी है। विचार का आधार है मस्तिष्क। मस्तिष्क की संरचना एक ही प्रकार की नहीं होती। विचार-तरंगों का प्रवाह भी एक समान नहीं होता। मनुष्य के आसपास का परिवेश उसके विचारों को एक ठोस धरातल देता है। परिवेश बदलता रहता है, इसलिए विचारों में भी स्थायित्व नहीं रह पाता। एक दिन की अथवा एक घंटे की विचार-यात्रा का सर्वे किया जाए तो एक बेतरतीब-सा विचार-व्यूह उभरकर सामने आ जाता है। एक व्यक्ति का विचार-वैविध्य इस तथ्य को उजागर करता है कि विचार-भेद मानव-जीवन की सहज प्रक्रिया है। इस सहजता के आधार पर दूसरे के विचारों को सहमति मिल जाए या उसके प्रति सापेक्ष दृष्टिकोण अपना लिया जाए तो विचारों का एक सुंदर गुलदस्ता तैयार किया जा सकता है।

### प्रश्न अस्तित्व का

भारत में अनेक जातियों, धर्मों, संस्कृतियों, परंपराओं और दार्शनिक विचारधाराओं को पल्लवित होने का अवसर है। एक बीज से विकसित पौधे की विभिन्न टहनियों की तरह इन सबका उत्स एक है। प्रत्येक जाति, धर्म आदि का स्वतंत्र अस्तित्व है, पर उसकी सुरक्षा अन्य जाति, धर्म आदि की स्वीकृति में ही संभव है। दूसरे का अस्वीकार स्वयं के अस्तित्व का सीधा नकार है। यत् सत् तत् सप्रतिपक्षम्—जो भी अस्तित्ववान है, वह अपने विरोधी अस्तित्व के कारण ही है, इस दार्शनिक अवधारणा का आधार खोजने के लिए अनेकांत की परिक्रमा करनी होगी।

जैन दर्शन अनेकांतवादी दर्शन है। यह न केवल द्रव्यवादी है और न केवल पर्यायवादी है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दृष्टिकोण का समन्वित रूप जैन दर्शन है। इसने एकांततः नित्यता-अनित्यता, सामान्य-विशेष, वाच्य-अवाच्य, अस्तित्व-नास्तित्व आदि वस्तुधर्मों की अवस्थिति को मान्य नहीं किया। अमुक तत्त्व नित्य या अनित्य ही है, ऐसा मिथ्या अभिनिवेश यहां टिक भी नहीं सकता। आग्रह वहीं पनपता है, जहां एकांत होता है। मनुष्य स्वयं जड़ और चेतन—इन दो विरोधी तत्त्वों की युति है। ऐसी स्थिति में एक को ही सब-कुछ मानने का औचित्य प्रमाणित नहीं होता।

### आधार खेती का

किसानों की गोष्ठी हो रही थी। गोष्ठी में चर्चा का विषय था खेती। खेती कैसे होती है? इस प्रश्न पर अनेक कृषिकारों ने अपने विचार प्रकट किए। उन विचारों में विविधता थी। एक-दूसरे के विचारों में मेल न होने से वे अपनी-अपनी बात पर अड़ गए। चर्चा का निष्कर्ष नहीं निकल पाया। किसान हताश हो गए। संयोग से वहां कृषिशास्त्र का विशेषज्ञ पहुंच गया। किसानों ने उसको अधिमान दिया। उनकी समस्या सामने आई। कृषि विशेषज्ञ ने सबकी बात सुनकर अपना मंतव्य प्रस्तुत किया—

एक कहे खेती होत बरसे सघन घन,  
दूजो कहे खेती भूमि सेती निपजती है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तीजो कहे बीज सेती चौथो कहे हल सेती,
हाळी सेती पांचवों बतावै सो ही छती है।
छट्ठो कहे बैल सेती सातवों निषेधे यार,
खेती भाग सेती ऐसी हिये दरसती है।
एक बात माने सो ही मिथ्यादृष्टि जीव है,
सात बात माने सो ही साचो जैन मती है।।

अनेकांत दर्शन में अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, अवक्तव्य, अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य, अस्ति-नास्ति अवक्तव्य—यह सप्तभंगी वस्तुबोध की न्यूनतम प्रक्रिया है। इसके विस्तार की कोई इयत्ता नहीं है। इस आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु अनंतधर्मात्मक होती है। एक समय में एक ही धर्म का प्रतिपादन संभव है, इसलिए उसका प्रतिपादन अपेक्षाभेद के साथ किया जाता है। यह तथ्य भी ज्ञातव्य है कि वस्तु के अनंतधर्मों को स्वीकार करने पर भी उनको अभिव्यक्ति देने की क्षमता किसी में नहीं है। ऐसी स्थिति में सापेक्षता का सिद्धांत ही समाधायक हो सकता है।

### मूल्य सापेक्षता का

वैचारिक स्वतंत्रता के युग में हर व्यक्ति अपने विचारों को महत्त्व देने की बात सोचता है। किसी के विचारों की थोड़ी-सी उपेक्षा असामंजस्य की स्थिति पैदा कर देती है। मैं जो कहता हूं, वही सत्य है—ऐसा आग्रह ज्ञान की अपूर्णता में कैसे किया जा सकता है? जो परिपूर्ण ज्ञानी होते हैं, उनका कोई आग्रह होता नहीं और जो अपूर्णज्ञानी हैं, उनका आग्रह चलता नहीं। इस सचाई को समझ लिया जाए तो विरोधी विचारों में भी विवाद को कोई अवकाश नहीं रहता।

जीवन की दो शैलियां हैं—व्यक्तिगत और सामूहिक। साधना की भूमिका में जिनकल्प की साधना करने वाला अकेला रहता है। अकेला व्यक्ति अधिक सोचता नहीं है। कोई परिस्थिति उसे सोचने के लिए विवश भी करे तो उसकी विचार-यात्रा में कोई व्यवधान नहीं होता। इस बात को यों भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि वह विरोधी विचारों को भी सह लेता है, क्योंकि सारे विचार उसके अपने होते हैं।

परिवार और समाज की भूमिका में जीवन-यापन करने वाला व्यक्ति कभी निरपेक्ष विचार नहीं कर सकता। यदि वह निरपेक्ष हो जाए तो उसे पग-पग पर समस्याओं का सामना करना पड़ता है। समूह-चेतना का विकास अनेकांत के धरातल पर ही संभव है। मेरा चिंतन, कथन और आचरण सही है, इसी प्रकार तुम्हारा चिंतन, कथन और आचरण भी सही हो सकता है। इस अवधारणा में दो विपरीत दिशागामी व्यक्ति भी मिल सकते हैं। मिलने की संभावना का आधार एकमात्र सापेक्ष दृष्टिकोण है।

जहां सापेक्षता है, वहीं गति है। जहां सापेक्षता है, वहीं दही का मंथन होकर नवनीत निकलता है। जहां सापेक्षता है, वहीं प्रकाश है। इस सचाई का अनुभव करने वाला व्यक्ति निरपेक्ष चिंतन, निरपेक्ष भाषण और निरपेक्ष क्रिया की बात सोच ही नहीं सकता। काश! हर मनुष्य सापेक्षता का मूल्य समझता और उसे अपने जीवन-व्यवहार में स्थान देता।

### परिवार-संस्कृति पर हमला

एक समय था, जब भारतीय-परिवार-परंपरा बहुत समृद्ध थी। सौ-पचास व्यक्ति एक ही घर में मिल-जुल कर रहते थे। वे एक-दूसरे के सुख-दुख में संभागी बनते थे और निश्चिंतता का जीवन जीते थे। बचपन, बुढ़ापा, बीमारी, विकलांगता आदि विशेष परिस्थितियों में व्यक्ति असहाय नहीं रहता था। परिवार के सहारे से कठिनतम परिस्थितियों का भी सहज रूप से निस्तार हो जाता था। परिवार-संस्कृति पर कब और कैसे हमला हुआ—पता ही नहीं चला। धीरे-धीरे व्यक्ति की मानसिकता में बदलाव आया और वह परिवार से कटता गया। एक से दो, दो से नौ और नौ से सौ परिवारों में वैचारिक प्रदूषण फैला तो विस्फोट-सा हो गया।

आतंकवादियों द्वारा प्रयुक्त आत्मघाती दस्तों की तरह परिवार को तोड़ने का प्रयास करने वाले व्यक्ति स्वयं टूटे और परिवार व्यवस्था की नींव को हिलाने में सफल हो गए। पारिवारिक टूटन की त्रासदी इस सदी का एक भयंकरतम संकट है। इस संकट से पूरा देश प्रभावित हो रहा है, फिर भी संयुक्त परिवार की वापसी के कहीं कोई आसार परिलक्षित नहीं होते। आज की पीढ़ी के लिए कई पीढ़ियों का एक साथ रहना महान आश्चर्य का विषय बन रहा है। अब सवाल एक ही है कि संयुक्त परिवार वाली संस्कृति की चूलें हिलाने वाला शक्तिशाली तत्त्व क्या है?

### वायरस असहिष्णुता का

किसी भी समस्या के कारणों का अनुमान तभी लगाया जा सकता है, जब गहरे में उतरकर उस समस्या को देखा जाए। संयुक्त परिवार-प्रथा पर कहर बरपाने वाला एक छोटा-सा तत्त्व है असहिष्णुता। इस असहिष्णुता का


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'वायरस' इतना शक्तिशाली और संक्रामक है कि परिवार के एक व्यक्ति को लगने के बाद पूरे परिवार पर अपना शिकंजा कस लेता है। पारस्परिक संदेह, निरपेक्षता का मनोभाव, सहयोगी मनोवृत्ति का अभाव, स्वार्थपरता का विकास आदि ऐसे लक्षण हैं, जो उस 'वायरस' की सूचना देने वाले हैं।

भारतीय परंपरा में दूर-दराज के रिश्तों में भी अनुपम मिठास का अनुभव होता था। भाई-भाई, पिता-पुत्र, मां-बेटी, सास-बहू, भाभी-ननद आदि सभी रिश्ते आत्मीय धरातल पर अंकुरित होते थे। जब तक इन संबंधों में अपने और पराए की भेदरेखा नहीं उभरी, तब तक परिवार अच्छे ढंग से चलते रहे। स्व और पर की भावना पुष्ट होते ही परिवार में ऐसी दरार हो जाती है, जिसे भरना बहुत कठिन है। यदि मनुष्य सहने की कला सीख लेता तो ऐसी दरार को अवकाश ही नहीं रहता।

आज एक भाई अपने भाई को सहन करने की स्थिति में नहीं है। पिता-पुत्र के संबंधों में बढ़ती जा रही कटुता बताती है कि पुत्र में इतनी भी क्षमता नहीं है कि वह अपने पिता को सहन कर सके। सास-बहू के संबंध की जितनी बदनामी गत शताब्दी में हो चुकी है, अब नई शताब्दी उसे कौन-सा 'तोहफा' देगी—कहा नहीं जा सकता। इन सब संबंधों से भी घनिष्ठ संबंध होता है पति-पत्नी का। दो व्यक्ति एक-दूसरे का पूरक बनने का संकल्प स्वीकार कर अपनी जीवनयात्रा शुरू करते हैं। उन दोनों का सुख-दुख साझा होता है, किंतु आपसी समझ के अभाव में वे बिछुड़ जाते हैं। काश वे आचार्यश्री तुलसी के अग्रांकित परामर्श के अनुसार एक-दूसरे को सहन कर सहयात्रा कर पाते। आचार्यश्री ने व्यवहार-बोध में लिखा है—

मेरी हरकत सहे सहज वह
मैं भी उसकी क्यों न सहूं
साथीरूप निभाना है तो
सहिष्णुता के साथ रहूं।।

पति-पत्नी दोनों सहिष्णुता की कला में निष्णात हों तो तलाक की नौबत नहीं आ पाती। यदि सहना नहीं आता है तो बहुत छोटी-छोटी बातें अलगाव का कारण बन जाती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि असहिष्णुता पारिवारिक या सामाजिक बिखराव के लिए उत्तरदाई है। यह एक व्यापक समस्या है। परिवार, समाज, संस्थान, राज्य, राष्ट्र और उससे आगे पूरा विश्व इस समस्या से आक्रांत है। न्यूयार्क शहर में विश्व व्यापार केंद्र के विशाल भवनों और वाशिंगटन में अमरीकी रक्षाविभाग 'पेंटागन' के भवन पर हुए आतंकवादी हमलों से संसार की सबसे बड़ी शक्ति दहशत में आ गई। इन हमलों के अनेक कारण हो सकते हैं। उनमें सबसे बड़ा कारण असहिष्णुता है, असामंजस्य है और सह-अस्तित्व की नीति का अभाव है। सहिष्णुता, सामंजस्य या अनेकांत का आलंबन लेकर हिंसा या युद्ध की समस्या को सदा-सदा के लिए समाप्त किया जा सकता है।

सत्य अपने-आप में सत्य होता है। व्यवहार में उसकी सत्यता का आधार अनेकांतवादी दृष्टिकोण बनता है। एकांतवादी दृष्टि व्यक्ति को सत्य से दूर ले जाती है और विचार या विग्रह खड़ा कर देती है।

पांच अंधे मित्र किसी गांव में घूम रहे थे। उन्होंने हाथी का नाम सुना। हाथी को देखने की उत्सुकता जागी। वे हाथी के पास गए। आंख की शक्ति उनके पास नहीं थी। उन्होंने स्पर्श शक्ति का प्रयोग किया, हाथी को छूकर देखा। हाथी कैसा लगा? इस जिज्ञासा के समाधान में पहला व्यक्ति बोला—'हाथी खंभे जैसा है।' दूसरा बोला—'हाथी केले के तने जैसा है।' तीसरा बोला—'हाथी मूसल जैसा है।' चौथा बोला—'हाथी छाज जैसा है।' पांचवां बोला—'हाथी मोटी रस्सी जैसा है।'

पांचों व्यक्तियों ने अपने स्पर्श की अनुभूति को शब्दों का परिधान दे दिया। पांचों अपनी-अपनी बात पर अड़ गए। हाथी का स्वरूप निश्चित नहीं हो पाया। उनके विवाद का भी अंत नहीं हुआ।

पांचों मित्रों के बीच विवाद चल रहा था। उस समय वहां एक आदमी आया। वह चक्षुष्मान था। उसने हाथी को देखा और कहा—'भाइयो! आप सब झूठे हो और सभी सच्चे हो।' यह एक नई समस्या खड़ी हो गई। चक्षुष्मान आदमी ने उनको समझाते हुए कहा—'आपने हाथी को नहीं छुआ, उसके एक-एक अंग को छूकर देखा है। उसका पैर खंभे जैसा है। उसकी सूंड केले के तने जैसी है। उसका दांत मूसल जैसा है। उसका कान छाज जैसा है। उसकी पूंछ मोटी रस्सी जैसी है। तुम अपनी पकड़ को सत्य और दूसरों की पकड़ को मिथ्या बताते हो, इसलिए तुम सब झूठे हो। तुम अपने-अपने सत्यांश को मिलाकर अखंड सत्य को प्राप्त कर सकोगे।' अंधे मित्रों की समस्या समाहित हो गई। यह अनेकांत का प्रयोग है। इसके माध्यम से ऐसे सेतु का निर्माण हो सकता है, जो इस तट से उस तट तक पहुंचाकर सत्य का साक्षात्कार करा देता है। ❖



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अनेकांत : महावीर का सत्यान्वेषण

डॉ. रामजीसिंह

जहां तक जैन विचारधारा का प्रश्न है उसने भी समन्वय की साधना में अद्वैत एवं विभज्यवाद की तरह अनेकांत का आविष्कार किया। अनेकांत केवल कोई बौद्धिक व्यायाम नहीं, एक जीवनदर्शन है। यह कोई विकल्पवाद नहीं, यह कोई संशयवाद नहीं, इसमें तो पूर्णता एवं यथार्थता दोनों हैं। कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं हो सकता—सर्वं सर्वं न जानाति। फिर प्रकृति का रहस्य अत्यंत जटिल रहता है। इसलिए हमें यह अहंकार कभी नहीं करना चाहिए कि हम सब-कुछ जानते हैं। चाहे आत्मा के स्वरूप का प्रश्न हो या नैतिकता का या शरीर-आत्मा का संबंध, इनके संबंध में भिन्न दृष्टियां होंगी।

आचार्य हरिभद्र ने योगदृष्टि सम्मुचय में 'धार्मिक साधन' की विविधताओं के विषय में लिखा है—

> यद्वा तत्तन्नयापेक्षा तत्कालाविनियोगतः।
> ऋषिभ्यो देशना चित्रा तन्मूलैषापि तत्त्वतः।।
> (योगदृष्टि समुच्चय, श्लोक 138)

प्रत्येक ऋषि अपने देश, काल और परिस्थिति के आधार पर भिन्न-भिन्न धर्म-मार्गों का प्रतिपादन करते हैं। देश और कालगत विविधताएं तथा साधकों की रुचि और स्वभावगत वैविध्य धार्मिक साधनाओं की विविधताओं का आधार है। जब हम मान लेते हैं कि हमारी साधना पद्धति ही एकमात्र अंतिम साध्य तक पहुंचा सकती है, तभी असहिष्णुता का जन्म होता है। देश, काल, प्रवृत्ति और योग्यता आदि ऐसे तत्त्व हैं जिनके कारण साधनागत विविधताओं का होना आवश्यक है। जिससे व्यक्ति का आध्यात्मिक विकास होता है, वह आचार बाह्य विधि-निषेध या बाह्य कर्मकांड नहीं, साधक की भावना या जीवन-दृष्टि है।

भारत का वैभव इसका वैविध्य है, लेकिन विविधताओं के समन्वय की साधना भारत की अनुपम देन है। इस सत्यान्वेषण में भारतीय मनीषा ने कई तरह के रूप पाए। पहली खोज अहिंसा की हुई। अहिंसा समन्वय की साधना की ही एक प्रविधि है। विविधताओं या असामंजस्यताओं का समाधान हम हिंसा से भी कर सकते हैं या अहिंसा से। अहिंसा को केवल जैनों ने ही नहीं, बल्कि बौद्ध एवं वैदिक दर्शनों ने भी स्वीकार किया है। भारतीय चिंतन धारा की यह विशेषता है कि अहिंसा का क्षितिज केवल मानवों के लिए ही नहीं, मानवेतर प्राणियों के लिए खोल दिया। अभी भी जैनों के अलावा हिंदू-वैष्णव आदि कई समाज के लोग निरामिष हैं। अहिंसा का पर्यायवाची शांति तो वैदिक सभ्यता का प्राण है और वही शांति की भावना मानव और पशु-पक्षियों से भी आगे वृक्षों एवं जल आदि तक विस्तृत है। 'द्यौ शान्तिः' से लेकर 'आपः शांति', 'अंतरिक्ष शांति' आदि मंत्र हैं।

समन्वय की खोज में भगवान बुद्ध ने अहिंसा के आंतरिक पर्यायवाची 'करुणा' का आविष्कार किया। सचमुच जब तक हृदय में करुणा, दया आदि के भावों का उद्रेक नहीं होता, अहिंसा टिक नहीं सकती। यूनेस्को की घोषणा में कहा गया है—'युद्ध का सूत्रपात मानव-मन से होता है अतः शांति का दुर्ग भी मानव-मन से ही बनेगा।' वस्तुतः भगवान बुद्ध की करुणा का आधार मानव-हृदय है। विचार के रूप में समन्वय के लिए उन्होंने विभज्यवाद का सिद्धांत रखा। एकांश एवं ऐकांतिक विचार एवं भावना को बुद्ध ने भी अस्वीकार किया। बुद्ध ने किसी प्रश्न का उत्तर 'हां' या 'नहीं' में देना पसंद नहीं किया, बल्कि उसका विभाग करके दिया। इसी को विभज्यवाद कहते हैं। ब्रह्म जाल सुत में बुद्ध ने इसीलिए शाश्वतवाद के साथ उच्छेदवाद—दोनों को अस्वीकार कर मझिम निकाय स्वीकार किया। संक्षेप में समन्वय की एक प्रविधि मध्यम-मार्ग ढूंढ़ना भी है। अरस्तु ने इसी को स्वर्णनियम (Golden Mean) कहा था। वैदिक विचारधारा



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में अद्वैत की अवधारणा समन्वय की साधना ही है। ऋग्वेद में कहा ही गया है—

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।
एकं देवो बहुधा कल्पयन्ति।।

अद्वैत शायद समन्वय की पराकाष्ठा है, क्योंकि एक में सबों का समन्वय है—एकमेवाद्वितीयम्।

जहां तक जैन विचारधारा का प्रश्न है उसने भी समन्वय की साधना में अद्वैत एवं विभज्यवाद की तरह अनेकांत का आविष्कार किया। अनेकांत केवल कोई बौद्धिक व्यायाम नहीं, एक जीवनदर्शन है। यह कोई विकल्पवाद नहीं, यह कोई संशयवाद नहीं, इसमें तो पूर्णता एवं यथार्थता दोनों हैं। कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं हो सकता—सर्वं सर्व न जानाति। फिर प्रकृति का रहस्य अत्यंत जटिल रहता है। इसलिए हमें यह अहंकार कभी नहीं करना चाहिए कि हम सब-कुछ जानते हैं। चाहे आत्मा के स्वरूप का प्रश्न हो या नैतिकता का या शरीर-आत्मा का संबंध, इनके संबंध में भिन्न दृष्टियां होंगी। आचार्य हरिभद्र ने योगदृष्टि समुच्चय में कहा है—

चित्रा तु देशनैतेषां स्याद् विनेयानुगुण्यतः।
य स्यादेते महात्मनो भवव्याधि भिषग्वराः।।

जिस प्रकार एक अच्छा वैद्य रोगी की प्रकृति, ऋतु को ध्यान में रखकर एक ही रोग के लिए दो व्यक्तियों को अलग-अलग ओषधि प्रदान करता है, उसी प्रकार धर्म उपदेश भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले व्यक्तियों के लिए अलग-अलग साधना विधि देते हैं।

शास्त्र की सत्यता का प्रश्न भी विवाद खड़ा कर देता है कि मेरा ही धर्मशास्त्र सच्चा धर्मशास्त्र है। एक सम्यक् दृष्टि व्यक्ति मिथ्या-श्रुत से भी अच्छाई और सारतत्त्व ग्रहण कर लेता है तो दूसरी ओर एक मिथ्यादृष्टि व्यक्ति सम्यक्-श्रुत में भी बुराई या कमियां देख सकता है। (नन्दी सूत्र 42) शास्त्र एवं शब्द जड़ हैं, उससे जो अर्थबोध किया जाता है, वही महत्त्वपूर्ण है। यह अर्थबोध की प्रक्रिया साधक की दृष्टि पर निर्भर करती है।

धार्मिक असहिष्णुता का बीज रागात्मकता या अपनी धर्म पद्धति को या अपने धर्म गुरु को अंतिम मानने में है। इसी से कदाग्रह एवं असहिष्णुता का बीज बढ़ता है। भगवान महावीर के प्रथम शिष्य एवं गणधर इंद्रभूति गौतम को तब तक कैवल्य की प्राप्ति नहीं हो सकी, जब तक वे वीतरागता को प्राप्त नहीं कर सके। महावीर के प्रति गौतम का राग उनके कैवल्य का बाधक है। इस दृष्टि से सोचें तो किसी धर्मपंथ के लोग अपने धर्मगुरु या धर्मपंथ को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं तो यह अनेकांत की हत्या है। मुझे तो दीक्षा की परिपाटी भी एकांतवाद का स्थूल एवं वीभत्स रूप दीखता है। 'पंच णमोकार मंत्र' में किसी व्यक्ति का उल्लेख नहीं, केवल गुणवाचक है। इसमें संप्रदायवाद नहीं है। इस दृष्टि से यह सगुण अनेकांत है। 'णमो लोए सव्वे साहूणं' सर्वोदय भावना की तरह उदारता की पराकाष्ठा है। हेमचन्द्र ने महादेव स्तोत्र में कहा है—

**धार्मिक असहिष्णुता का बीज रागात्मकता या अपनी धर्म पद्धति को या अपने धर्म गुरु को अंतिम मानने में है। इसी से कदाग्रह एवं असहिष्णुता का बीज बढ़ता है। भगवान महावीर के प्रथम शिष्य एवं गणधर इंद्रभूति गौतम को तब तक कैवल्य की प्राप्ति नहीं हो सकी, जब तक वे वीतरागता को प्राप्त नहीं कर सके। महावीर के प्रति गौतम का राग उनके कैवल्य का बाधक है। इस दृष्टि से सोचें तो किसी धर्मपंथ के लोग अपने धर्मगुरु या धर्मपंथ को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं तो यह अनेकांत की हत्या है। मुझे तो दीक्षा की परिपाटी भी एकांतवाद का स्थूल एवं वीभत्स रूप दीखता है। 'पंच णमोकार मंत्र' में किसी व्यक्ति का उल्लेख नहीं, केवल गुणवाचक है। इसमें संप्रदायवाद नहीं है। इस दृष्टि से यह सगुण अनेकांत है। 'णमो लोए सव्वे साहूणं' सर्वोदय भावना की तरह उदारता की पराकाष्ठा है।**

ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्यै।

चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो या महादेव हो या जिन, उन सभी को प्रणाम। हरिभद्र भी कहते हैं—

सदाशिवः परं ब्रह्म सिद्धात्मा तथतेति च।
शब्दैस्तद् उच्यतेऽन्वर्थाव् एकं एवैवमादिभिः।।

एक ही तत्त्व है चाहे उसे सदाशिव कहें, परब्रह्म कहें, सिद्धात्मा कहें या तथागत। नाम को लेकर विवाद जड़ता है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इस समन्वय का आधार प्रज्ञा है। धार्मिक जीवन में श्रद्धा का प्रहरी प्रज्ञा या बुद्धि को बनाया जाना चाहिए। इंद्रभूति गौतम ने जो कभी कहा था, आज भी प्रासंगिक है—पन्ना समिक्खए धम्मं तत्तं तत्तविणिच्छयं। धार्मिक आचार के नियमों की समीक्षा प्रज्ञा से करनी चाहिए।

जैन धर्म में धार्मिक सहिष्णुता केवल रागात्मकता पर नहीं, बल्कि विचार पर आधारित है। जब वस्तुतत्त्व अनंत धर्मात्मिक है तो उस संबंध में हमारा ज्ञान एवं कथन दोनों सापेक्ष होंगे। मानव की बुद्धि अल्प है, अतः वह संपूर्ण सत्य को नहीं, उसके एक अंश को जान सकती है। यहां तो हमारे एवं हमारे विरोधी के विश्वास और कथन दो भिन्न-भिन्न परिप्रेक्ष्यों में एक साथ सत्य हो सकते हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मति तर्क में कहा है—

णाययवयणा ज्जसच्चा सव्वन्या पर वियातणो मोहा
ते उण शा दिट्ठसमओ विभयइ सच्चे व अलिये वा।
(सन्मति-तर्क, 1/28)

इसीलिए यशोविजय कहते हैं कि सच्चा अनेकांतवादी किसी दर्शन से द्वेष नहीं करता। वह संपूर्ण दर्शनों को इस प्रकार वात्सल्य दृष्टि से देखता है जैसे पिता अपने पुत्र को—

यस्य सर्वत्र समता नयेषु वनयेष्तिव।
तस्यानेकांतवादस्य क्व न्यूनाधिकशेमुषी।।
(अध्यात्मोपनिषद्, 61)

आचार्य अमितगति का मंगलमंत्र भी अनेकांत भावना का जीवन रूप है—

सत्वेषु मैत्री गुणीषु प्रमोदं, क्लिष्टेषुं जीवे सुकृपापरूपं।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृतौ सदा ममात्माविदधातु देव।।

अनेकांत निर्गुण भी होता है, सगुण भी। जीवन विचार, वाणी एवं व्यवहार की समग्रता है। विचार व्यवहार को प्रभावित करता है। इसलिए सम्यक् दृष्टि एवं सम्यक्-ज्ञान—दोनों पर जोर है। लेकिन सत्य क्या है, असत्य क्या है, यह कोई नहीं जानता क्योंकि सत्य संश्लिष्ट होता है। ज्ञान का अर्थ है ज्ञाता एवं ज्ञेय का संबंध। अतः ज्ञान स्वयं सापेक्ष है। इसमें न संशयवाद है न आत्मवाद। इसमें तो पूर्णता एवं समग्रता के साथ यथार्थवाद है। महावीर-गौतम के बीच वार्ता में भगवान महावीर कहते हैं कि द्रव्य की दृष्टि से आत्मा अशाश्वत है, किंतु पर्याय की दृष्टि से शाश्वत। अनेक वार्ताएं हैं, लेकिन इसका ऐकांतिक उत्तर संभव नहीं हो सकता। असल में दो गुणात्मक तर्कशास्त्र जीवन की संश्लिष्टताओं का समाधान करने में सक्षम नहीं होते? अब तो बहुआयामी तर्कशास्त्र की जरूरत है। वैचारिक जीवन में अहिंसा का सिद्धांत ही अनेकांतवाद है। हमें किसी एक आयाम को संपूर्णता प्रदान करना गलत है। जैन सप्तभंगी न तो द्वि-मूल्यात्मक है, न त्रिमूल्यात्मक ही। इसे बहुमूल्यात्मक कहा जा सकता है। अभी तक आधुनिक तर्कशास्त्र में ऐसा आदर्श सिद्धांत विकसित नहीं हुआ है जो कथन की सप्त-मूल्यात्मकता को प्रकाशित करे। सप्तभंगी का प्रत्येक भंग वस्तु-स्वरूप के संबंध में नवीन तथ्यों का प्रकाशन करता है। इसलिए उसके प्रत्येक भंग का अपना स्वतंत्र स्थान एवं मूल्य है।

महावीर का अनेकांतवाद निषेधात्मक नहीं, विधायक दृष्टिकोण है। बुद्ध ने तत्त्वमीमांसा के प्रश्नों पर मौनावलंबन किया, किंतु महावीर ने सभी प्रश्नों को सार्थक एवं व्याकरणीय बताया। अनेकांतवाद संजय का संशयवाद नहीं है। यह किसी प्रकार का विकल्पों का व्यायाम नहीं। इसमें तो सत्य का संकेत है।

एक प्रश्न है कि अनेकांत 'क्या एकांत नहीं है? क्या यह बात का बतंगड़ है?' हम कह सकते हैं कि कुतर्क है। लेकिन अनेकांत का भी एक एकांतवाद कहा जा सकता है। यदि अनेकांत निरपेक्ष है तो यह सार्वभौम नहीं है, किंतु यदि एकांत है तो भी यह सार्वभौम नहीं है। इस पर दो द्विविधाओं के मध्यांतर अनेकांतवाद झूलता है। असल में जैन तर्कशास्त्र अमूर्त है, केवल बौद्धिकतावाद पर आश्रित नहीं। इसकी जड़ यथार्थता में और सप्तभंगों में कोई भी भंग काल्पनिक नहीं बल्कि सही एवं यथार्थ हैं। अनेकांतवाद एकांती नहीं। यह अनैकांतिक एवं ऐकांतिक दोनों है। यह एकांत दृष्टि कहलाएगा क्योंकि यह एक अलग स्वतंत्र दृष्टिकोण है। यह अनेकांत है क्योंकि यह सभी आयामों का योगफल है।

मनुष्य की शक्ति सीमित है, किंतु वस्तु का स्वरूप असीम है। उसमें अनंत प्रदेश एवं अनंत धर्म होते हैं। किसी वस्तु के विषय में भिन्न-भिन्न विचार हो सकते हैं और वे परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं। परंतु उनमें एक सामंजस्य है, अविरोधी तत्त्व है जो उसे भलीभांति देख सकता है। यह तत्त्व दर्शन है। यह सापेक्षतावाद आज के वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। विरोध के स्वीकार और विरोध के परिहार का यह अनूठा सिद्धांत है। जैन परंपरा की विश्व संस्कृति को एक अनुपम देन है। इसके लिए अंतर् में सभी के प्रति मैत्रीभाव आवश्यक है। किसी के प्रति वैरभाव न हो। जीओ एवं जीने दो। सबके प्रति स्नेह एवं आदर—यही तो सगुण अनेकांत है। ❖


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अनेकांत : चिंतन का चरमचक्षु

**नीरज जैन**

•

**किसी भी भौतिक पदार्थ को देखने-परखने के लिए जिस प्रकार आंख अनिवार्य साधन है, उसी प्रकार किसी भी वस्तु के ऐसे स्वभाव या उसके गुण-दोषों को, जो आंखों से नहीं देखे जा सकते, उन्हें जानने और मानने के लिए अनेकांत आवश्यक और अनिवार्य साधन है। आग्रहों के सघन अंधकार में प्रवेश करके वास्तविकता को हृदयंगम करने के लिए वह एकमात्र प्रकाश-किरण है। जैन विचारकों ने अनेकांत को अंधकार में हाथ पर रखे दीपक के समान सहायक मानकर उसे नमन किया है।**

नीबू प्रायः प्रतिदिन हमारे उपयोग में आने वाला छोटा-सा फल है। हम बचपन से जानते-पहचानते हैं। इतना परिचित है वह हमारे लिए कि सामने आते ही उसके रूप-रस और आकार-प्रकार सब हमारे ज्ञान में एक साथ आ गए लगते हैं, परंतु ऐसा होता नहीं। हमारे उस ज्ञान में जानना बहुत कम होता है। अधिकांश तो अनुमान और धारणा की सहायता से ही हम उसे जान रहे होते हैं। धारणा एक काल में अनेक बातों की हो सकती है, परंतु जानना तो एक काल में पदार्थ के एक ही गुण का होता है। वह भी पूरा नहीं होता, आधा-अधूरा ही होता है।

वास्तविकता यह है कि जब हम नीबू के रूप को जान रहे होते हैं, तब हम उसके रस का ज्ञान नहीं कर रहे होते हैं। रूप देखकर जब हम उस फल के नीबू होने का निर्णय करते हैं तब उसका रस, उसका खट्टापन और उसकी सुगंध हमारे अनुभव, अनुमान और धारणा में से व्यक्त होकर हमें नीबू के रस, गंध और स्पर्श का भी बोध करा देती है। इसका अर्थ हुआ कि जब हम नीबू का रूप जान रहे होते हैं, तब हम उसका रस, गंध और स्पर्श नहीं जान रहे होते। इतना-भर नहीं, हमारे ज्ञान की सीमा तो इतनी पराधीन है कि रूप में भी जब हम उसका पूर्वी भाग जान रहे होते हैं, तब उसका पश्चिमी भाग कहां जान रहे होते हैं। यही सीमा दसों दिशाओं से हमारे जानने को अल्प और एकपक्षीय बना देती है। पदार्थ को पूरा जानने के लिए हमें उसे अनंत दृष्टियों से और अनंत दृष्टिकोणों से जानने-देखने की आवश्यकता होगी।

वर्तमान में हमारी इंद्रियों की सामर्थ्य, प्रकाश, चश्मा आदि साधक कारणों के सद्भाव तथा इनके बाधक कारणों के अभाव की अनिवार्यता ने हमारे ज्ञान को सीमित तो किया ही है, पराधीन भी बना दिया है। ऐसी दशा में वस्तु को सही रूप में देखने-जानने का एक ही उपाय है कि जब हम वस्तु का कोई भी रूप अपने सामने देखें और जानें, तब बिना किसी हठाग्रह के, अपने जानने के अधूरेपन को स्वीकार करें और जो जितना हमसे अनजाना रह गया है, उसका निषेध न करें। पदार्थ में ऐसे अनंत गुण-धर्मों की स्वीकृति के लिए अवकाश छोड़ दें जिनके होने की पूरी संभावना प्रत्येक पदार्थ में है।

जिस किसी एक छोर से हम वस्तु को जानते हैं, उसे जानने का वही एकमात्र छोर तो नहीं है। उसे जानने के तो ऐसे अनेक छोर हैं। अनेक दृष्टिकोण हैं या हो सकते हैं, अनेक दृष्टियां हैं या हो सकती हैं। छोर कहें या 'अंत' कहें एक ही बात है। इसलिए जो विद्या ज्ञेय पदार्थ के एक छोर को जानते समय उसके दूसरे किसी छोर का निषेध नहीं करती, उसके हर संभावित छोर को या अनेक अंतों को एक साथ अवकाश देती है, उसी समर्थ विद्या को या उसी पवित्र अनाग्रही दृष्टि को, जैनाचार्यों ने 'अनेकांत' कहा है।

## अनेकांत

किसी भी भौतिक पदार्थ को देखने-परखने के लिए जिस प्रकार आंख अनिवार्य साधन है, उसी प्रकार किसी भी वस्तु के ऐसे स्वभाव या उसके गुण-दोषों को, जो आंखों से नहीं देखे जा सकते, उन्हें जानने और मानने के लिए अनेकांत आवश्यक और अनिवार्य साधन है। आग्रहों के सघन अंधकार में प्रवेश करके वास्तविकता को हृदयंगम करने के लिए वह एकमात्र प्रकाश-किरण है। जैन विचारकों



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने अनेकांत को अंधकार में हाथ पर रखे दीपक के समान सहायक मानकर उसे नमन किया है। आचार्य सिद्धसेन ने कहा—

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ,
तस्स भुवनेक गुरुणो णमो अणेगंतवायस्स।

जिसके बिना लोक का व्यवहार भी भले प्रकार चल नहीं सकता, भुवन के उस एकमेव असाधारण गुरु 'अनेकांत' को मेरा नमस्कार।

आचार्य अमृतचंद्र देव ने अनंत नयों के समूह उस महान तत्त्व को इन शब्दों में प्रणाम किया है—

परमागमस्य बीजं निषिद्ध जात्यंध-सिन्धुर-विधानम्,
सकल नयविलसितानां, विरोध-मथनं नमाम्यनेकान्तम्।

जो परम आगम का बीज है : जैन आगम का प्राण है, जिसने जन्मांध पुरुषों के द्वारा टटोले गए हाथी के, आधे-अधूरे और परस्पर विरोधी अनुमानों का, अथवा एकांतवादी दार्शनिक-व्याख्याताओं की भ्रामक अवधारणाओं से निष्पन्न, सकल वैचारिक-विकारों का सम्यक् समापन कर दिया है, और जो परस्पर-सापेक्ष, अनंत, नयों से विभूषित, उन नयों की विवक्षाओं—अपेक्षाओं एवं उपेक्षाओं की संभावनाओं का संरक्षक बनकर, हर हठाग्रह को हटाने वाला और चिंतन की तरंगों में व्याप्त समस्त मिथ्या-मल को शमन करने वाला है, उस 'अनेकांत' को मैं नमन करता हूं।

सापेक्षता, विवक्षा, अपेक्षा, स्याद्वाद और समन्वयवाद—ये सब अनेकांत के ही समानार्थी शब्द हैं। आइन्स्टीन द्वारा प्रतिपादित सापेक्षवाद—'थ्योरी आफ रिलेटिविटी'—का मूलमंत्र अनेकांत ही है। अनेकांत की विशेषता यही है कि वह कभी कहीं टकराता नहीं। वह तो एक-दूसरे की भावनाओं को तथा हर पदार्थ में निहित विभिन्न संभावनाओं को समझने की एक सुगम और सदाशयपूर्ण पद्धति है।

**वर्तमान में हमारी इंद्रियों की सामर्थ्य, प्रकाश, चश्मा आदि साधक कारणों के सद्भाव तथा इनके बाधक कारणों के अभाव की अनिवार्यता ने हमारे ज्ञान को सीमित तो किया ही है, पराधीन भी बना दिया है। ऐसी दशा में वस्तु को सही रूप में देखने-जानने का एक ही उपाय है कि जब हम वस्तु का कोई भी रूप अपने सामने देखें और जानें, तब बिना किसी हठाग्रह के, अपने जानने के अधूरेपन को स्वीकार करें और जो जितना हमसे अनजाना रह गया है, उसका निषेध न करें। पदार्थ में ऐसे अनंत गुण-धर्मों की स्वीकृति के लिए अवकाश छोड़ दें जिनके होने की पूरी संभावना प्रत्येक पदार्थ में है।**

भगवान महावीर और उनकी आचार्य परंपरा के मनीषी अहिंसा के इतने प्रबल पक्षधर रहे हैं कि वे किसी के विचारों की भी हिंसा नहीं करना चाहते। वे प्रतिपल सावधान हैं कि हिंसा की प्रतिक्रिया हिंसा ही है। उनके लिए सर्वथा असत्य कुछ होता ही नहीं। हर कथन किसी-न-किसी अपेक्षा से आंशिक सत्य होता है। महावीर का अनेकांत कहीं तोड़ता नहीं, सर्वत्र जोड़ता ही है। विचार को विचार से, आचार को आचार से और मनुष्य को मनुष्य से जोड़ना ही अनेकांत का साध्य है।

अनेकांत दर्शन मिथ्यात्व और एकांत के हठाग्रह का विमोचक होने से मोक्षमार्ग में तो उपयोगी है ही, परंतु वह लौकिक जीवन को सुधारने और संस्कारित करने का भी अमोघ उपाय है।

अनेकांत हमें दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की प्रेरणा देता है और आपेक्षिक सत्य के रूप में उसे स्वीकार करने की उदारता हमारे भीतर उत्पन्न करता है।

अनेकांत की इस उदारता में से सहिष्णुता का जन्म होता है। मानव स्वभाव में सहिष्णुता आने पर सह-अस्तित्व की भावना को बल मिलता है। सह-अस्तित्व की भावना भाईचारे और पारिवारिक सुख-शांति से लेकर मनुष्य को विश्व-बंधुत्व की ऊंचाइयों तक पहुंचाने की सामर्थ्य रखती है।

अनेकांत का चिंतन समता को जन्म देता है। एकांत से विषमता का जन्म होता है।

अनेकांत की क्यारी में विनय, वात्सल्य, स्वीकृति और विचार-विमर्श के सुमन खिलते हैं। एकांत से निषेध और संघर्षों की फसल उगती है।

अनेकांत वैचारिक अहिंसा का नाम है। एकांत या हठाग्रह एक प्रकार की मानसिक हिंसा है।

अनेकांत के माध्यम से ही महावीर द्वारा परिभाषित 'भाव-हिंसा' का मूलोच्छेद संभव होता है।


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चिंतन में प्रतिष्ठित अनेकांत, व्यवहार में आकर 'अहिंसा' बन जाता है। विश्व की वर्तमान विस्फोटक परिस्थितियों में महावीर की यह अहिंसामूलक सहिष्णु विचारधारा प्राणीमात्र के लिए उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। इस अनेकांत में मनुष्य को संप्रदायवादी संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर, मानवतावादी और शांतिकामी चिंतन का प्रकाश प्रदान करने की अद्भुत क्षमताएं हैं। यही अनेकांत का साध्य है। मानव-मन में धार्मिक सहिष्णुता और वैचारिक उदारता की भावनाओं का विकास करने के लिए यह अनेकांतवादी जैन विचार-पद्धति, समस्त दार्शनिक जगत के लिए जैन दर्शन की अनमोल और अनोखी देन है। काश, विनाश के ज्वालामुखी पर बैठकर इतराता हुआ आज का दिग्भ्रमित मनुष्य इस प्रकाश में अपने लिए सही मार्ग की तलाश कर सकता।

**स्याद्वाद**

अनेकांत की ऐसी समर्थ दृष्टि के माध्यम से वस्तु के अनेक गुण-धर्मों की स्पष्ट अवधारणा हो जाने पर भी, उन्हें एक साथ कहना संभव नहीं होता। अनेकांत एक भाववाचक पद है। उसे चिंतन में उतारा जा सकता है, कहा नहीं जा सकता। अनेकांत में वस्तु के समस्त गुण-धर्मों की युगपत् स्वीकृति है, परंतु एक बार में उनमें से एक ही गुण या धर्म कहा जाएगा। उस समय हमारे न चाहते हुए भी, वस्तु में रहने वाले अन्य अनंत गुण-धर्मों का सहज ही निषेध हो जाता है। जब हम कहते हैं कि नीबू पीला है, तब उसी काल में हम यह नहीं कह पाते कि नीबू खट्टा है। तब हमारे सामने यह समस्या पैदा होती है कि भिन्न-भिन्न समयों में कहे गए एक ही वस्तु का परिचय देने वाले उन भिन्न-भिन्न कथनों या वाक्यों का अधूरापन कैसे व्यक्त हो? या उनका परस्पर संबंध कैसे सूचित किया जाए, जिससे यह घोषित होता हो कि जो कहा गया है वह मात्र किसी एक अंत, एक छोर या एक दृष्टि से देखा गया सच है। वह पूर्ण सत्य नहीं है। अन्य दृष्टियों से वस्तु का स्वरूप कुछ भिन्न ही दिखाई देगा।

**चिंतन में प्रतिष्ठित अनेकांत, व्यवहार में आकर 'अहिंसा' बन जाता है। विश्व की वर्तमान विस्फोटक परिस्थितियों में महावीर की यह अहिंसामूलक सहिष्णु विचारधारा प्राणीमात्र के लिए उपयोगी और महत्त्वपूर्ण है। इस अनेकांत में मनुष्य को संप्रदायवादी संकीर्णताओं से ऊपर उठाकर, मानवतावादी और शांतिकामी चिंतन का प्रकाश प्रदान करने की अद्भुत क्षमताएं हैं। यही अनेकांत का साध्य है। मानव-मन में धार्मिक सहिष्णुता और वैचारिक उदारता की भावनाओं का विकास करने के लिए यह अनेकांतवादी जैन विचार-पद्धति, समस्त दार्शनिक जगत के लिए जैन दर्शन की अनमोल और अनोखी देन है।**

जैनाचार्यों ने इस समस्या के समाधान के लिए 'स्याद्वाद' का आविष्कार किया। चिंतन की धरा पर एक साथ जाने-समझे गए वस्तु के स्वरूप को जब शब्दों के माध्यम से कहा जाए या लिखा जाए तब उसके साथ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग करने का विधान जैन दर्शन की मौलिक व्यवस्था है। यह एक ऐसी चामत्कारिक विधा है जो वस्तु के स्वभाव की मर्यादा को सुरक्षित रखती हुई सहज ही सारे विवादों का अंत कर देती है।

स्याद्वाद अनेकांत की कथन-पद्धति का नाम है। वह वचन रूप होने के कारण किसी एक प्रमुख वाच्य धर्म को कहकर, उस पदार्थ के किन्हीं अन्य धर्म या धर्मों का निषेध नहीं होने देता। वह उन सभी गुण-धर्मों की मौन व्यवस्था करता है, उनके लिए वह पर्याप्त व्यवस्था छोड़ता है। चिंतन और कथन में, विचार और वचन में यही तो अंतर है कि ज्ञान एक साथ अनेक ज्ञेयों को जान सकता है, उन सबको चिंतन में एक साथ उतार सकता है, परंतु वाणी में ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि उन सबका एक साथ कथन कर सके। वचन द्वारा तो एक बार में एक ही धर्म का कथन संभव है। यहां स्मरणीय है कि यह वचन की सीमा है, वस्तु की नहीं।

जिस छोर से हमने पदार्थ को देखा है, उसे ईमानदारी से कहना हो तो यही तो कहना होगा कि इस दृष्टि से यह वस्तु ऐसी है। रंग की अपेक्षा नीबू पीला है, रस की अपेक्षा वह खट्टा है। वह एक होकर भी अनेकता लिए हुए है। उसका समग्र स्वरूप एक साथ कहा नहीं जा सकता। तब स्यात् पदांकित वचन ही सम्यक् हो सकता है, जैसे—

'स्यात् निंबुक पीतः अस्ति : स्यात् हरितः नास्ति',
(रंग की अपेक्षा नीबू पीला है, हरा नहीं है)


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'स्यात् कठोर अस्ति : स्यात् मृदुः नास्ति', (स्पर्श की अपेक्षा वह कठोर-कड़ा है, नरम नहीं)

'स्यात् सुगंधवान अस्ति : स्यात् दुर्गंधितो नास्ति', (गंध की अपेक्षा सुगंधित है, दुर्गंधित नहीं)

'स्यात् अवक्तव्यः अस्ति' (अनिर्वचनीय है, कैसा है, कैसा नहीं—सो एक साथ कहा नहीं जा सकता आदि-आदि।) यहां स्यात् शब्द से कथंचित, किसी अपेक्षा से या किसी दृष्टि से वस्तु का स्वरूप ऐसा है, यह अभिप्राय समझना चाहिए। पदार्थ के इन सारे परस्पर विरोधी गुण-धर्मों को कहने के लिए स्याद्वाद आवश्यक है। स्याद्वाद पदांकित वाणी में ही वह सामर्थ्य है कि अन्य धर्मों का निषेध किए बिना किसी धर्म का कथन कर सके।

इस प्रकार एकांत का प्रतिकार करने में और वस्तु की अनंत धर्मात्मकता को सिद्ध करने में स्याद्वाद शैली ही सक्षम है। यह स्याद्वाद 'अनेकांत' का ही शब्दात्मक रूप है। यह कहा गया अनेकांत ही है और कुछ नहीं। अनेकांत की परिभाषा इतनी ही है कि वस्तु के एक या कुछेक गुण-धर्मों को जानते हुए भी, उसमें निहित अनेक या अनंत अनजाने या अनदेखे गुण-धर्मों को स्वीकार करते चलना। उनका निषेध नहीं करना। इसी अनेकांतमय चिंतन को जब बोलकर या लिखकर व्यक्त किया जाए तब उसका नाम है 'स्याद्वाद'।

स्याद्वाद की मोहर ही वाणी की सत्यता सूचित करेगी। स्यात् चिह्न हमारे अनाग्रह का प्रमाण है। इस चिह्न के बिना कहा या लिखा गया पद या वाक्य एकांत या हठाग्रह प्रेरित हो जाएगा। वह कभी प्रामाणिक हो ही नहीं सकेगा। जिस प्रकार न्यायाधीश के आदेश को न्यायालय की सील ही मान्यता प्रदान कराती है, उसी प्रकार स्याद्वाद की सील वक्ता की वाणी को मान्यता दिलाती है।

**हमसे भी यह प्रमाद अवश्य हुआ है कि हमने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शील और अपरिग्रह की उपयोगिता को प्रचारित करने के लिए जितना अध्यवसाय किया, उसका शतांश भी अनेकांत की महत्ता को स्थापित या विज्ञापित करने के लिए नहीं किया। इस हितकर विद्या के प्रचार की ओर हमने कभी ध्यान ही नहीं दिया।**

इसे बिडंबना ही कहा जाना चाहिए कि अधिकांश भारतीय दार्शनिकों के द्वारा जैन विद्या के इस सबसे महत्त्वपूर्ण अंग 'अनेकांत' और 'स्याद्वाद' को सही संदर्भों में समझने का कोई पारदर्शी प्रयत्न प्रायः नहीं किया गया। स्यात् पद को 'शायद' शब्द का अनुगामी मान लिया गया। ऐसा केवल ध्वनिसाम्य के कारण नहीं हुआ, वरन धार्मिक हठाग्रहों के कारण, जैन विद्याओं का खंडन करने के गर्हित उद्देश्य से किया गया। 'संशयवाद' कहकर या 'अनिश्चयवाद' का आरोप लगाकर अनेकांत जैसे स्वर्णिम सिद्धांत का उपहास किया गया। शब्दकोशों में उसकी हास्यास्पद और अपमानजनक परिभाषाएं दर्ज की गईं। उदाहरण के लिए वामन आप्टे के संस्कृत-हिंदी शब्दकोश में परिवर्त्य, अनिश्चित, अस्थिर और सामयिक जैसे हल्के शब्दों को अनेकांत का पर्यायवाची बताया गया, इन पांच शब्दों में क्या एक भी शब्द ऐसा है जो अनेकांत सिद्धांत की सागर जैसी गंभीरता की एक बूंद को भी वहन करने में सक्षम हो? अन्य कोशों में भी स्थिति कुछ ऐसी ही होगी—ऐसा मेरा अनुमान है।

हमसे भी यह प्रमाद अवश्य हुआ है कि हमने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शील और अपरिग्रह की उपयोगिता को प्रचारित करने के लिए जितना अध्यवसाय किया, उसका शतांश भी अनेकांत की महत्ता को स्थापित या विज्ञापित करने के लिए नहीं किया। इस हितकर विद्या के प्रचार की ओर हमने कभी ध्यान ही नहीं दिया। देश के प्रसिद्ध न्यायविद् श्री एन.ए. पालखीवाला ने सच ही कहा था कि—'भगवान महावीर के द्वारा परिभाषित अनेकांत और अपरिग्रह के जिन लोक कल्याणकारी सिद्धांतों को पूरे देश में 'प्राइमरी' की कक्षाओं से पढ़ाने की आवश्यकता थी—उसे जैनों ने आलमारियों में बंद करके रखा, यह महावीर के साथ अन्याय हुआ है।'

मनुष्य जीवन पाने पर ही हमें मनन और चिंतन की वह शक्ति प्राप्त हुई है जो अन्य जन्मों में नहीं मिली थी। इस जीवन की सार्थकता इसी में है कि हम, कम-से-कम वैचारिक स्तर पर मिथ्यात्व, हिंसा और क्रोध-मान-माया-लोभ आदि विकारों की मलिनता से अपने भावलोक को बचाएं। इन पापों से अपने-आप को दूर रखें। अनेकांत के माध्यम से यह सहज साध्य है। ये सारे विकार नित्य हमारे भीतर वैचारिक प्रदूषण फैला रहे हैं। यही हमारे 'अंतरंग परिग्रह' हैं। इन महारोगों के शमन की जो अमोघ ओषधि भगवान महावीर हमें दे गए हैं उस महौषधि का नाम है 'अनेकांत'। ❖



Jain Education International
For Private & Personal Use Only
www.jainelibrary.org

# अनेकांत के अनुप्रयोग

डॉ. अनिल धर

**भारत की कई दार्शनिक परंपराओं ने यद्यपि अनेकांतवाद का निरसन किया है, तथापि इसके उद्देश्य एवं तर्कपूर्ण यथार्थ के आधार का सर्वथा निषेध नहीं किया है। ईशोवास्य उपनिषद् में आत्मा को एक साथ गतिशील तथा अगतिशील, निकट एवं दूरस्थ तथा आंतरिक एवं नाम बाह्य तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य ने अनेकांतवाद के एक ही साथ विरोधी सत्य के अस्तित्व पर यद्यपि प्रश्नवाचक चिह्न प्रस्तुत किया है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि अनेकांत की तार्किकता के विरोध में उन्होंने अनेकांतवादी दृष्टिकोण को ही अपनाया है। ब्राह्म का वर्णन 'परा' एवं 'अपरा' के रूप में तथा सत्य के विश्लेषण में पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक स्वरूप को स्वीकार करना अनेकांत की भावना को ही व्यक्त करता है।**

मनुष्य जाति के उत्थान हेतु विभिन्न धर्म एवं दार्शनिक परंपराएं अनादिकाल से ही विद्यमान रही हैं। काल के विकास के साथ-साथ विभिन्न धर्म एवं दर्शनों का प्रादुर्भाव हुआ। धर्म जहां नीति एवं मूल्यों के संरक्षण हेतु मानव मस्तिष्क को उद्दीप्त करता है वहीं दार्शनिक परंपराएं भेद एवं तर्क के द्वारा मनुष्य को विवेकवान बनाती हैं। भगवान महावीर के पूर्व भारत भूमि पर वैचारिक संघर्ष एवं दार्शनिक विवाद अपनी चरम सीमा पर था। जैनागमों के अनुसार उस समय 363 और बौद्धागमों के अनुसार 63 दार्शनिक मत प्रचलित थे। जैन परंपरा में इन 363 दार्शनिक संप्रदायों को चार वर्गों में वर्गीकृत किया गया था—

1. क्रियावादी—जो आत्मा को पुण्य-पाप आदि का कर्ता, भोक्ता मानते थे।

2. अक्रियावादी—जो आत्मा को अकर्ता मानते थे।

3. विनयवादी—जो आचार नियमों पर अधिक बल देते थे।

4. अज्ञानवादी—इनकी मान्यता यह थी कि ज्ञान से विवाद उत्पन्न होते हैं, अतः अधिक जिज्ञासा में न उतरकर विवाद—परांग्मुख रहना तथा अज्ञान को ही परम श्रेय मानना चाहिए।

वैचारिक आग्रह और मतांधता के उस युग में जो दो महापुरुष आए, वे थे भगवान महावीर और भगवान बुद्ध। बुद्ध ने आग्रह एवं मतांधता से ऊपर उठने के लिए विवाद-परांग्मुखता को अपनाया, किंतु उससे मानवीय जिज्ञासा का सम्यक् समाधान नहीं हो पाता था जबकि उस युग का जनमानस एक विधायक हल की अपेक्षा कर रहा था। दार्शनिक विचारों की इस संकुलता में वह सत्य को देखना चाहता था। वह जानना चाहता था कि इन विविध मतवादों में सत्य कहां और किस रूप में उपस्थित है? क्योंकि उसके सम्मुख प्रत्येक मतवाद एक-दूसरे के खंडन में ही अपनी विद्वत्ता की इतिश्री मान रहा था। ऐसी परिस्थिति में भगवान महावीर विरोध समन्वय की एक विधायक दृष्टि लेकर आए। विचार संकुलता के उस युग में उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि आग्रह, मतांधता या एकांत ही मिथ्यात्व हैं। आग्रह ही सत्य का बाधक तत्त्व है। आग्रह राग है और जहां राग है वहां संपूर्ण सत्य का दर्शन संभव नहीं। सत्य विवाद से नहीं, अपितु विवाद के समन्वय से प्रकट होता है।

## दार्शनिक पृष्ठभूमि

सीमित क्षमताओं से युक्त मानव प्राणी के लिए पूर्ण ज्ञान सदैव ही एक जटिल प्रश्न रहा है। अपूर्ण के द्वारा पूर्ण को जानने के समस्त प्रयास आंशिक सत्य के ज्ञान से अधिक आगे नहीं जा पाए हैं और जब इसी आंशिक सत्य को पूर्ण सत्य मान लिया जाता है तो विवाद एवं वैचारिक संघर्षों का जन्म हो जाता है। सत्य न केवल उतना है जितना कि हम जानते हैं, अपितु वह एक व्यापक पूर्णता है। उसे तर्क, विचार, बुद्धि, एवं वाणी का विषय नहीं बनाया जा



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता, वह तो इनसे परे है। कठोषनिषद् में उसे बुद्धि एवं तर्क से परे माना गया है। मुंडकोपनिषद् में उसे मेधा और श्रुति से अगम्य कहकर इसी तथ्य को स्पष्ट किया गया है। आचारांग में भी उसे शब्द, वाणी और तर्क से अगोचर कहा गया है। इसी प्रकार के भाव बौद्ध विचारक चंद्रकीर्ति ने प्रकट किए हैं। पाश्चात्य विचारक लॉक, कांट, ब्रेडले और बर्गसां आदि ने भी सत्य को तर्क या विचार की कोटि से परे माना है।

वस्तुतः हमारी ऐंद्रिय क्षमता, तर्कबुद्धि, विचार क्षमता, वाणी और भाषा इतनी अपूर्ण हैं कि वे संपूर्ण सत्य की अभिव्यक्ति में सक्षम नहीं हैं। मानव बुद्धि संपूर्ण सत्य को नहीं, केवल उसके एकांश को ग्रहण कर सकती है। मात्र इतना ही नहीं, वस्तुतत्त्व में परस्पर विरोधी गुण भी एक साथ रहते हैं और ऐसी स्थिति में दो भिन्न दृष्टियों में परस्पर विरोधी तथ्य भी एक साथ सत्य हो सकते हैं। समयसार में इसी का उल्लेख हुआ है कि 'जो वस्तु तत्त्वस्वरूप है, वही अतत्त्वस्वरूप भी है। जो वस्तु एक है वही अनेक भी है। जो वस्तु सत् है वही असत् भी है तथा जो वस्तु नित्य है, वह अनित्य भी है।' इस कारण एक ही वस्तु के वस्तुतत्त्व के कारणभूत परस्पर विरोधी धर्मयुगलों का प्रकाशन अनेकांत है। देवागम अष्टशती कारिका में इसी को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है—वस्तु सर्वथा सत् ही है अथवा असत् ही है नित्य ही है अथवा अनित्य ही है—इस प्रकार सर्वथा एकांत के निराकरण करने का नाम अनेकांत है।

अनेकांत का एक सूत्र है—सह-प्रतिपक्ष। केवल युगल ही पर्याप्त नहीं है, विरोधी युगल भी होना चाहिए। प्रकृति की समूची व्यवस्था में विरोधी युगलों का अस्तित्व है। हमारा जीवन विरोधी युगलों के आधार पर चलता है। शरीर की रचना, प्रकृति की रचना, परमाणु की रचना या विद्युत की रचना—सबमें विरोधी तत्त्व काम कर रहे हैं। अनेकांत का मूल आधार है—विरोधी के अस्तित्व की स्वीकृति, प्रतिपक्ष की स्वीकृति। अनेकांत दृष्टि का मुख्य कार्य एकांत या आग्रह बुद्धि का निरसन कर अनाग्रही दृष्टि को प्रकट करना है। अनेकांत दर्शन यह बतलाता है कि वस्तु में सामान्यतः विभिन्न अपेक्षाओं से अनंत धर्म रहते हैं। किंतु प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ वस्तु में रहता है—यह प्रतिपादन करना ही अनेकांत दर्शन का विशेष प्रयोजन है।

**वस्तुतः अनेकांत वैचारिक अहिंसा को पुष्ट आधार प्रस्तुत कराता है। जिस क्षण से मनुष्य अपने विरोधी को उसकी दृष्टि एवं विचारों से जानने का प्रयास करता है, उसी क्षण से उसमें सहिष्णुता की भावना का विकास होने लगता है जो अहिंसा के व्यवहार हेतु प्रथम आधारभूत आवश्यकता है। संसार के समस्त हिंसक क्रियाकलापों के स्रोत को विभिन्न सिद्धांतों एवं विश्वासों के युद्ध में पाया जा सकता है। अनेकांत मनुष्य की चेतना परिष्कृत कर तथा मनुष्य के चिंतन को लचीला बनाकर हिंसक क्रियाकलापों को रोकने की सामर्थ्य रखता है।**

यथार्थ में अनेकांत पूर्णदर्शी है और एकांत अपूर्णदर्शी है। एकांत मिथ्या अभिनिवेश के कारण एक अंश को ही पूर्ण सत्य मान लेना विवाद की जड़ है। इसी कारण एक मत का दूसरे मत से विरोध हो जाता है। किंतु अनेकांत इस विरोध का परिहार कर उनका समन्वय करता है। एकांत दृष्टि कहती है कि तत्त्व ऐसा ही है और अनेकांत दृष्टि कहती है कि तत्त्व ऐसा 'भी' है। यथार्थ में सारे संघर्ष या विवाद 'ही' के आग्रह से उत्पन्न होते हैं। विवाद वस्तु में नहीं अपितु देखने वाले की दृष्टि में है।

### अनेकांत का दार्शनिक प्रभाव

भारत की कई दार्शनिक परंपराओं ने यद्यपि अनेकांतवाद का निरसन किया है, तथापि इसके उद्देश्य एवं तर्कपूर्ण यथार्थ के आधार का सर्वथा निषेध नहीं किया है। ईशोवास्य उपनिषद् में आत्मा को एक साथ गतिशील तथा अगतिशील, निकट एवं दूरस्थ तथा आंतरिक एवं नाम बाह्य तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है। शंकराचार्य एवं रामानुजाचार्य ने अनेकांतवाद के एक ही साथ विरोधी सत्य के अस्तित्व पर यद्यपि प्रश्नवाचक चिह्न प्रस्तुत किया है, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि अनेकांत की तार्किकता के विरोध में उन्होंने अनेकांतवादी दृष्टिकोण को ही अपनाया है। बाह्य का वर्णन 'परा' एवं 'अपरा' के रूप में तथा सत्य के विश्लेषण में पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक स्वरूप को स्वीकार करना अनेकांत की भावना को ही व्यक्त करता है। शंकराचार्य का सृष्टि सिद्धांत उसकी अनेक इकाइयों में शुद्धता एवं अशुद्धता, शुभत्व एवं प्रभुत्व



Jain Education International | For Private & Personal Use Only | www.jainelibrary.org

को स्वीकार कर अनेकांतवाद की पुष्टि करता है। इसी प्रकार बौद्ध परंपरा का विभज्यवाद एवं मध्यमवर्ग भी अनेकांत सिद्धांत की स्वीकृति प्रतीत होते हैं।

पाश्चात्य दार्शनिक परंपराओं पर भी दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि अनेकांत दर्शन के समान विचारों को अन्य संदर्भों, अर्थों एवं भाषाओं में स्वीकार किया गया है। ग्रीक दार्शनिक परंपराओं ने नित्यता एवं अनित्यता के रहस्य को परिभाषित करने के प्रयास में स्वीकार किया है कि अंतिम सत्य के वास्तविक स्वरूप को दृष्टिपात या इंद्रियगत आधार पर नहीं जाना जा सकता। प्लेटो के विचारों में भी जब हम किसी वस्तु-तथ्य का विरोध कर रहे होते हैं तो वह वस्तु के अस्तित्व का निषेध नहीं, अपितु वस्तु के अस्तित्व के अन्य पक्ष के विचार को प्रकट कर रहे होते हैं। आधुनिक दार्शनिक परंपरा में हेगल ने विरोधी युगल के अस्तित्व को ही जीवन एवं गति का आधार माना है तथा यह भी स्वीकार किया है कि विरोधी युगल का सह-अस्तित्व का सिद्धांत ही जीवन को वास्तविक एवं प्राकृतिक रूप में निर्देशित करता है। ब्रेडले के अनुसार हर वस्तु अन्य की तुलना में अपेक्षा से आवश्यक भी है तथा अनावश्यक भी। हर असत्य के अंश में सत्यांश का भी अंश विद्यमान रहता है। जोआश्मि ने किसी भी निर्णय को पूर्णतः सत्य न मानते हुए इसी सिद्धांत का समर्थन किया है। इसी प्रकार का चिंतन प्रो.पेरी, विलियम जेम्स, जॉन कॉर्ड, जोसेफ, एडमंड होम्स आदि ने भी प्रकट किया है।

## आधुनिक विज्ञान और अनेकांत

अनेकांत का अर्थ है—संभावनाओं को स्वीकार करना। आज के वैज्ञानिकों ने अनेकांत का अर्थ संभावना किया है तथा अपने आविष्कारों एवं अनुसंधान के माध्यम से इसकी पुष्टि की है। विज्ञान ने इस तथ्य को भली प्रकार सिद्ध कर दिया है कि जिस पदार्थ को हम स्थित, नित्य एवं ठोस समझते हैं वह पदार्थ बड़े वेग से गतिशील है—न केवल गतिशील है, वरन् परिवर्तनशील भी है। आज का प्रबुद्ध वैज्ञानिक भी ऐसा दावा नहीं करता है कि उसने सृष्टि का रहस्य और उसके वस्तुतत्त्व का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टीन ने कहा था कि, 'हम तो केवल सापेक्षिक सत्यों को जान सकते हैं, पूर्ण या निरपेक्ष सत्य को कोई पूर्ण द्रष्टा ही जान सकेगा।' इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक विज्ञान और दार्शनिक— दोनों ही दृष्टियों से सामान्य मानववाद निरपेक्ष पूर्ण सत्य को जानने में असमर्थ है। अनेकांत विचार दृष्टि हमें यही बताती है कि परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले दो सापेक्षिक सत्य अपेक्षा भेद से सत्य हो सकते हैं। भगवान महावीर ने जो सत्य 2600 वर्ष पूर्व ज्ञान के द्वारा जान लिया था, आइन्स्टीन ने वही सत्य 1905 में प्रमाणित कर दिया। सापेक्षवाद के सिद्धांत ने आधुनिक वैज्ञानिक जगत को तार्किकता के आधार पर सत्य के दर्शन का मार्ग प्रशस्त किया। वास्तव में जैन दर्शन में प्रतिपादित अनेकांत तत्त्व एवं दर्शन मीमांसा की वैज्ञानिक अनुसंधानों एवं निष्कर्षों ने समय-समय पर पुष्टि की है। अनेकांत दर्शन से अनभिज्ञ होते हुए भी लेनिन ने मनुष्य एवं विज्ञान के निरंतर विकास को संपूर्ण सत्य प्राप्ति का प्रयत्न ही माना था। यदि मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सामाजिक एवं आर्थिक सिद्धांतों के अनुप्रयोग के संदर्भ में लेनिन मनुष्य की सीमा को स्वीकारते तो निश्चित रूप से समाजवाद के सिद्धांत का भाग्य कुछ और ही होता और शायद मार्क्स के दर्शन के प्रयोग को असफलता का मुंह नहीं देखना पड़ता।

## अनेकांत की प्रासंगिकता

अनेकांत दर्शन विचारों की शुद्धि करता है। वह मानव मस्तिष्क से दूषित विचारों को दूर कर शुद्ध एवं सत्य विचार के लिए मनुष्य का आह्वान करता है। वह कहता है कि वस्तु विराट है, अनंत धर्मात्मक है। अपेक्षा भेद से वस्तु में अनेक विरोधी धर्म रहते हैं। उन अनेक धर्मों में से प्रत्येक धर्म सापेक्ष है। वे सब एक ही वस्तु में बिना किसी वैरभाव के रहते हैं। विरोधी होते हुए भी वे विरोध का अवसर नहीं आने देते।

अमेरिका के प्रसिद्ध इतिहासकार स्टीफन हे ने महात्मा गांधी को उद्धृत करते हुए कहा है कि, 'मैं प्रायः अपने मत के कार्यों को अपनी दृष्टि से उचित मानता हूं, जबकि मेरे विरोधियों की दृष्टि से मेरे कार्य एवं मत अनुचित होते हैं।' गांधीजी ने स्वीकारा था कि वे अनंत धर्मात्मक के इस सिद्धांत से अत्यधिक प्रभावित हैं। उन्होंने कहा था—'यह एक ऐसा सिद्धांत है जिसने मुझे एक मुस्लिम को उसकी दृष्टि से तथा एक ईसाई को उसकी दृष्टि से समझने की विवेक दृष्टि दी है। जैन मत के आधार पर मैंने ईश्वर के अकर्ता, रामानुजाचार्य के आधार पर ईश्वर के कर्ता रूप को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं पाई।' वास्तव में हम



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सभी अविचारणीय पर विचार करते हैं, अनिर्वचनीय को प्रकट करना चाहते हैं तथा न जानने की क्षमता होते हुए भी जानने का प्रयास करते हैं, जिसके कारण हमारी वाणी एवं विचार में दोष उत्पन्न होता है।

विश्व के समस्त संघर्षों एवं विवादों का इतिहास अज्ञान एवं एकांत के कारण उत्पन्न असहिष्णुता का सिद्धांत है। अनेकांत मनुष्य को अपूर्ण इंद्रियों द्वारा अपूर्ण ज्ञान से परिचित करा उसे संकुचित परिधि से बाहर निकालने का प्रयास करता है तथा निर्णय लेने से पूर्व वस्तु एवं परिस्थिति के विधेयक एवं नकारात्मक—दोनों पक्षों पर विचार करने को प्रेरित करता है। निश्चित रूप से यदि मनुष्य ने विरोधी विचारों को भी समझने में विवेक बुद्धि का सहारा लिया होता तो संसार-भर से काफी मात्रा में युद्ध एवं हिंसक संघर्षों का समापन संभव होता। यदि संसार के राजनीतिज्ञ भी अनेकांत के स्वरूप को ठीक तरह से समझ लें तो बहुत-कुछ संभव है कि संसार में और युद्धों का नग्न नृत्य देखने को न मिले। क्योंकि अनेकांत से विरोधी धर्म समन्वय की तरह मानव समता का भी बोध हो सकता है और मानव समता का ज्ञान होने से आपसी विवादों का अंत होना संभव है। वस्तुतः अनेकांत वैचारिक अहिंसा को पुष्ट आधार प्रस्तुत कराता है। जिस क्षण से मनुष्य अपने विरोधी को उसकी दृष्टि एवं विचारों से जानने का प्रयास करता है, उसी क्षण से उसमें सहिष्णुता की भावना का विकास होने लगता है जो अहिंसा के व्यवहार हेतु प्रथम आधारभूत आवश्यकता है। संसार के समस्त हिंसक क्रियाकलापों के स्रोत को विभिन्न सिद्धांतों एवं विश्वासों के युद्ध में पाया जा सकता है। अनेकांत मनुष्य की चेतना परिष्कृत कर तथा मनुष्य के चिंतन को लचीला बनाकर हिंसक क्रियाकलापों को रोकने की सामर्थ्य रखता है। वास्तव में काल, द्रव्य एवं क्षेत्र के आधार पर अस्तित्व की सुरक्षा हेतु लचीला व्यक्तित्व ही सहयोगी हो सकता है, कहा भी गया कि—

> यही आईने कुदरत है, यही दस्तूरे गुलशन है
> लचक जिनमें नहीं होती, वे शाखें टूट जाती हैं।

यदि मनुष्य अनेकांत सिद्धांत के वास्तविक रूप से परिचित होकर इसे ग्रहण करे तो वह समझ सकेगा कि 'फ्रेंच' या 'रसिया' की क्रांति की अपेक्षा वास्तविक क्रांति वह है जो सभी संभव पक्षों के मतों के संदर्भ में अपने विचारों को परिवर्तित कर पाने में सक्षम हुआ है या भविष्य में हो पाएगा। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनेकांत का अर्थ है—सह-अस्तित्व, समन्वय, सापेक्षता तथा सहिष्णुता आदि। जीवन के विभिन्न एवं आवश्यक क्षेत्रों यथा— पारिवारिक, राजनीतिक व धार्मिक क्षेत्रों में अनेकांत का सिद्धांत दृष्टिकोण परिवर्तन में सहायक होकर संघर्ष निवारण के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि का निर्माण कर सकता है।

**पारिवारिक क्षेत्र में अनेकांत**

समाज की विभिन्न इकाइयों में परिवार एक महत्त्वपूर्ण इकाई है। अनेकांत दृष्टि का प्रयोग पारिवारिक कलह का शमन करने में सहायक हो सकता है। पारिवारिक क्षेत्र में इस पद्धति का उपयोग परस्पर परिवारों में और परिवार के सदस्यों में संघर्ष टालकर शांतिपूर्ण वातावरण का निर्माण करता है। सामान्यतः पारिवारिक जीवन में संघर्ष के दो केंद्र होते हैं। पिता-पुत्र तथा सास-बहू। इन दोनों विवादों में मूल कारण दोनों का दृष्टिभेद है। पिता जिस परिवेश में पोषित हुआ, उन्हीं संस्कारों के आधार पर पुत्र का जीवन ढालना चाहता है। जिस मान्यता को स्वयं मानकर बैठा है, उन्हीं मान्यताओं को दूसरे से मनवाना चाहता है। पिता की दृष्टि अनुभव-प्रधान होती है, जबकि पुत्र की तर्क-प्रधान। यही स्थिति सास-बहू की होती है। सास यह अपेक्षा करती है कि जैसा जीवन उसने स्वयं बहू के रूप में जीया था उसकी बहू भी वैसा ही जीए। जबकि बहू अपने युग के अनुरूप और अपने मातृ-पक्ष के संस्कारों से प्रभावित जीवन जीना चाहती है। मात्र इतना ही नहीं, उसकी अपेक्षा होती है कि वह उतना ही स्वतंत्र जीवन जीए जैसा वह अपने माता-पिता के पास जीती थी। इसके विपरीत सुसराल पक्ष उससे एक अनुशासित जीवन की अपेक्षा करता है। यही सब विवाद के कारण बनते हैं। इनमें जब तक सहिष्णु दृष्टि और दूसरे की स्थिति को समझने का प्रयास नहीं किया जाएगा, तब तक संघर्ष एवं विवाद समाप्त नहीं होंगे। सहिष्णुता का अर्थ है—अपने संवेगों पर नियंत्रण होना। जिसका अपने संवेगों पर नियंत्रण होगा, वही शक्तिशाली हो सकेगा। संवेगों पर नियंत्रण के लिए सहिष्णुता की साधना का अभ्यास अत्यंत अपेक्षित है, तभी उसका उपयोग व्यावहारिक क्षेत्र में किया जा सकता है। दूसरे के विचारों के प्रति सहिष्णु रहे, मात्र अपने दृष्टिकोण के प्रति आग्रह न रहे, इसके लिए सहिष्णुता का विकास अपेक्षित है यथा—

1. भावात्मक संवेगों पर नियंत्रण, 2. अन्यों के विचारों को समझना, 3. अहं और गर्व की भावना को महत्त्व न देना।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पारिवारिक क्षेत्र में अहिंसक व्यवहार का महत्त्वपूर्ण घटक है—समन्वय। विभिन्न आदर्शों, विश्वासों एवं रुचियों में समन्वय निश्चित रूप से संभव है। इस हेतु अनैकांतिक जीवन शैली का प्रशिक्षण उपयोगी एवं उल्लेखनीय भूमिका निभा सकता है। अनेकांत स्वतंत्रता को स्वीकार करता है, किंतु अंतरनिर्भरता एवं संबंधों के मूल्य पर नहीं। सह- अस्तित्व स्वीकार्य है, किंतु अन्याय के मूल्य पर नहीं। समता स्वीकार्य है, किंतु विभिन्नताओं में एकता के वास्तविक मूल्य पर नहीं। वास्तव में शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का आधारस्तंभ इतना क्षीण नहीं होना चाहिए कि मात्र विभिन्नताओं के कारण ध्वस्त हो जाए।

**धार्मिक क्षेत्र में अनेकांत**

अनेकांत दृष्टिकोण का उपयोग धार्मिक क्षेत्र में सहिष्णुता व सर्व-धर्म समभाव हेतु सफलतापूर्वक किया जा सकता है। विश्व के विभिन्न धर्माचार्यों ने अपने युग की तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने सिद्धांतों एवं बाह्य नियमों का प्रतिपादन किया। किंतु मनुष्य की अपने धर्माचार्यों के प्रति ममता एवं उसके अपने मन में व्याप्त आग्रह और अहंकार ने उसे अपने धर्म या साधना पद्धति को ही एकमात्र एवं अंतिम सत्य मानने को बाध्य किया। फलस्वरूप विभिन्न धार्मिक संप्रदायों के बीच सांप्रदायिक वैमनस्य का प्रारंभ हुआ।

इतिहास साक्षी है कि धार्मिक असहिष्णुता ने विश्व में जघन्य दुष्कृत्य कराए। सांप्रदायिक आग्रह, धार्मिक असहिष्णुता और सांप्रदायिक विद्वेष को जन्म देने वाले कुछ मुख्य कारण निम्न माने जा सकते हैं—

1. ईर्ष्या, 2. किसी व्यक्ति की प्रसिद्धि की लिप्सा, 3. वैचारिक मतभेद, 4. आचार संबंधी नियमोपनियम में अंतर, 5. व्यक्ति या पूर्व संप्रदाय के द्वारा अपमान या खींच-तान।

अनेकांत विचार दृष्टि विभिन्न धर्म-संप्रदायों की समाप्ति के द्वारा एकता का प्रयास नहीं करती है, क्योंकि वैयक्तिक रुचि-भेद तथा देश-कालगत भिन्नताओं के होते हुए विभिन्न धर्म एवं विचार संप्रदायों की उपस्थिति अपरिहार्य है। एक धर्म या एक संप्रदाय का नारा असंगत एवं अव्यावहारिक ही नहीं अपितु अशांति और संघर्ष का कारण भी है। अनेकांत विभिन्न धर्म-संप्रदायों की समाप्ति का प्रयास न होकर उन्हें एक व्यापक पूर्णता में सुसंगत रूप से संयोजित करने का प्रयास हो सकता है, लेकिन इसके लिए आवश्यकता है धार्मिक सहिष्णुता और सर्व-धर्म समभाव की।

**राजनीतिक क्षेत्र में अनेकांत**

वर्तमान राजनीतिक जगत भी वैचारिक संकुलता से परिपूर्ण है। पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, फासिस्टवाद आदि अनेक राजनीतिक विचारधाराएं तथा राजतंत्र, प्रजातंत्र, कुलीनतंत्र, अधिनायकतंत्र, सैन्यतंत्र, धर्मतंत्र आदि अनेकानेक शासन प्रणालियां वर्तमान में प्रचलित हैं। मात्र इतना ही नहीं, उनमें से प्रत्येक एक-दूसरे की समाप्ति के लिए प्रयत्नशील है। विश्व के राष्ट्र खेमों में बंटे हुए हैं और प्रत्येक खेमे का अग्रणी राष्ट्र अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने हेतु दूसरे के विनाश में तत्पर है।

आज के राजनीतिक जीवन में अनेकांत के दो व्यावहारिक फलित—वैचारिक सहिष्णुता और समन्वय अत्यंत उपादेय हैं। मानव जाति ने राजनीतिक जगत में राजतंत्र से प्रजातंत्र तक की जो लंबी यात्रा की है, उसकी सार्थकता अनेकांत दृष्टि को अपनाने में ही है, विरोधी पक्ष के द्वारा की जाने वाली आलोचना के प्रति सहिष्णु होकर अपने दोषों को समझना और उन्हें दूर करने का प्रयास करना आज के राजनीतिक जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। विपक्ष की धारणा में भी सत्यता हो सकती है और विरोधी दल की उपस्थिति में अपने दोषों के निराकरण का अच्छा अवसर मिलता है। इस विचार दृष्टि तथा सहिष्णुता एवं सह-अस्तित्व की भावना में ही प्रजातंत्र का उज्ज्वल भविष्य है। राजनीतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातंत्र वस्तुतः राजनीतिक अनेकांतवाद है। दार्शनिक क्षेत्र में जहां भारत अनेकांतवाद का सृजक है, वहीं वह राजनीतिक क्षेत्र में संसदीय प्रजातंत्र का समर्थक है, अतः आज अनेकांत का व्यावहारिक क्षेत्र में उपयोग करने का दायित्व भारतीय राजनीतिज्ञों पर है।

निष्कर्षतः अनेकांत दर्शन का सैद्धांतिक पक्ष तथा वैज्ञानिक प्रयोगों पर आधारित तथ्य जगत में विरोधी युगल के सह-अस्तित्व को स्वीकार करता है, साथ ही इसी सह-अस्तित्व को, जीवन को, जीवन का आधार मानता है। इसका बोध हो जाने से जीवन में समन्वय, सह-अस्तित्व, सहिष्णुता, संप्रदाय निरपेक्षता आदि आदर्श मूल्यों की स्थापना संभव हो सकती है। दृष्टिकोण परिवर्तन के लिए अनेकांत की सहायक भूमिका अपेक्षित है, जिससे मानव में वैचारिक आग्रह का बोध समाप्त होकर दूसरे के विकास के प्रति भी समान भावना का विकास हो सके। ❖



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अनेकांतवाद : समन्वय का आधार

प्रो. (डॉ.) प्रेम सुमन जैन

•

विश्व की तमाम चीजें अनेकांतमय हैं। अनेकांत का अर्थ है नानाधर्म। अनेक यानी नाना और अंत यानी धर्म और इसलिए नानाधर्म को अनेकांत कहते हैं। अतः प्रत्येक वस्तु में नानाधर्म पाए जाने के कारण उसे अनेकांतमय अथवा अनेकांतस्वरूप कहा गया है। अनेकांतवाद स्वरूपता वस्तु में स्वयं है—आरोपित या काल्पनिक नहीं है। एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो सर्वथा एकांतस्वरूप (एकधर्मात्मक) हो। उदाहरणार्थ यह लोक, जो हमारे और आपके प्रत्यक्ष गोचर है, चर और अचर अथवा जीव और अजीव—इन दो द्रव्यों से युक्त है, वह सामान्य की अपेक्षा एक होता हुआ भी इन दो द्रव्यों की अपेक्षा अनेक भी है और इस तरह वह अनेकांतमय सिद्ध है।

भगवान महावीर ने ज्ञान के भेद-प्रभेदों का जो प्रतिपादन किया, उसके द्वारा आत्मा के क्रमिक विकास का पता चलता है तथा इस वस्तुस्थिति का भी भान होता है कि हम ज्ञान की कितनी छोटी-सी किरण को पकड़े बैठे हैं, जबकि सत्य की जानकारी सूर्य-सदृश प्रकाश वाले ज्ञान से हो पाती है। महावीर ने इस क्षेत्र में एक अद्भुत कार्य और किया। उनके युग में चिंतन की धारा अनेक टुकड़ों में बंट गई थी। वैदिक परंपरा के अनेक विचारक थे तथा श्रमण-परंपरा में 6-7 तीर्थंकरों का अस्तित्व था। प्रत्येक अपने को इस परंपरा का 24वां तीर्थंकर प्रमाणित करने में लगा था। ये सभी विचारक अपनी दृष्टि से सत्य को पूर्णरूपेण जान लेने का दावा कर रहे थे। प्रत्येक के कथन में दृढ़ता थी कि सत्य मेरे कथन में ही है, अन्यत्र नहीं। इसका परिणाम यह हुआ कि अज्ञानी एवं अंधविश्वासी लोगों का कुछ निश्चित समुदाय प्रत्येक के साथ जुड़ गया था। अतः प्रत्येक संप्रदाय का सत्य अलग-अलग हो गया था।

महावीर यह सब देख-सुनकर आश्चर्य में थे कि सत्य के इतने दावेदार कैसे हो सकते हैं? प्रत्येक अपने को ही सत्य का बोधक समझता है, दूसरे को नहीं। ऐसी स्थिति में महावीर ने अपनी साधना एवं अनुभव के आधार पर कहा कि सत्य उतना ही नहीं है, जिसे मैं देख या जान रहा हूं। यह वस्तु के एक धर्म का ज्ञान है, एक गुण का। पदार्थ में अनंत गुण एवं अनंत पर्याएं हैं। किंतु व्यवहार में उसका कोई एक स्वरूप ही हमारे सामने आता है। उसे ही हम जान पाते हैं। अतः प्रत्येक वस्तु का ज्ञान सापेक्ष रूप से हो सकता है। पदार्थों का ज्ञान करने के दो साधन हैं—प्रमाण एवं नय। जब हम केवलज्ञान जैसे प्रामाणिक ज्ञान के अधिकारी होते हैं तब वस्तु को पूर्णरूपेण जानने की क्षमता रखते हैं। किंतु जब हमारा ज्ञान इससे कम होता है तो हम वस्तु के एक अंश को जानते हैं, जिसे नय कहते हैं। लेकिन जब हम वस्तु को जानकर उसका स्वरूप कहने लगते हैं तो एक समय में उसके एक अंश को ही कह पाएंगे। अतः सत्य को सापेक्ष मानना चाहिए।

उस युग में महावीर की इस बात से अधिकांश लोग सहमत नहीं हो पाए। लोगों को यह देखकर आश्चर्य होता कि यह कैसा तीर्थंकर है, जो एक ही वस्तु को कहता है—है और कहता है—नहीं है। अपनी बात को भी सही कहता है और जो दूसरों का कथन है उसे भी गलत नहीं मानता। इस आश्चर्य के कारण उस युग में भी महावीर के अनुयाई उतने नहीं बने, जितने दूसरे विचारकों के थे। क्योंकि व्यक्ति तभी अनुयाई बनता है, जब उसका गुरु कोई बंधी-बंधाई बात कहता हो। जो यह सुरक्षा देता हो कि मेरा उपदेश तुम्हें निश्चित रूप से मोक्ष दिला देगा। महावीर ने यह कभी नहीं कहा। इस कारण उनके ज्ञान और उपदेशों के वही श्रावक बन सके जो स्वयं के पुरुषार्थ में विश्वास रखते थे एवं बुद्धिमान थे। महावीर जैसा गैरदावेदार आदमी ही नहीं हुआ इस जगत में। उनका एकदम असांप्रदायिक चित्त था। इसी कारण वे सत्य को विभिन्न कोणों से देख सके हैं। महावीर



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के पूर्व उपनिषद् कहते थे कि ब्रह्म की व्याख्या नहीं हो सकती। बड़ा अद्भुत है उसका स्वरूप। महावीर ने कहा, 'ब्रह्म तो बहुत दूर की चीज है, तुम एक घड़े की ही व्याख्या नहीं कर सकते। उसका अस्तित्व भी अनिर्वचनीय है।' इसे महावीर ने विस्तार से समझाया।

महावीर के पूर्व सत्य के संबंध में तीन दृष्टिकोण थे—(1) है, (2) नहीं है और (3) दोनों—नहीं भी एवं है भी। घट के संबंध में यह कहा जाता था कि वह घट है, कोई कपड़ा आदि नहीं। घट नहीं है, क्योंकि वह तो मिट्टी है तथा घड़े के अर्थ में वह घड़ा है तथा मिट्टी के अर्थ में घड़ा नहीं है। इस प्रकार वस्तु को इस त्रिभंगी से देखा जाता था। महावीर ने कहा कि सिर्फ तीन से काम नहीं चलेगा। सत्य और भी जटिल है। अतः उन्होंने इसमें चार संभावनाएं और जोड़ दीं। उन्होंने कहा कि घट स्यात् अनिर्वचनीय है, क्योंकि न तो वह मिट्टी कहा जा सकता है और न घड़ा ही। इसी अनिर्वचनीय को महावीर ने प्रथम तीन के साथ और जोड़ दिया। इस प्रकार सप्तभंगी द्वारा वे पदार्थ के स्वरूप की व्याख्या करना चाहते थे।

इस सप्तभंगी नय को महावीर ने अनेक दृष्टांतों द्वारा समझाया है। उनमें छह अंधों और हाथी का दृष्टांत प्रसिद्ध है। हम इसे अन्य उदाहरण से समझें। एक ही व्यक्ति पिता, पुत्र, पति, मामा, भानजा, काका, भतीजा इत्यादि सभी हो सकता है। एक साथ होता है। किंतु उसे ऐसा सब-कुछ एक साथ नहीं कहा जा सकता। उसकी एक विशेषता को मुख्य और शेष को गौण रखकर ही कहना होगा। यहां गौण रखने का अभिप्राय उसकी विशेषताओं का अस्वीकार नहीं है और न संशय या अनिश्चय ही। बल्कि व्यावहारिकता का निर्वाह है। अतः किसी वस्तु का युगपद कथन न जरूरी है और न संभव। फिर भी उसकी पूर्णता अवश्य बनी रहती है। वस्तुओं के इस अनेकत्व को मानना ही अनेकांतवाद है।

पदार्थों की अनेकता स्वयं द्रव्य के स्वरूप में छिपी है, प्रत्येक द्रव्य उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य से युक्त होता है। प्रत्येक क्षण उसमें नई पर्याय की उत्पत्ति, पुरानी पर्याय का नाश एवं द्रव्यपने की स्थिरता बनी रहती है। इसी बात को कहने के लिए महावीर ने अनेकांत की बात कही। वस्तु का अनेकधर्मा होना अनेकांतवाद है तथा उसे अभिव्यक्त करने की शैली का नाम स्याद्वाद है। स्याद्वाद कोई संशयवाद नहीं है। अपितु स्यात् शब्द का प्रयोग वस्तु के एक और गुण की संभावना का द्योतक है।

स्याद्वाद महावीर के जीवन में व्याप्त था। उनके बचपन में ही स्याद्वादी चिंतन प्रारंभ हो गया था। कहा जाता है कि एक दिन वर्द्धमान के कुछ बालक साथी उन्हें खोजते हुए मां त्रिशला के पास पहुंचे। त्रिशला ने कह दिया—'वर्द्धमान भवन में ऊपर है।' बच्चे भवन के सबसे ऊपरी खंड पर पहुंच गए। वहां पिता सिद्धार्थ थे, वर्द्धमान नहीं। जब बच्चों ने पिता सिद्धार्थ से पूछा तो उन्होंने कह दिया—'वर्द्धमान नीचे है।' बच्चों को बीच की एक मंजिल में वर्द्धमान मिल गए। बच्चों ने महावीर से शिकायत की कि आज आपकी मां एवं पिता दोनों ने झूठ बोला।

वर्द्धमान ने अपने साथियों से कहा—'तुम्हें भ्रम हुआ है। मां एवं पिताजी दोनों ने सत्य कहा था। तुम्हारे समझने का फर्क है। मां नीचे की मंजिल पर खड़ी थीं। अतः उनकी अपेक्षा मैं ऊपर था और पिताजी सबसे ऊपरी खंड पर थे इसलिए उनकी अपेक्षा मैं नीचे था।' वस्तुओं की सभी स्थितियों के संबंध में इसी प्रकार सोचने से हम सत्य तक पहुंच सकते हैं। भ्रम में नहीं पड़ते। वर्द्धमान की यह व्याख्या सुनकर बालक हैरान रह गए। महावीर स्याद्वाद की बात कह गए।

स्याद्वाद और अनेकांतवाद में घनिष्ठ संबंध है। भगवान महावीर ने इन दोनों के स्वरूप एवं महत्त्व को स्पष्ट किया है। अनेकांतवाद के मूल में है—सत्य की खोज। महावीर ने अपने अनुभव से जाना था कि जगत में परमात्मा अथवा विश्व की बात तो अलग, व्यक्ति अपने सीमित ज्ञान द्वारा घट को भी पूर्ण रूप से नहीं जान पाता। रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि गुणों से युक्त वह घट छोटा-बड़ा, काला-सफेद, हल्का-भारी, उत्पत्ति-नाश आदि अनंत धर्मों से युक्त है। पर जब कोई व्यक्ति उसका स्वरूप कहने लगता है तो एक बार में उसके किसी एक गुण को ही कह पाता है। यही स्थिति संसार की प्रत्येक वस्तु की है।

हम प्रतिदिन सोने का आभूषण देखते हैं। लकड़ी की टेबिल देखते हैं और कुछ दिनों बाद इनके बनते-बिगड़ते रूप भी देखते हैं, किंतु सोना और लकड़ी वही बनी रहती है। आज के मशीनी युग में किसी धातु के कारखाने में हम खड़े हो जाएं तो देखेंगे कि प्रारंभ में पत्थर का एक टुकड़ा मशीन में प्रवेश करता है और अंत में जस्ता, तांबा आदि के रूप में बाहर आता है। वस्तु के इसी स्वरूप के कारण महावीर ने कहा था—'प्रत्येक पदार्थ उत्पत्ति, विनाश और स्थिरता से युक्त है।' द्रव्य के इस स्वरूप को ध्यान में



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रखकर उन्होंने जड़ और चेतन आदि छह द्रव्यों की व्याख्या की है। मति, श्रुति, केवलज्ञान आदि पांच ज्ञानों के स्वरूप को समझाया है। केवलज्ञान द्वारा हम सत्य को पूर्णतः जान पाते हैं। अतः सामान्य ज्ञान के रहते हम वस्तु को पूर्णतः जानने का दावा नहीं कर सकते। जानकर भी उसे सभी दृष्टियों से अभिव्यक्त नहीं कर सकते। इसलिए सापेक्ष कथन की अनिवार्यता है। सत्य की खोज की यह पगडंडी है।

अनेकांत-दर्शन महावीर की सत्य के प्रति निष्ठा का परिचायक है। उनके संपूर्ण और यथार्थ ज्ञान का द्योतक। महावीर की अहिंसा का प्रतिबिंब है—स्याद्वाद। उनके जीवन की साधना रही है कि सत्य का उद्घाटन भी सही हो तथा उसके कथन में भी किसी का विरोध न हो। यह तभी संभव है जब हम किसी वस्तु का स्वरूप कहते समय उसके अन्य पक्ष को भी ध्यान में रखें, तो अपनी बात भी प्रामाणिकता से कहें। स्यात् शब्द के प्रयोग द्वारा यह संभव है। यहां स्यात् का अर्थ है—किसी अपेक्षा से यह वस्तु ऐसी है।

विश्व की तमाम चीजें अनेकांतमय हैं। अनेकांत का अर्थ है नानाधर्म। अनेक यानी नाना और अंत यानी धर्म और इसलिए नानाधर्म को अनेकांत कहते हैं। अतः प्रत्येक वस्तु में नानाधर्म पाए जाने के कारण उसे अनेकांतमय अथवा अनेकांतस्वरूप कहा गया है। अनेकांतवाद स्वरूपता वस्तु में स्वयं है—आरोपित या काल्पनिक नहीं है। एक भी वस्तु ऐसी नहीं है, जो सर्वथा एकांतस्वरूप (एकधर्मात्मक) हो। उदाहरणार्थ यह लोक, जो हमारे और आपके प्रत्यक्ष गोचर है, चर और अचर अथवा जीव और अजीव—इन दो द्रव्यों से युक्त है, वह सामान्य की अपेक्षा एक होता हुआ भी इन दो द्रव्यों की अपेक्षा अनेक भी है और इस तरह वह अनेकांतमय सिद्ध है।

जो जल प्यास को शांत करने, खेती को पैदा करने आदि में सहायक होने से प्राणियों का प्राण है—जीवन है, वही बाढ़ लाने, डूबकर मरने आदि में कारण होने से उनका घातक भी है। कौन नहीं जानता कि अग्नि कितनी संहारक है, पर वही अग्नि हमारे भोजन बनाने आदि में परम सहायक भी है। भूखे को भोजन प्राणदायक है, पर वही भोजन अजीर्ण वाले अथवा मियादी बुखार वाले बीमार आदमी के लिए विष है। मकान, किताब, कपड़ा, सभा, संघ, देश आदि ये सब अनेकांत ही तो हैं। अकेली ईंटों या चूने-गारे का नाम मकान नहीं है। उनके मिलाप का नाम ही मकान है। एक-एक पन्ना किताब नहीं है, नाना पन्नों के समूह का नाम किताब है। एक-एक सूत कपड़ा नहीं कहलाता। ताने-बाने रूप अनेक सूतों के संयोग को कपड़ा कहते हैं। एक व्यक्ति को कोई सभा या संघ नहीं कहता। उनके समुदाय को ही समिति, सभा, संघ या दल आदि कहा जाता है। एक-एक व्यक्ति मिलकर जाति और अनेक जातियां मिलकर देश बनते हैं।

जिस प्रकार समुद्र के सद्भाव में ही उसकी अनंत बिंदुओं की सत्ता बनती है और उसके अभाव में उन बिंदुओं की सत्ता नहीं बनती, उसी प्रकार अनेकांत रूप वस्तु के सद्भाव में ही सर्व एकांत दृष्टियां सिद्ध होती हैं और उसके अभाव में एक भी दृष्टि अपने अस्तित्व को नहीं रख पाती। आचार्य सिद्धसेन अपनी चौथी द्वात्रिंशिका में इसी बात का बहुत ही सुंदर ढंग से प्रतिपादन करते हैं :

उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टयः।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः।।

—जिस प्रकार समस्त नदियां समुद्र में सम्मिलित हैं, उसी तरह समस्त दृष्टियां अनेकांत-समुद्र में मिली हैं। परंतु उन एक-एक में अनेकांत दर्शन नहीं होता। जैसे पृथक्-पृथक् नदियों में समुद्र नहीं दीखता।

इसे एक अन्य उदाहरण से भी समझा जा सकता है। राजेश एक व्यक्ति है। वह अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है तथा अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है। वह पति है एवं जीजा भी। मामा है और भानजा भी। अब यदि कोई उसे केवल मामा ही माने और अन्य संबंधों को गलत ठहराए तो यह राजेश नामक व्यक्ति का सही परिचय नहीं है—इसमें हठधर्मी है, अज्ञान है। महावीर इस प्रकार के आग्रह को वैचारिक हिंसा कहते हैं। अज्ञान से अहिंसा फलित नहीं होती। अतः उन्होंने कहा कि स्याद्वाद पद्धति से प्रथम वैचारिक उदारता उपलब्ध करो। केवल अपनी बात कहना ही पर्याप्त नहीं है, दूसरों को भी अपना दृष्टिकोण रखने का अवसर दो। सत्य के दर्शन तभी होंगे। तभी व्यवहार की अहिंसा सार्थक होगी।

सत्य को विभिन्न कोणों से जानना और कहना दर्शन के क्षेत्र में नई बात नहीं है। किंतु महावीर ने स्याद्वाद के कथन द्वारा सत्य को जीवन के धरातल पर उतारने का कार्य किया है। यही उनका वैशिष्ट्य है। हम सभी जानते हैं कि हर वस्तु के कम से कम दो पहलू होते हैं। कोई भी वस्तु न सर्वथा अच्छी होती है और न सर्वथा बुरी—

'दृष्टं किमपि लोकेस्मिन् न निर्दोषं न निर्गुणम्।'


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नीम सामान्य व्यक्ति को कड़वा लगता है। वही रोगी के लिए ओषधि भी है। अतः नीम के संबंध में कोई एक धारणा बनाकर किसी दूसरे गुण का विरोध करना बेमानी है। सामान्य नीम की जब यह स्थिति है तो संसार के अनंत पदार्थों; अनंत धर्मों के स्वरूप को जानकर उनका आग्रहपूर्वक कथन करना संभव नहीं है। महावीर ने इसे गहराई से समझा था। अतः वे मनुष्य तक ही सीमित नहीं रहे। प्राणी मात्र के स्पंदन की सापेक्षता को भी उन्होंने स्थान दिया। मनुष्य की भांति एक सामान्य प्राणी भी जीने का अधिकार रखता है। अपने साधनों द्वारा उसे भी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है। यह महावीर के स्याद्वाद की फलश्रुति है।

महावीर अनेकांतवाद व स्याद्वाद से उन गलत धारणाओं को दूर कर देना चाहते थे, जो व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में बाधक थीं। उनके युग में ऐकांतिक दृष्टि से यह कहा जा रहा था कि जगत शाश्वत है अथवा क्षणिक है। इससे वास्तविक जगत का स्वरूप खंडित हो रहा था। मनुष्य का पुरुषार्थ कुंठित होने लगा था—नियतिवाद के हाथों। अतः महावीर ने आत्मा, परमात्मा और जगत—इन तीनों के स्वरूप का ऐसा यथार्थ सामने रख दिया कि जिससे व्यक्ति अपनी राह का स्वयं निर्णायक बन सके। अपूर्व थी महावीर की यह देन। अनेकांत व स्याद्वाद के संबंध में महावीर ने जो कहा वह उनके जीवन से भी प्रकट हुआ है। वे अपने जीवन में कभी किसी की बाधा नहीं बने। जगत में रहते हुए किसी अन्य के स्वार्थ से न टकराना—कम लोगों के जीवन में सध पाता है। महावीर के अनुसार यह टकराहट अधूरे ज्ञान के अहंकार से होती है, प्रमाद व अविवेक से होती है। अतः अप्रमादी होकर विवेकपूर्वक आचरण करने से ही अनेकांत जीवन में आ पाता है। अनेकांत दृष्टि से ही सत्य का साक्षात्कार संभव है।

महावीर द्वारा प्रतिपादित स्याद्वाद में वस्तु के अनंत धर्मात्मक होने के कारण उसे अवक्तव्य कहा गया है। मुख्य की अपेक्षा से गौण को अकथनीय कहा गया है। वेदांत दर्शन में सत्य को अनिर्वचनीय और बौद्ध दर्शन में उसे शून्य व विभज्यवाद कहा गया है। अन्य भारतीय दार्शनिकों के अतिरिक्त प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन व दार्शनिक वर्टन रसेल के सापेक्षवाद के सिद्धांत भी महावीर के स्याद्वाद से मिलते-जुलते हैं। महावीर ने कहा था कि वस्तु के कण-कण को जानो, तब उसके स्वरूप को कहो। ज्ञान की यह प्रक्रिया आज के विज्ञान में भी है। इसका अर्थ है कि स्याद्वाद का चिंतन संशयवाद नहीं है। अपितु, इसके द्वारा मिथ्या मान्यताओं की अस्वीकृति और वस्तु के यथार्थ पक्षों की स्वीकृति होती है। विचार के क्षेत्र में इससे जो सहिष्णुता विकसित होती है वह दीनता व जी-हुजूरी नहीं है, बल्कि मिथ्या अहंकार के विसर्जन की प्रक्रिया है।

दर्शन व चिंतन के क्षेत्र में अनेकांत व स्याद्वाद की जितनी आवश्यकता है, उतनी ही व्यावहारिक दैनिक जीवन में। वस्तुतः इस विचारधारा से अच्छे-बुरे की पहचान जागृत होती है। अनुभव बताता है कि एकांत विग्रह है, फूट है—जबकि अनेकांत मैत्री है, संधि है। इसे यों भी समझ सकते हैं कि जिस प्रकार सही मार्ग पर चलने के लिए कुछ अंतरराष्ट्रीय यातायात संकेत बने हुए हैं, पथिक उनके अनुसरण से ठीक-ठीक चलकर अपने गंतव्य पर पहुंच जाते हैं। उसी प्रकार स्वस्थ चिंतन के मार्ग पर चलने के लिए स्याद्वाद द्वारा महावीर ने सप्तभंगीरूपी सात संकेतों की रचना की है। इनका अनुगमन करने पर किसी बौद्धिक दुर्घटना की आशंका नहीं रह जाती। अतः बौद्धिक शोषण का समाधान है—स्याद्वाद।

महावीर के स्याद्वाद से फलित होता है कि हम अपने क्षेत्र में दूसरों के लिए भी स्थान रखें। अतिथि के स्वागत के लिए हमारे दरवाजे हमेशा खुले हों। हम प्रायः बचपन से कागज पर हाशिया छोड़ कर लिखते आए हैं, ताकि अपने लिखे हुए पर कभी संशोधन की गुंजाइश बनी रहे। जो हमने अधूरा लिखा है, वह पूर्णता पा सके। महावीर का स्याद्वाद जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हमें हाशिया छोड़ने का संदेश देता है। चाहे हम ज्ञान-संग्रह करें अथवा धन व यश का, प्रत्येक के साथ सापेक्षता आवश्यक है। संविभाग की समझ जागृत होना ही महावीर के अनेकांत को समझना है। यही हमारे चरित्र की कुंजी है। अनेकांत हमारे चिंतन को निर्दोष करता है। निर्मल चिंतन से निर्दोष भाषा का व्यवहार होता है। सापेक्ष भाषा व्यवहार में अहिंसा प्रकट करती है। अहिंसक वृत्ति से अनावश्यक संग्रह और किसी का शोषण नहीं हो सकता। जीवन अपरिग्रही हो जाता है। इस तरह आत्मशोधन की प्रक्रिया का मूलमंत्र है—महावीर का स्याद्वाद। जैनाचार्य कहते हैं कि संसार के उस एकमात्र गुरु अनेकांतवाद को मेरा नमस्कार है, जिसके बिना इस लोक का कोई व्यवहार संभव नहीं है। यथा—

जेण विणा लोयस्स वि ववहारो सव्वहा न निव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स।।

❖



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# वैदिक साहित्य में भाषिक अनेकांत

डॉ. हरिशंकर पाण्डेय

दार्शनिक परंपरा में अनेकांत का स्वरूप है—अनेक धर्मात्मक अथवा अनंत धर्मात्मक वस्तु। परस्पर विरोधी गुणों का समवाय अनेकांत है। वैदिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में अनेकांत से तात्पर्य है एक वस्तु में अनेक विरोधी-अविरोधी गुणों का समवाय। विषय एवं भाषा के परिप्रेक्ष्य में वैदिक साहित्य में अनेक ऐसे स्थल मिलते हैं, जहां एक ही वस्तु में अनेक विरोधी-अविरोधी गुणों की उपस्थिति देखी जा सकती है।

वैदिक साहित्य की प्राचीन एवं विशाल विरासत है। संसार का आद्यग्रंथ ऋग्वेद माना जाता है, ऋग्, यजु, साम और अथर्ववेद ये चार वेद हैं। इनकी अनेक शाखाएं हैं। वेदों के बाद ब्राह्मण साहित्य आता है जो अत्यंत विशाल है। आरण्यक और उपनिषद् वैदिक साहित्य के अंतर्गत ही परिगणित हैं।

वेदों के छह अंग हैं—शिक्षा, कल्प, निरुक्त व्याकरण, छंद और ज्योतिष। इन्हीं सबके परिप्रेक्ष्य में भाषिक अनेकांत का प्रतिपादन हुआ है।

### भाषिक अनेकांत का अर्थ

दार्शनिक परंपरा में अनेकांत का स्वरूप है—अनेक धर्मात्मक अथवा अनंत धर्मात्मक वस्तु। परस्पर विरोधी गुणों का समवाय अनेकांत है। वैदिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य में अनेकांत से तात्पर्य है एक वस्तु में अनेक विरोधी-अविरोधी गुणों का समवाय। विषय एवं भाषा के परिप्रेक्ष्य में वैदिक साहित्य में अनेक ऐसे स्थल मिलते हैं, जहां एक ही वस्तु में अनेक विरोधी-अविरोधी गुणों की उपस्थिति देखी जा सकती है।

### वेदों में भाषिक अनेकांत

वैदिक भाषा में अनेक स्थल मिलते हैं जहां पर भाषिक वैदिक भाषा अनेकांत के उदाहरण विद्यमान हैं। कुछ ऐसे प्रसंग यहां प्रस्तुत हैं जिनमें परस्पर विरोधाविरोध धर्मों का एकत्र समवाय उपस्थापित है—

1. अस्मद् हृदो भूरिजन्मा विचष्टे (ऋग्वेद 10.5.1)

वह ईश एक है लेकिन नाना रूपों में प्रकट होता है।

2. एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् (ऋग्वेद 8.58.2)

वह एक रूप होकर भी सभी रूपों वाला है।

3. एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋग्वेद 1.164.46)

वह एक है, विद्वान लोग नाना रूपों में वर्णन करते हैं। तात्पर्य है कि वह एक भी है अनेक भी।

4. एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति (ऋग्वेद 10.114.5)

वह एक है, विद्वान लोग नाना रूपों वाला कहते हैं।

5. एकं एवाग्निर्बहुधा समिद्धः (ऋग्वेद 8.58.2)

वह एक अग्नि नाना रूपों में प्रज्वलित है।

6. ऋग्वेद के एक मंत्र 'अदिति' में अनेक विरोधी-अविरोधी धर्मों की उपस्थापना की गई है। वह मंत्र इस प्रकार है—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्<br>
अदितिर्माता स पिता स पुत्रः।<br>
विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना<br>
अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्।। (ऋग्वेद 1.89.16)

अर्थात् अदिति ही प्रकाशमान स्वर्ग है, अंतरिक्ष है, जगत की माता है, पिता है, पुत्र है। सभी देव अदिति हैं। जो कुछ भी उत्पन्न हुआ वह अदिति है। यहां एक ही वस्तु अदिति माता, पिता, पुत्र, द्यौ, स्वर्ग, धरती आदि विभिन्न विरुद्धाविरुद्ध धर्मों के धारक के रूप में उपस्थित है।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

7. एक स्थल पर अदिति से दक्ष और दक्ष से अदिति की उत्पत्ति हुई। यहां स्पष्ट रूप से दो विरोधी धर्मों की बात कही गई है। लोक व्यवहार में यह कैसे संभव है। आचार्य यास्क समाधान करते हैं—अपिवा देवधर्मेणेतरेत्तर जन्मानौ स्याताम्। इतरेतरप्रकृति। (निरुक्त 11.25)

उपर्युक्त प्रसंगों में एक वस्तु को अनेक रूपों में या एक ही वस्तु में अनेक धर्मों की उपस्थापना की गई है। माता-पिता आदि अनेक रूपों में एक वस्तु की उपस्थापना अन्य ग्रंथों में भी मिलती है। श्रीमद्भगवद्गीता में अर्जुन की स्तुति में भगवान श्रीकृष्ण ने अनेक धर्मों के समवाय की बात कही है। वे धर्म परस्पर विरुद्ध भी हैं, अविरुद्ध भी हैं—

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्तरूप। (गीता. 38)

अर्थात् हे श्रीकृष्ण! आप आदिदेव सनातन पुरुष हैं, आप इस जगत के परम आश्रय और जानने वाले तथा जानने योग्य हैं, परमधाम हैं। हे अनंत रूप, आपसे यह जगत परिव्याप्त है।

भागवतपुराण की स्तुतियों में ऐसे अनेक प्रसंग हैं जहां एक ही वस्तु (प्रभु) में अनेक विरोधी धर्मों का समवाय उपस्थित है। 'गजेंद्रमोक्ष' नामक विश्वप्रसिद्ध 'भक्ति-स्तोत्र' में भगवान में विविध विरुद्ध धर्मों का निरूपण हुआ है। भक्तराज गजेंद्र कहता है—

न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा
न नाम रूपे गुणदोष एव वा।
तथापि लोकाप्यय संभवाय
यः स्वमायया तान्यनुकालमृच्छति।।(भा.पु.8.3.8)

हे प्रभो। आपका न जन्म है, न कर्म है, न नाम-रूप है, न गुण-दोष, लेकिन लोक की उत्पत्ति-विनाश-कल्याण के लिए आप अपनी माया से अनेक रूपों का सृजन करते हैं।

भगवान श्रीकृष्ण के अनेक रूपों का वर्णन निम्न श्लोक में द्रष्टव्य है—

श्रियपतिः यज्ञपति प्रजापति
धियांपतिः लोकपतिः धरापतिः।
पतिगतिश्चान्धकवृष्णि सात्वतां
प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः।। (भा. पुराण)

इस प्रकार वैदिक भाषा में अनेक ऐसे प्रसंग और शब्द हैं जो परस्पर विरुद्धाविरुद्ध धर्मों के समवाय के अभिव्यंजक बनते हैं।

**एक वस्तु (शब्द) में अनेक गुण**

प्रथमतया 'वेद' शब्द ही अनेक धर्मात्मक वस्तु की दृष्टि से विचारणीय है। वेद शब्द संस्कृत की पांच धातुओं से निष्पन्न होता है—विदज्ञाने, विद्लृलाभे विद्सत्तायाम् विदविचारणे, विदचेतनाख्याननिवासेषु, आदि से घञ् प्रत्यय करने पर वेद शब्द निष्पन्न होता है। यह 'वेद' शब्द अनेक अर्थों एवं धर्मों को धारण किए हुए है। धातुओं के आधार पर वेद शब्द का अर्थ ज्ञान की परम प्राप्ति का साधन, सत्ता, चिंतन, चेतना, आख्यान (इतिहास) तथा सभी श्रेयस् पदार्थों का अधिष्ठान है। ऋग्वेद का प्रारंभ अग्नि की स्तुति से होता है। वह अग्नि अनेक गुणों का धारक है। ऋग्वेद का प्रथम मंत्र है—

अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवं ऋत्विजं होतरम रत्नघातमम्। (ऋग्वेद 1.1.1.)

अर्थात् अग्नि पुरोहित (यजमान का कल्याणकारक), यज्ञ का प्रधान देव, प्रधान ऋत्विज, होता तथा विभिन्न रत्नों का, ज्ञानादि गुणों का धारक है। यहां विविध धर्मों के समवाय हैं—अग्निदेव। वे पुरोहित भी हैं, यज्ञ के प्रधान देव भी हैं, अन्य देवों को बुलाकर लाने वाले भी हैं। यही नहीं, वे घर-घर के अतिथि हैं, ऋषि लोग दमूनस एवं गृहपति के नाम से उन्हीं को अभिहित करते हैं। यज्ञ में हविष्यान्न को ग्रहण कर अन्य देवों तक पहुंचाते हैं, इसलिए उन्हें हव्यवाहन कहते हैं। बलि आदि भी अन्य देवों के पास ले जाते हैं, इसलिए उन्हीं को क्रव्यवाहन भी कहते हैं। शरीर को चिता में जला भी देते हैं, इसलिए उन्हीं को क्रव्याद् भी कहते हैं। केवल ऋग्वेद में शताधिक विभिन्न विरोधी गुणों से युक्त अग्नि को बताया गया है। यही नहीं, अग्नि और देव शब्द भी अनेक धर्मात्मक हैं। अग्नि शब्द का बड़ा ही सुंदर एवं विविध धर्मों का समन्वयपरक निर्वचन आचार्य यास्क ने किया है—

अग्निः अग्रणीर्भवति, अग्रंयज्ञेषु प्रणीयते अङं नयति सन्नममानः

अक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठिविः, न क्नोपयति न स्नेहयति।

त्रिभ्यः आख्यातेभ्यः जायते इति शाकपूणिः। इतात् अक्तात् दग्धाद् वा नीतात्। (निरुक्त 7.14)



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अर्थात् वह अग्रणी है, वह यज्ञ में सर्वप्रथम प्रणीत की जाती है, जिस ओर वह जाती है, उस ओर की प्रत्येक वस्तु को अपना अंग बना लेती है। स्थौलाष्ठीवि ऋषि का मंतव्य है कि यह सुखाने वाली है। शाकपूणि आचार्य की दृष्टि में अग्नि शब्द तीन क्रियाओं के मेल से बना है—इंगगतौ से अ अञ्चु व्यक्ति धातु से या दह धातु से मध्य अक्षर ग् तथा नी (ले जाना) से नि शब्द लेकर 'अग्नि' शब्द बना। इस शब्द में अनेक धातुओं का सम्मिलन होने से अनेक विरोधी धर्मों का अस्तित्व है—वह ज्ञान रूप है, वह जाता है, वह चमकता है, वह प्रकाश रूप है, वह जलाता है तथा वह हविष्यान्नादि को ले जाता है।

देव शब्द भी अनेक धर्मों एवं अर्थों का समवाय है। निर्वचनकार यास्क ने लिखा है—

देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनात्वा। द्यु स्थानो भावतीतिवा।

देव, दान, दीपन और द्योतन स्वभाव वाला होता है। यहां पर वा शब्द अनेक धर्मों का संग्राहक है।

अग्नि का एक नाम 'वैश्वानर' भी है। वैश्वानर शब्द अनेक विरुद्ध-अविरुद्ध धर्मों का वाचक है। वैश्वानर का निर्वचन है—विश्वान् नरान्नयति। विश्व एनं नरा नयन्तीति वा। अवि वा विश्वानर एव स्यात्। प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि तस्य वैश्वानरः (निरुक्त 7.21) अर्थात् वह समस्त मनुष्यों को ले जाता है अथवा समस्त मनुष्य उसको ले जाते हैं अथवा समस्त उत्पन्न प्राणियों को व्याप्त करता है। वैश्वानर दो परस्पर विरोधी धर्मों के समवाय का वाचक है। एक जगह यह स्वयं लोगों को ले जाता है तथा इसके विपरीत दूसरे निर्वचन में लोग इसे ले जाते हैं—ऐसा कहा गया है। अग्नि को 'जातवेदस्' भी कहते हैं। ॐ उदुत्यं जातवेदसं देवं बहन्ति केतवः। (ऋग्वेद 1.50.1)

इस मंत्र में प्रयुक्त जातवेदस् शब्द विचारणीय है—जातवेदाः कस्मात् जातानिवेद। जातानि वैनं विदुः। जाते-जाते विद्यत इतिवा। जातवित्तो वा। जातधनः जातविद्यो वा जातप्रज्ञानः। अर्थात् वह जातवेदा समस्त उत्पन्न प्राणियों को जानता है जो समस्त उत्पन्न प्राणियों के द्वारा जाना जाता है या वह समस्त प्राणियों में व्याप्त या समस्त प्राण उसके धन के रूप में हैं या समस्त प्राणी उसके ज्ञान अथवा विचार रूप हैं। यहां पर भी जातवेदा के अनेक गुण, जो विरोधी एवं अविरोधी हैं, समन्वित रूप से साहचर्य में है।

**वैदिक अंग साहित्य में भाषिक अनेकांत विषयक अवधारणाएं**

वैदिक भाषा के छह अंग होते हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष। व्याकरण, निरुक्त और छंद का सीधा भाषा से संबंध है।

**व्याकरण**—व्याकरण को मुख कहा जाता है—मुखं व्याकरणं स्मृतम्। यह सभी विधाओं में श्रेष्ठ तथा सबका उपकारक है। पतंजलि ने इसे 'महान्देव' कहा है। व्याकरण में भाषा की शुद्धता का परिज्ञान होता है। व्याकरण के नियमों में विकल्प प्रयोग, बहुल प्रयोग, छांदस-प्रयोग आदि भाषिक अनेकांत की सूचना देते हैं। आचार्य पतंजलि ने तो यहां तक कहा कि दो विरोधियों के अस्तित्व सामान्य और अपवाद नियम को स्वीकार किए बिना भाषा के आधार स्वरूप व्याकरण की गाड़ी एक पग भी नहीं चल सकती है। आचार्य पतंजलि महाभाष्य के प्रथमाह्निक में कहते हैं—

कथं तर्हीं शब्दाः प्रतिपत्तव्याः। अर्थात् शब्दों को कैसे जानें।

किंचितसामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। अर्थात् कुछ सामान्य और विशेष नियम से युक्त शास्त्र का प्रवर्तन करना चाहिए। सामान्य-विशेष क्या हैं?

उत्सर्ग और अपवाद ही सामान्य-विशेष हैं। कुछ उत्सर्ग-सामान्य नियम तथा कुछ अपवाद-विशेष नियम का प्रवर्तन करना चाहिए। यहां पर स्पष्ट रूप से संकेतित है कि

**व्याकरण को मुख कहा जाता है—मुखं व्याकरणं स्मृतम्। यह सभी विधाओं में श्रेष्ठ तथा सबका उपकारक है। पतंजलि ने इसे 'महान्देव' कहा है। व्याकरण में भाषा की शुद्धता का परिज्ञान होता है। व्याकरण के नियमों में विकल्प प्रयोग, बहुल प्रयोग, छांदस-प्रयोग आदि भाषिक अनेकांत की सूचना देते हैं। आचार्य पतंजलि ने तो यहां तक कहा कि दो विरोधियों के अस्तित्व सामान्य और अपवाद नियम को स्वीकार किए बिना भाषा के आधार स्वरूप व्याकरण की गाड़ी एक पग भी नहीं चल सकती है।**



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सामान्य के साथ विशेष का अस्तित्व स्वीकार किए बिना भाषा का ज्ञान संभव ही नहीं है। इस तथ्य के प्रतिपादन में वहीं पर आचार्य पतंजलि ने बृहस्पति और इन्द्र के आख्यान से तथ्य को पुष्ट किया है—

बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यंवर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां

शब्द पारायणं प्रोवाचनान्तं जगाम्। बृहस्पतिश्च वक्ता।

इंद्रश्चाध्येता दिव्यं वर्षसहस्रंममध्ययनककालो न चांतजगाम्

किं पुनर द्यत्वे, यो अधिकं जीवति स वर्षशतं जीवति।

(महाभाष्य, प्रथमाह्निक, पृ. 20)

वहीं पर आचार्य ने सामान्य-विशेष की सत्ता स्वीकृति से प्राप्त लाभ का भी उल्लेख किया है—

येताल्पेन यत्नेन महतोमहतः शब्दौघान्प्रति पद्येरन्—(महा. प्र. पृ. 20)

अर्थात् सामान्य-विशेष से युक्त शास्त्र के द्वारा थोड़े से यत्न से ही महान से महान शब्दराशियों का परिज्ञान हो जाता है।

**विभाषा**—बहुल, विकल्प, आदि व्याकरण साहित्य के विशिष्ट शब्द भाषिक-अनेकांत के संसूचक हैं। विभाषा शब्द का प्रयोग पाणिनि ने किया है 'न वेति विभाषा' (1.1.44) अर्थात् निषेध और विकल्प को विभाषा कहते हैं। विभाषा स्थलों में निषेध और विकल्प दोनों की प्रवृत्ति होती है। प्रथमतया निषेध से विषय का समीकरण हो जाने पर पुनः विकल्प की प्रवृत्ति होती है। बहुलम्—बहून् अर्थान् लातीति बहुलम् अर्थात् जो बहुत अर्थों को प्राप्त करे वह बहुलम् है। 'बहुलम् प्रयोग' से तात्पर्य ऐसे नियमों से है जिनका प्रयोग कुछ विशेष अवस्थाओं में निर्दिष्ट होता है, उन्हें छोड़कर अन्यत्र भी प्रयुक्त हो जाते हैं। 'बहुलम्' के चार प्रकार बताए गए हैं—

क्वचित् प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः कवचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव।

विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति।।

अर्थात् कहीं पर विधि न प्राप्त होते हुए भी कार्य होना, कहीं पर विधि होने पर भी कार्य न होना, कहीं विकल्प से होना तथा कहीं अकारण ही हो जाना—यह चार प्रकार का बहुल देखने में आता है। आचार्य पाणिनि ने अनेक बार बहुल प्रयोगों का निर्देश किया है—

कर्तृकरणे कृताबहुलम् (2.1.31) अर्थात् जो तृतीयांत कर्ता एवं कारण वाचक शब्द हैं, वे समर्थ कृदंत सुबंत के साथ बहुल करके समास को प्राप्त होते हैं, अर्थात् समास होगा और नहीं भी। दोनों विरोधी धर्मों की एकत्र उपस्थिति निम्नलिखित उदाहरणों में देखी जा सकती है—अहिना हतः अहिहतः। समास होने पर अहिहतः नहीं होने पर यथावत् अहिनाहतः। इसी प्रकार वृकहतः। यह तृतीयांत कर्ता का उदाहरण बना है। तृतीयांत करण का उदाहरण—

दात्रेणलूनं—दात्रलूनम्। परशुना छिन्न परशुछिन्नः। नखैर्निर्भिन्न—नखनिर्भन्नः। इत्यादि उदाहरणों में दो विरोधी घटनाएं एक साथ उपस्थित होकर भाषिक अनेकांत की सूचना देती हैं। इसी प्रकार विशेषणं विशेष्येणबहुलम् (स. 56) भी भाषिक अनेकांत का सूचक है। प्रथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् (2.3.32) यहां पर 'अन्यतरस्याम्' शब्द विकल्प का वाचक है। पृथक्, बिना, नाना—इन शब्दों के योग में तृतीया विभक्ति विकल्प से होती है। पक्ष में पंचमी विभक्ति भी होती है। तृतीया का अर्थ है साधन और पंचमी का अर्थ है अलगाव। दो विपरीत धर्मों का प्रयोग पृथक् आदि शब्दों के साथ देखा जा सकता है—पृथक् ग्रामेण, पृथक् ग्रामात्। बिना घृतेन, बिना घृतात्। नाना देवदत्तेन, नाना देवदत्तात्। इन उदाहरणों में दो विरोधी भावों की समान अस्तित्वात्मक उपस्थिति देखी जा सकती है। 'बहुलं छन्दसि'—यह सूत्र वैदिक व्याकरण में बहुत प्रसिद्ध है। यह वैदिक भाषा में बहुलता की सूचना देता है। 22 सौ धातुओं को पाणिनि ने दस गणों में विभाजित किया है। प्रत्येक गण के अलग-अलग विकिरणों (मध्य प्रत्यय) का निर्देश है। अदप्रभृतिभ्यः शपः (पा. 2.4.72) से अदादिगणीय धातुओं से परे प्राप्त 'शप्' का लुक् (लोप) हो जाता है। लेकिन वैदिक प्रयोग विषय में यह नियम बहुल करके होता है। बहुलं छन्दसि (24.73) में यह निर्दिष्ट है कि वैदिक प्रयोग के विषय में प्राप्त शप् का लुक् कहीं होता है, कहीं नहीं भी होता है। जहां नियम प्राप्त है वहां नहीं होता, जहां अप्राप्त है वहां हो जाता है। जैसे अशयत्—यह 'शीङ् स्वप्ने' धातु का लङ् लकार का रूप है। शीङ् धातु अदादिगणीय है। यहां लोप प्राप्त था, लेकिन नहीं हुआ। शीङ् से परे 'शप्' मानकर शीङ् को गुणादेश तथा अयादेश होकर 'अशयत्'



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रूप बन गया। त्रैङ् पालने धातु भ्वादिगणीय है, यहां पर 'कर्तरिशप्' से शप् प्राप्त है, उसका लोप नहीं होना है, फिर भी लोप होकर लोट्लकार में 'त्राध्वम्' रूप बना।

**निरुक्त**—निरुक्त के रचनाकार महर्षि यास्क हैं जिनका समय ई.पू. 800 वर्ष माना जाता है। इसमें भाषिक अनेकांत के अनेक उदाहरण मिलते हैं। सर्वप्रथम इसके स्वरूप पर दृष्टिपात करते हैं। निरुक्त वैदिक शब्दों का श्रेष्ठ निर्वचन ग्रंथ है। इसका मूल रूप निघंटु है। वैदिक शब्दों का संग्राहक ग्रंथ निघंटु है। निरुक्त के प्रारंभिक वाक्य भाषिक अनेकांत की दृष्टि से उदाहरणीय हैं—

समाम्नायः समाम्नातः। स व्याख्यातव्यः। तमिमं-समाम्नायं निघण्टव इत्याचक्षते। निघण्टव कस्मात्। निगमा इमे भवन्ति। छन्दोभ्यः समाहृत्य समाहृत्य समाम्नाताः। ते निगन्तवः एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः। अपि वा हननादेव स्युः। समाहता भवन्ति। यद्वा समाहृता भवन्ति (निरुक्त प्रथम अध्याय)। अर्थात् समाम्नाय समाम्नात है। उसकी व्याख्या करनी है। वह समाम्नाय (वैदिक शब्दों का संग्रह) ग्रंथ निघंटु (निघंटवः) कहलाता है। निघंटवः शब्द किस धातु से व्युत्पन्न है? ये वेदों से उद्धृत शब्द हैं (निगमा) अथवा पुनः-पुनः वैदिक सूक्तों से एकत्र करने के पश्चात् वे परंपरा से प्राप्त किए गए हैं। आचार्य औपमन्यवः की सम्मति है, चूंकि ये वेदों से उद्धृत शब्द हैं, इनका नियमपूर्वक कथन हुआ है अथवा ये नियमपूर्वक एकत्र किए गए हैं, अतः इन्हें निघण्टवः कहते हैं।

यहां पर यह द्रष्टव्य है कि मात्र एक निघंटु या 'निघंटव' शब्द की अनेक व्युत्पत्तियां दी गई हैं जो एक ही शब्द में परस्पर विरुद्ध-अविरुद्ध धर्मों की अवस्थिति की सूचना देती हैं।

1. निघंटु शब्द नि उपसर्गपूर्वक गम् धातु से व्युत्पन्न है—निगंतु—निघंटु।

2. यह शब्द सम् एवं आ उपसर्गपूर्वक हन् धातु से भी निष्पन्न माना गया है—अपिवा हननादेव स्युः। समाहंतु—निघंटु बना है। यहां पर हन् धातु का प्रयोग भी विरोधी-अविरोधी धर्मों के समवाय का सूचक है। हन् धातु का प्रयोग हिंसा के अर्थ में होता है, जबकि यहां पर पाठ अर्थ में प्रयुक्त है। निघंटु-समाहतु-समाहता भवन्ति अर्थात् निघंटु के पद वैदिक मंत्रों से चुन-चुनकर नियमपूर्वक पढ़े गए हैं। आचार्य पतंजलि ने हन् धातु के हिंसा एवं गति के अतिरिक्त पाठ अर्थ की ओर भी निर्देश किया है—

प्रसिद्धश्च पाठार्थे हन्तेः प्रयोगाः। ब्राह्मणे इदमाहतम् सूत्रे इदमाहतम्।

3. सम् एवं आङ्ग उपसर्गपूर्वक 'हञ्' हरणे धातु से भी निघंटु शब्द निष्पन्न हुआ है—यद्वा समाहृता भवन्ति। यहां समाहर्तु से निघंटु बना है।

**निरुक्त के प्रतिपाद्य में भाषिक अनेकांत**—निरुक्त की परिभाषा में इसके पांच प्रतिपाद्यों का निर्देश है—इस विषय में एक कारिका प्रसिद्ध है—

वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।
धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पंचविद्यं निरुक्तम्।।
(भाषा विज्ञान एवं भाषा शास्त्र, पृ. 488 पर उद्धृत)

अर्थात् वर्णागम वर्णविपर्यय, वर्णविकार, वर्णनाश तथा धातुओं का अर्थविस्तार आदि पांच प्रकार के प्रतिपाद्य निरुक्त के हैं। यहां ध्यातव्य है कि निरुक्त के प्रतिपाद्य विषय परस्पर विरुद्ध हैं, लेकिन एक ही निरुक्त में अवस्थित हैं। पूर्व उदाहरण निघंटु के निर्वचन में इन पांचों रूपों को देखा जा सकता है।

## निर्वचन के सिद्धांत और भाषिक अनेकांत

आचार्य यास्क के द्वारा तीन प्रकार के शब्द-भेद स्वीकृत हैं—'प्रत्यक्षवृत्ति, परोक्षवृत्ति, अतिपरोक्षवृत्ति। प्रत्यक्षवृत्ति के शब्द वे हैं जिनका प्रकृति प्रत्यय स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो। जिनके प्रकृति-प्रत्यय का पता कुछ कठिनता से—क्रिया की गति या सादृश्य के आधार पर लगे उसे परोक्षवृत्ति कहते हैं। अतिपरोक्षवृत्ति वाले वे शब्द हैं जिनका प्रकृति-प्रत्यय अवबोध संभव नहीं हो सके। यास्क ने इन तीनों प्रकार के शब्दों के निर्वचन सिद्धांत की मीमांसा की है। इन्हीं सिद्धांतों के विवेचन क्रम में आचार्य यास्क की वाणी भाषिक अनेकांत के रूप में विमर्शनीय है—विशयवत्यो हि वृतयो भवन्ति—(निरुक्त द्वितीय अध्याय।) अर्थात् संश्लिष्ट रचनाएं प्रायः अपवादों से युक्त होती हैं। यह अपवाद स्वीकरण ही भाषिक अनेकांत है।

इस प्रकार भाषिक अनेकांत की उपलब्धता वैदिक भाषा किंवा संस्कृत भाषा में भी देखी जा सकती है।

❖



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहानी

# कुंज के भीतर

रियूनोसुके अकूतागावा

•

**वह कुछ बोलने की स्थिति में नहीं था। पत्तों से उसका मुंह ठुंसा पड़ा था। बुदबुदाते उसके होंठों से लग रहा था, जैसे वह कह रहा हो, 'मुझे मारो!' जड़-चेतन से तटस्थ होकर मैंने उसके किमोनो में तलवार भोंक दी। मेरी नजर बराबर शून्य पर थी। नहीं तो बेहोशी पुनः मुझ पर हमला बोलती। उसके प्राण निकल रहे थे। सूर्य की आखिरी किरण में उसका पीला चेहरा चमक उठा। सिसकियां दबाकर मैंने रस्सी इकट्ठी कर ली। इसके बाद में कहां-कहां पहुंची, क्या-क्या किया—यह सुनाने की हिम्मत अब बाकी नहीं बची है। एक बात जरूर है कि मैंने मन से मौत को नहीं बुलाया। मुझमें वह साहस नहीं था। नहीं तो वह तलवार कई बार मैंने गले पर फेरी थी। एक जगह पहाड़ की तलहटी से कूदने की कोशिश की थी। आत्महत्या के कई असफल प्रयास किए। आज निर्लज्ज होकर आप लोगों में जिंदा खड़ी हूं।**

**पुलिस उच्चायुक्त के सामने लकड़हारा**

जी हां, सबसे पहले मैंने ही लाश को देखा था। रोज की तरह उस सुबह भी मैं लकड़ी काटने जंगल जा रहा था। रास्ते में एक पहाड़ी गुफा आई। गुफा के पास घनी झाड़ियां थीं। वहीं मृतक का शरीर पड़ा था।

आप जगह की पूरी जानकारी चाहते हैं?

यह जगह ठीक येमेशिना मुख्य मार्ग से 150 कि. मी. दूर है। वहां बांस और देवदार का झुरमुट हैं। मैंने देखा, मृतक के सिर पर क्योतो शैली का एक मुसा-तुसा कपड़ा बंधा था। शरीर नीले किमोनो में लिपटा था। जमीन पर गिरे उसके सपाट शरीर को देखकर लगता था कि तलवार के एक ही वार ने उसकी छाती के दो टुकड़े कर डाले थे। मेरे पहुंचने तक उसके शरीर से खून निकलना बंद हो चुका था और आहट की परवाह किए बिना कुक्कुरमाछी घाव से चिपक रही थी।

'हथियार?'

नहीं, वहां कोई हथियार नहीं था। देवदार के नजदीक बस एक रस्सी पड़ी थी। हां, एक कंघा भी था। आसपास बिखरी घास और बांस के पत्ते अभी तक नीचे की तरफ झुके थे, जिनसे पता चलता था कि मरने से पहले उसकी दुश्मन के साथ खासी झड़प हुई होगी।

'घोड़ा?'

वहां घोड़ा नहीं था। वह इतनी तंग जगह है कि वहां एक बार एक ही आदमी जा सकता है, या एक जानवर।

**बौद्ध पुरोहित**

निश्चित रूप से महोदय! यह कल दोपहर की बात है। यह बदनसीब प्राणी येमेशिना से सिकियामा जा रहा था। तभी यह आदमी भी घोड़े पर सवार होकर जा रहा था। इसके साथ कोई महिला थी। बाद में मालूम हुआ कि वह इसकी पत्नी थी। महिला के सिर पर बंधा स्कार्फ बार-बार उड़ रहा था, जिससे उसका मुंह छिप जाता था। बाकी कपड़ों में सिर्फ सूट का नीला कालर चमक रहा था।

उसके ललछौंह भूरे घोड़े का नाम आकर्षक था।

'लम्बाई?'

उफ! मृतक लगभग पांच फीट-पांच इंच का था। पुरोहित होने के कारण लोगों का अंग विस्तार देखने की मेरी आदत नहीं है। यह मेरे धर्म के विपरीत है। एक बात मुझे ठीक से याद है कि मृतक के पास एक तीर-कमान था। आह, नियति! किसको पता था—इसकी यह दुर्दशा होगी! मानव जीवन वास्तव में उषाकालीन हिमकणों या घटा में बंद बिजली जैसा अस्थिर है। ऐसी दयनीय मौत पर शोक प्रकट करने के लिए मेरे पास शब्द ही नहीं हैं।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

**सिपाही**

'जिसको मैंने हथकड़ी पहनाई?'

तन्जोमारू कहलाने वाला यह एक नामी डाकू है।

गिरफ्तारी के वक्त वह घोड़े से गिरा था और आवातागुची पुल पर चीखता हुआ जा रहा था।

'समय?'

कल रात का पिछला पहर था। सारी बातें तरतीब से यूं दर्ज की जाएं।

कुछ दिन पहले भी मैंने इसको पकड़ने की कोशिश की थी, लेकिन हाथ से निकल गया। बकरे की मां कब तक खैर मनाती! अबकी बार बदमाश पकड़ाई में आ गया। यह उस वक्त गहरा नीला किमोनो पहने था।

इसके हाथ में चौरस तलवार थी, जिसे आप सामने देख रहे हैं। इसके पास धनुष-बाण भी था।

'क्या यह हथियार मृतक से छीने गए थे?'

जी हां, आप बिल्कुल सही हैं। इसने यह हथियार मृतक से छीने थे। इसके हथियारों की फेहरिस्त में लंबी पट्टी में बंद धनुष, काला तरकस, छोटे-छोटे पंखों वाले हजारों बाण शामिल थे।

बेशक इसके ललछौंह भूरे घोड़े का नाम दिलकश था। घोड़े के गले में लगाम झूल रही थी। घोड़े से गिरकर भी इस हरामी की हड्डी-पसली का कचूमर नहीं निकला, इसे इसकी खुशनसीबी ही कहा जा सकता है।

डाकू सरदार तन्जोमारू ने आज हमारे कस्बे की एक औरत को जैसे जिंदा ही मार डाला है। लोगों की हत्या करना इसका पेशा है। पिछले शरद में पिंडोरा पहाड़ी पर आई एक महिला कुछ दिनों बाद मरी हुई पाई गई थी। उसकी हत्या का संदेह इसी पर किया जाता है। यह ऐसा नामी खूनी है...। आदमी को मारने पर इसने उसकी बीवी के साथ क्या किया होगा, इसके बारे में कुछ कहना मुश्किल है, लेकिन यह एक ऐसी बात है, जिस पर खास तौर से ध्यान दिया जाना जरूरी है।

**उफ! मृतक लगभग पांच फीट-पांच इंच का था। पुरोहित होने के कारण लोगों का अंग विस्तार देखने की मेरी आदत नहीं है। यह मेरे धर्म के विपरीत है। एक बात मुझे ठीक से याद है कि मृतक के पास एक तीर-कमान था। आह, नियति! किसको पता था—इसकी यह दुर्दशा होगी! मानव जीवन वास्तव में उषाकालीन हिमकणों या घटा में बंद बिजली जैसा अस्थिर है। ऐसी दयनीय मौत पर शोक प्रकट करने के लिए मेरे पास शब्द ही नहीं हैं।**

**वृद्धा**

हां, महोदय, उसका विवाह मेरी लड़की के साथ हुआ था। 'क्योतो' नहीं वह वाकासा के 'कोफ्कू' जिले का सेमुराई था। उसका नाम 'कानाजावा नो ताकहिको' था। वह छब्बीस वर्ष का था। स्वभाव से एकदम नम्र। उसने कभी किसी से अनुचित या उत्तेजित करने वाली बात नहीं की।

'मेरी बेटी?'

'मासागो' सिर्फ सोलह साल की है। वह साहसी लड़की कला में दिलचस्पी रखती है, लेकिन वह ताकहिको के सिवा किसी दूसरे पुरुष को नहीं जानती है। छोटे आकार का उसका मुंह कुछ-कुछ सांवला है। उसकी बाईं आंख के कोने पर तिल है। कल ताकहिको मासागो को साथ लेकर वाकासा जा रहे थे। मेरी बदनसीबी से उसके हाथ यह हादसा पेश आया। समझ नहीं आता कि मेरी बिटिया का क्या हुआ। वह कहां गई? मुझे उसका कोई अता-पता नहीं है। एक तो दामाद की मौत ने मेरी कमर तोड़ दी, उस पर बेटी भी लापता हो गई। मैं क्या करूं? कहां जाऊं? नहीं, बर्दाश्त नहीं हो रहा है मुझसे। मैं हाथ जोड़ रही हूं, भगवान के लिए मेरी बेटी को जल्दी से जल्दी खोजा जाए। यह जो डाकू तन्जोमारू या क्या है, इसका बुरा हो। इसे देखकर मुझे मतली आती रही है। इसने मेरा सब कुछ लूटा है। मुझ पर अत्याचार किया। मेरे दामाद ही नहीं, बेटी की भी...।

(अश्रु प्रवाह से गला रुंध जाता है)

**तन्जोमारू की स्वीकारोक्ति**

हां, मैंने उस आदमी को मारा है, लेकिन उसकी औरत को मारने का इलजाम सरासर गलत है। वह कहां गई, यह मैं क्या जानूं? ठहरो, एक मिनट ठहरो!

हां, तुम्हारी जोर-जबरदस्ती से मैं झूठे इलजाम मान लूंगा—यह तुम्हारी गलतफहमी होगी। इस हादसे के बाद कोई ऐसी स्थिति बाकी नहीं रही है, जिसके लालच में मैं बचने की आशा से झूठ बोलूं। इसलिए मैं साफ-साफ बयां करता हूं कैसे क्या-क्या



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुआ—

कल दोपहर के बाद की बात है। मैं येमेशिना के रास्ते पर जा रहा था। वहीं पर वह आदमी भी पत्नी के साथ जा रहा था। यानी हम सब एक ही राह पर थे। ठीक उसी वक्त हवा का एक झोंका आया, जिससे औरत के सिर से कपड़ा हट गया। मैं उसकी सिर्फ एक झलक पा सका। उसका चेहरा दुबारा नहीं दिखा। उस नजर में ही वह मुझे बोधिसत्व जैसी पवित्र और पारदर्शी लगी। उसी वक्त मैंने उसका अपहरण कर लिया। अपने विचार को कार्य रूप देने के लिए मुझे उसके आदमी को मारने की जरूरत पड़ गई। मुझे इस बात का खेद नहीं है, क्योंकि मैं मौत को जिंदगी के ऐसे खतरनाक नतीजों में नहीं गिनता हूं, जैसे आप सब। मेरे हिसाब से जिस वक्त औरत का अपहरण होता है, उसी वक्त उसके पति की भी मौत होती है। उस आदमी को मैंने इस तलवार से मारा, जो मेरे गले में लटक रही है, लेकिन, लेकिन...सिर्फ क्या मैं ही लोगों को मारता फिरता हूं। तुम नहीं? तुम तलवार नहीं चलाते हो? तुम भी चलाते हो। फर्क इतना है कि तुम लोगों के हितैषी बनकर अपनी सत्ता के बल पर उनको चूसते हो। यह बात और है कि गला काटकर उनका खून नहीं बहाते हो। उनकी अंतरात्मा को भेदते हो। तुलना करने पर बताना मुश्किल होगा कि महापातकी तुम हो कि मैं? (व्यंग्यपूर्वक मुस्कराता है।)

पहले मैंने सोचा था कि इस आदमी को मारे बिना औरत को उड़ा ले जाऊं। इसकी मैंने कोशिश भी की थी। आप खुद समझ सकते हैं कि येमेशिना के तंग रास्ते पर यह काम करना कितना कठिन है। इसलिए मुझे एक तरकीब सोचनी पड़ी। मैंने इन लोगों को पहाड़ी की तरफ खींचने की कोशिश की। यह चाल काम की रही। इनके कदम से कदम मिलाकर मैं सहयात्री बन गया। बात-चीत करता रहा। ये दोनों मस्ती में जा रहे थे। बात-बात में मैं बोला, 'एक बार मैंने पहाड़ का ऊपरी टीला खोदा था। मुझे बहुत सारी शीशे की तलवारें मिलीं। मैंने ये झाड़ियों में छिपाकर रख दीं। कोई लेने वाला मिलता, तो मैं एकदम सस्ते दाम में बेच देता।'

**हां, तुम्हारी जोर-जबरदस्ती से मैं झूठे इलजाम मान लूंगा—यह तुम्हारी गलतफहमी होगी। इस हादसे के बाद कोई ऐसी स्थिति बाकी नहीं रही है, जिसके लालच में मैं बचने की आशा से झूठ बोलूं। इसलिए मैं साफ-साफ बयां करता हूं कैसे क्या-क्या हुआ—**

मैं ताड़ गया कि कांटा ठीक फंसा है। यह प्रलोभन भी कोई कम न था। चुपड़ी-चुपड़ी बातों से मैंने पहले ही उनको अपने विश्वास में ले रखा था। झाड़ी के नजदीक पहुंचने पर मैं दुबारा बोला, 'खजाना झाड़ी के अन्दर उधर गड़ा पड़ा है। मेरे साथ चलिए।'

आदमी मेरे साथ हो लिया।

'आप जाइए। मैं यहीं रुकती हूं।' कहकर औरत वहीं रुक गई। उसका कहना वाजिब था। झाड़ियां देखकर वह रुकी थी। मैं अपने सोचे हुए ढंग से कामयाब हो रहा था। हम दोनों आगे चले। बांस की झाड़ी से पचास गज आगे एक कुंज आया। यह देवदार का कुंज है। यही मेरे मतलब की जगह थी। मैं उसको कुंज की तरफ बहकाकर लाया। तलवारें देखने की उत्सुकता में उसको भी जल्दी मची थी। झाड़ी खत्म होने के साथ-साथ बांस भी कम होते गए। तभी मैंने उसको पीछे से पकड़ लिया। वह हट्टा-कट्टा आदमी तलवार-युद्ध का खासा अनुभवी लग रहा था, लेकिन अचानक पकड़ने से अवाक् रह गया। वह बेबस हुआ। मैंने बड़ी आसानी से उसको देवदार के साथ बांध दिया।

'रस्सी?'

पेशे से चोर हूं। रस्सी हरदम साथ रहती है। कई बार दीवार फांदनी पड़ती है। ऐसे में मैं रस्सी से काम लेता हूं। अस्तु, उसको बांधने के बाद मैं ढेर सारे बांस के पत्ते लाया और उसके मुंह में ठूंस दिए, ताकि उसकी बोलचाल खत्म हो जाए। मेरा काम पूरा हो गया। अब मैं उसकी औरत को बुलाने चला। अपनी कामयाबी की चर्चा करना मुझे गैरजरूरी लग रहा है।

मैंने उसकी औरत को बुलाया। टोपी हाथ में पकड़े वह झाड़ियों की तरफ आई। कुंज से पास पहुंचते ही उसने अपने आदमी को बंधा हुआ पाया, तो एकदम तैश में आ गई। उसने तलवार निकाली और खूंख्वार होकर मेरी तरफ दौड़ी। ऐसी आक्रामक औरत से जिंदगी में पहली बार मेरा साबका पड़ा था। मैंने खुद को बचाया। अगर मैं जोर नहीं लगाता, तो वह बहुत जल्दी मुझे जमीन पर गिरा देती, या बुरी तरह घायल कर छोड़ती। वह मुझे चीरने के लिए बार-बार लपक रही थी। देर तक



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मेरा उससे संघर्ष चला। मैं तन्जोमारू ठहरा। तलवार का सहारा लिए बिना मैंने उस पर काबू पा लिया, औरत जात चाहे कितनी भी साहसी क्यों न हो, बिना हथियार के अपने को नहीं बचा पाती है। उसको वश में करके मैंने जी भर उसका आनंद लिया। उसके आदमी को मारे बिना। हां,...इसके बिना। मेरा पहले से उसको मारने का कोई इरादा न था। यह मैं आपसे कह चुका हूं।

वह बराबर रो रही थी। उसको छोड़कर मैं भागने लगा कि वह बौखलाई-सी मेरे पास चिपकती हुई बोली, 'तुम दोनों में से एक मर जाओ।' उसकी टूटी आवाज में याचना थी। वह अपने पति, या मुझे—दो में से एक को ही जिंदा देखना चाहती थी। ऐसी अपमानित स्थिति में वह एक ही आदमी के साथ रहने को तैयार थी, दूसरे की मौत देखना चाहती थी। वह दो में से एक की पत्नी बनकर रहने की इच्छुक थी। अफसोस! मेरे दिमाग से उस वक्त उसके आदमी को मारने का खयाल हवा हो चुका था।

(आवेश-भरी उदासी)

तुम लोगों की नजरों में मैं एक गिरा हुआ आदमी हो सकता हूं। फिर भी मैं यह स्पष्ट करना चाहूंगा कि पहली बार देखते ही मैंने उसको अपनी पत्नी बनाने का निश्चय किया था। मेरी इच्छा ऐसी प्रबल हुई थी, जैसे मेरी जिंदगी की एकमात्र साध यही बाकी रही हो। आप इसे वासना नहीं कह सकते। ऐसा होता, तो मैं अपना काम पूरा कर चुका था। आसानी से भाग निकलता, लेकिन बंधे आदमी को मारकर कायर बनूं, यह मेरी आत्मा को कबूल न था। मैंने उसकी रस्सी खोली, जो बाद में आपको मिली थी। मैंने उसको ललकारा। आवेश में तमतमाया वह रस्सी के खुलते ही मुझ पर छा गया। एक शब्द बोले बिना वह लगातार तलवार चलाता रहा। उसने तेईस वार किए। तेईस वार! हां, याद आते ही कंपकंपी छूटती है। इतनी देर तक मेरे सामने तलवार चलाने वाला आज तक इस जमीन पर कोई जन्मा है? (प्रसन्नता हो मुस्कराता है) आखिर एक वार से मैंने उसको गिरा दिया।

उसके गिरते ही मैंने तलवार उठाई और औरत की तरफ भागा। अरे! कहां गई? वह कहां गायब हो गई? मैंने सब जगह देखा, चारों ओर से आने वाली आवाजें गौर से सुनीं। वहां उसके आदमी की चीखों के सिवा कोई आवाज न थी। कहीं हम दोनों के युद्ध के दौरान ही वह मदद के लिए तो नहीं दौड़ी? यह विचार आते ही मैं घबराया। मैंने खुद को वहां असुरक्षित पाया। जल्दी से उसके पति का तीर-कमान उठाकर मैं उसी रास्ते से भाग निकला, जहां से आया था। भागते वक्त मैंने उसके घोड़े को सड़क पर खड़ा पाया। वह मजे में चर रहा था। इसके बाद मैं कहां गया, यह सब कहने की कोई सार्थकता नहीं है। एक बात जरूर है कि शहर में लौटते वक्त मेरे हाथ में तलवार नहीं थी। वह पहले ही कहीं फेंक दी थी। मेरे अपराध का यह हवाला है। मुझ जैसों से लिए प्राणदंड ही ठीक रहता है, (ढीठ होकर) लेकिन मेरी प्रार्थना है कि उससे बढ़कर यदि कोई दंड हो, तो वह मुझे दिया जाए।

**शिमिजू मंदिर में आई एक महिला**

इस आदमी ने मुझे समर्पण करने को विवश किया, फिर मेरे पति की तरफ देखने लगा। इसकी नजर में घोर अट्टहास था। आप खुद अनुमान लगा सकते हैं कि उसे देखकर मेरे पति किस कदर भयभीत हुए होंगे! दर्द के मारे वह छटपटा रहे थे। रस्सी उनके शरीर के भीतर ही भीतर धंसती जा रही थी। मैं पति के पास जाना चाहती थी और यह डाकू मुझे बार-बार जमीन पर गिरा रहा था। उस वक्त मैंने पति की आंखों में देखा। उनमें एक अजीब चमक थी, जिसने मेरे रोंगटे खड़े कर दिए। मुंह से निःशब्द होते हुए भी वह आंखों से सब-कुछ कह रहे थे। वह चमक क्रोध या दुख की नहीं, शिथिल घृणा-भरी चमक थी। उस नजर की मार डाकू की मार से बड़ी लगी। मैं बेहोश हो गई।

आंख खुलने पर मैंने देखा—डाकू भाग चुका था। मेरा पति अभी भी देवदार से बंधा पड़ा था। उसकी आंखों का कुत्सित भाव पूर्ववत् था। उनमें लज्जा भी थी। उसकी पूरी मनःस्थिति का वर्णन करना मुश्किल है। लड़खड़ाती हुई मैं उसके पास जाकर बोली, 'ताकिजिरो, हालात ऐसे हो चुके हैं कि अब मैं तुम्हारे साथ नहीं रह सकूंगी। मेरे लिए मौत ही एक रास्ता है, लेकिन तुम्हें जिंदा देखना भी मुझे मंजूर नहीं है, क्योंकि तुम्हारे सामने डाकू ने मेरी इज्जत लूटी, मुझे अपमानित किया। इसलिए मैं तुम्हें जिंदा नहीं छोड़ूंगी।' मैं चुप हुई।

वह घृणा-भरी नजरों से मुझे घूरे जा रहा था। मैं आहत हुई। मैंने उसकी तलवार खोजी, जो शायद डाकू लेकर भागा था। मैंने अपनी छोटी-सी तलवार निकाली और उसकी नाक की सीध में लगाकर बोली, 'लाओ, यह जीवन दे दो!'

वह कुछ बोलने की स्थिति में नहीं था। पत्तों से उसका मुंह ठुंसा पड़ा था। बुदबुदाते उसके होंठों से लग रहा


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था, जैसे वह कह रहा हो, 'मुझे मारो!' जड़-चेतन से तटस्थ होकर मैंने उसके किमोनो में तलवार भोंक दी। मेरी नजर बराबर शून्य पर थी। नहीं तो बेहोशी पुनः मुझ पर हमला बोलती। उसके प्राण निकल रहे थे। सूर्य की आखिरी किरण में उसका पीला चेहरा चमक उठा। सिसकियां दबाकर मैंने रस्सी इकट्ठी कर ली। इसके बाद मैं कहां-कहां पहुंची, क्या-क्या किया—यह सुनाने की हिम्मत अब बाकी नहीं बची है। एक बात जरूर है कि मैंने मन से मौत को नहीं बुलाया। मुझमें वह साहस नहीं था। नहीं तो वह तलवार कई बार मैंने गले पर फेरी थी। एक जगह पहाड़ की तलहटी से कूदने की कोशिश की थी। आत्महत्या के कई असफल प्रयास किए। आज निर्लज्ज होकर आप लोगों में जिंदा खड़ी हूं।

(अकेलेपन की फीकी मुस्कराहट)

जिंदगी में मैं हर प्रकार से बेकार हूं। मेरी प्रार्थना है कि मेरे साथ दया का व्यवहार किया जाए। मुझे छोड़ा जाए। मैंने जान-बूझकर उसको नहीं मारा। मैं विवश थी। डाकू ने मुझे आक्रामक बनाया था। मैं क्या कर सकती थी... (सिसकियां)

**किसी माध्यम द्वारा मृतक के मुख से**

डाकू ने मेरी पत्नी को डराया, धमकाया और फिर चिकनी-चुपड़ी बातें करने लगा। देवदार के साथ बंधा मैं क्या करता? मुंह में पत्ते ठुंसे थे। बोल तक न पाया। इसके बावजूद संकेतों से मैंने उसको डाकू के बहकावे में न आने का आदेश दिया, लेकिन वह निर्लज्ज टांगें पसारे डाकू की बातों में रस ले रही थी। वह कभी एक विषय पर बात करता, कभी दूसरे पर। यह देखकर मुझे आग लग गई।

वह मेरी पत्नी से बोला, 'तुम्हारी पवित्रता पर धब्बा लग चुका है। पति के साथ तुम पहले जैसी खुश नहीं रहोगी। बेहतर है कि तुम मेरी पत्नी बन जाओ। देखो, प्रेम के अतिरेक ने मुझे आक्रामक बनाया है।' डाकू के शब्द सुनकर उस पर मूर्च्छा-सी छा गई। वह अद्भुत रूप से सुंदर लगने लगी। मैंने जीवन-भर उसका ऐसा सुंदर रूप कभी नहीं देखा था। बंधा हुआ मैं सुन्न पड़ता गया। डाकू की बातों के उत्तर में वह क्या बोली, ठीक से याद नहीं। हलका-सा याद है वह कुछ यूं बोली थी, 'मुझे साथ ले जाओ।' इसके अपराधों का अंत अभी नहीं हुआ है। ऐसा होता, तो मैं इस अंधेरे में चिथड़ा-चिथड़ा न होता।

इसके बाद वह डाकू के साथ गलबहियां करती हुई मेरी तरफ इशारा करके बोली, 'मारो इसको। नहीं तो मैं तुमसे विवाह नहीं करूंगी। पहले इसको मार डालो...।' उसने कई बार ये शब्द दोहराए। जैसे मुझे मरवाने की जिद उसके दिमाग पर हावी हुई हो। याद करके टूटता हूं। भगवान के लिए आप ही कहिए, आज तक कोई पत्नी अपने पति के लिए ऐसे शब्द बोली होगी? क्या कभी किसी औरत ने...! ऐसा इस दुनिया में कभी हुआ होगा...! (घृणा से चीखता है) उसके शब्द सुनकर डाकू का चेहरा फक पड़ गया। वह उसके साथ चिपकती जा रही थी और मुझे मारने के लिए बराबर उकसा रही थी।

उसका उत्तर दिए बिना डाकू ने दुबारा उसको जमीन पर गिराया। घृणा से चिल्लाकर 'छीः छीः' कहा। कुछ देर तक चुप्पी छाई रही। इसके बाद डाकू उठकर मेरे पास आकर बोला, 'तुम इसके साथ कैसा व्यवहार करोगे? बोलो? तुम तो सिर्फ सिर हिला रहे हो। क्या इसको मार डालोगे?'

बेचारा डाकू! उसके ये वचन ही उसका अपराध आधा कर गए। मैं हिचकिचा रहा था। तभी वह झाड़ी से निकल भागी। उसको पकड़ने के लिए डाकू पीछे दौड़ा, पर वह पकड़ न पाया। वापस आकर उसने मेरे हथियार उठा लिए। तलवार से मेरी रस्सी काटी। मैं आजाद हो गया। जाते हुए वह फुसफुसा रहा था, 'मेरे भाग्य में उसे अगले जन्म में पाना लिखा होगा।' सब शांत हुआ। नहीं, कहीं से रोने की आवाज आई। कान लगाकर मैंने सुना, वह खुद मेरी आवाज थी। (लंबी खामोशी) थके शरीर को मैंने दीवार के साथ खड़ा किया। मेरे सामने वह तलवार दिपदिपा रही थी, जिसे वह छोड़कर गई थी। मैंने धीरे से तलवार उठाई और अपनी छाती में भोंकी। मुंह से खून छलक आया। पीड़ा नहीं हुई। छाती ठंडी पड़ने लगी।

चारों तरफ शांति छा गई। आह! कितनी सम्मोहक शांति थी। पहाड़ के ऊपर वेदियां खाली पड़ी थीं। वहां एक भी पक्षी न था। प्रकाश कम हो रहा था। बांस और देवदार अंधेरे में विलीन हो चुके थे। मैं परम मौन को समर्पित हो रहा था। कुछ देर बाद मुझे यूं लगा, जैसे कोई रेंगते हुए मेरे पास सरक आया। मैंने पूरी कोशिश की, उसे देख लूं, लेकिन ऐसे भयानक अंधकार में कुछ दिखाई न पड़ा। किसी ने मेरी छाती में से तलवार निकाली। उन अदृश्य हाथों को मैं न देख पाया। एक बार फिर मुझे खून की उलटी हुई, फिर सदा के लिए मैं अंधकार के साथ एक हो गया। ❖



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# द्वारहीन द्वार

अज्ञेय

## क्या हमीं रहे?

रूप रूप रूप
हम पिघले
विवश बहे।

तब उसने जो सब रिक्तों में भरा हुआ है
अपने भेद कहे।

सत्य अनावृत के वे
जिसने वार सहे
क्या हमीं रहे?

## प्राप्ति

स्वयं पथ भटका हुआ
खोया हुआ शिशु
जुगनुओं को पकड़ने को दौड़ता है
किलकता है :
'पा गया! मैं पा गया!'

## एक हवा-सी बार-बार

जैसे अनाथ शिशु की अर्थी को
ले जाते हैं लोग : उठाए गोद, मगर
तीखी पीड़ा के बोध बिना,

वैसे ही एक हवा-सी बार-बार
ढोती स्मृतियों का भार
थकी-सी
मुझमें होकर बह जाती है।

## साधना का सत्य

यह जो दिया लिए तुम चले खोजने सत्य, बताओ
क्या प्रबंध कर चले
कि जिस बाती का तुम्हें भरोसा
वही जलेगी सदा
अकंपित, उज्ज्वल एकरूप, निर्धूम।

## जागरण-क्षण

बरसों की मेरी नींद रही।

बह गया समय की धारा में जो,
कौन मूर्ख उसको वापस मांगे?
मैं आज जागकर खोज रहा हूं
वह क्षण जिससे मैं जागा हूं।

## जीवन-छाया

पुल पर झुका खड़ा मैं देख रहा हूं
अपनी परछाहीं
सोते के निर्मल जल पर—
तल पर, भीतर
नीचे पथरीले-रेतीले थल पर :
अरे, उसे ये भेद-भेद जाती हैं
कितनी उज्ज्वल
रंगारंग मछलियां!

## द्वारहीन द्वार

द्वार के आगे
और द्वार :
यह नहीं कि कुछ अवश्य
है उनके पार—
किंतु हर बार
मिलेगा आलोक
झरेगी रस-धार।

❖



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

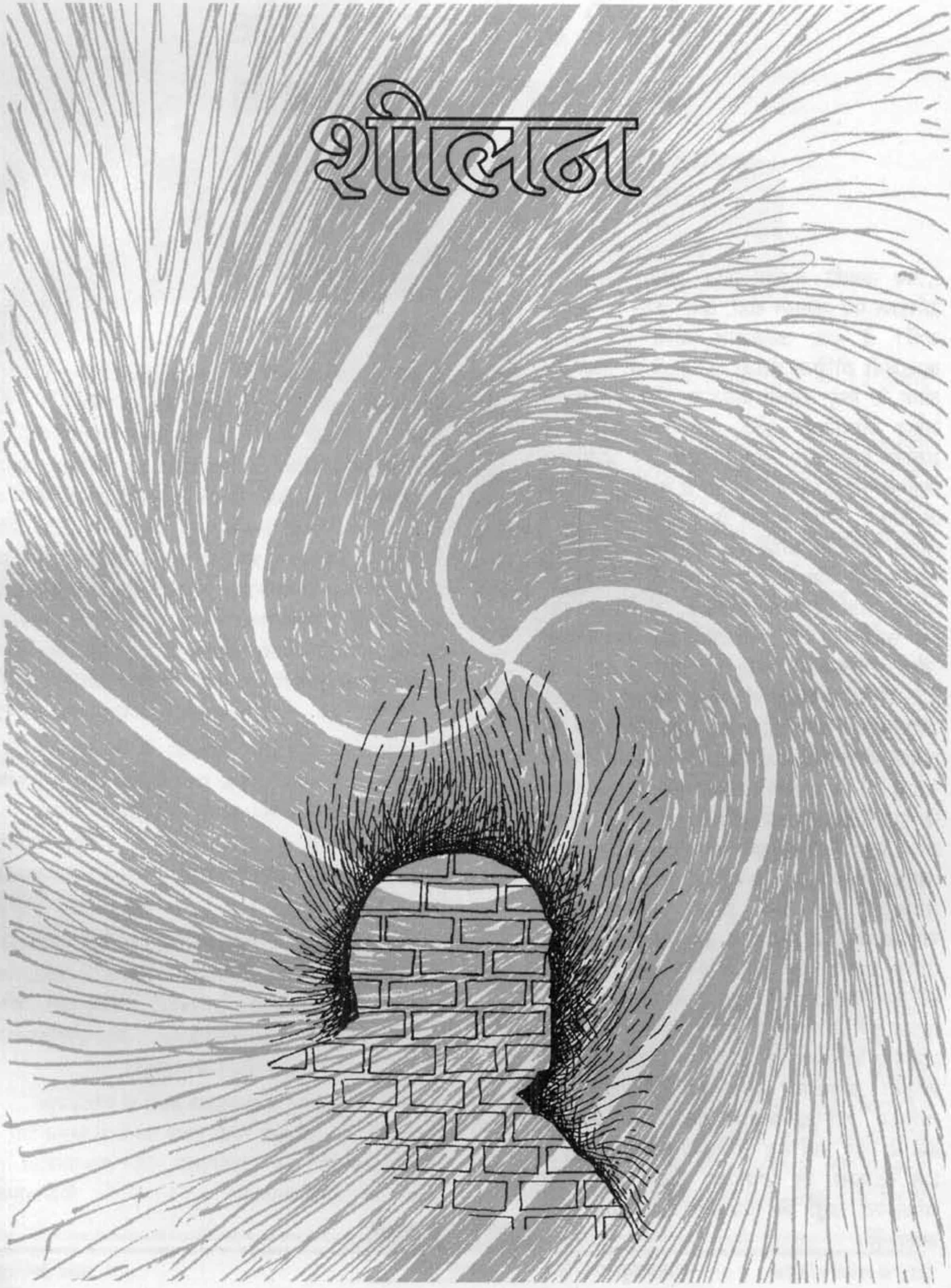


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

...पर उनकी चेतना और उनका व्यक्तित्व इतिहास पर समाप्त नहीं, देश–काल पर खत्म नहीं। वे एक जन्मजात योगी हैं। देश–कालभेदी यौगिक चेतना लेकर ही वे जन्मे हैं। लोक के लिए उनकी संवेदना और सहानुभूति महज मानसिक और प्रासंगिक नहीं, वह प्रज्ञानात्मक और आध्यात्मिक है। प्रासंगिक समस्याओं का समाधान भी वे वस्तुओं के मूल में जाकर, अपने प्रज्ञान के केंद्र में खोजते हैं। अपने युग की धार्मिक, मानसिक, दार्शनिक, अर्थ–राज–समाजनैतिक वस्तु–स्थिति का वे एक मौलिक विश्लेषण करते हैं, जो कि समस्या को अनायास ही आध्यात्मिक, सार्वभौमिक और सार्वकालिक स्तर पर संक्रांत कर देता है।...और अचानक ही मैं देखता हूं, कि मेरे महावीर की वाणी में, हमारे आज के जगत की तमाम समस्याएं ज्यों की त्यों प्रतिबिंबित हो उठती हैं। स्पष्ट लग उठता है कि ठीक इस पल के हमारे भारत और विश्व को लक्ष्य करके बोल रहे हैं भगवान महावीर। और जिस अतिक्रांति की बात करते हैं, ठीक वही हमारे वर्तमान युग की तमाम दुश्चक्र–ग्रस्त समस्याओं को सुलझाने का एकमात्र कारगर उपाय प्रतीत होता है। लेकिन इस अतिक्रांति की मूलगामी रोशनी को पाने के लिए और उसे अपने युग के जगत में घटित करने के लिए मेरे महावीर इतिहास के बाहर खड़े हो जाते हैं। मौजूदा अनाचारी व्यवस्था के दुष्चक्र को तोड़कर, उसे एक अभीष्ट संवादी दिशा में मोड़ देने के लिए उन्हें यह अनिवार्य लगता है, कि वे इस व्यवस्था से निर्वासित होकर ही इसकी नाशग्रस्त जड़ों में विस्फोट की सुरंगें लगा सकते हैं।

—वीरेन्द्रकुमार जैन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अनेकांत : उद्भव एवं विकास

डॉ. अशोककुमार जैन

**अनेकांत को सर्वथा अनेकांतरूप मानने पर अनेकांतवादी को स्व-मत हानि का प्रसंग प्राप्त होता है, क्योंकि अनेकांतवाद में सर्वथा नियम का त्याग है, अर्थात् किसी भी वस्तु-तत्त्व का प्रतिपादन करते समय सर्वथा शब्द का प्रयोग वर्जित है।**

प्रत्येक दर्शन या धर्म के प्रवर्तक की एक विशेष दृष्टि होती है जो उनके दर्शन का आधार होती है, जैसे भगवान बुद्ध की अपने धर्म प्रवर्तन में मध्यम प्रतिपदा दृष्टि है या शंकराचार्य की अद्वैत दृष्टि है। जैन दर्शन के प्रवर्तक महापुरुषों की भी उसके मूल में एक विशेष दृष्टि रही है, जिसे हम 'अनेकांतवाद' कहते हैं। जैन दर्शन का समस्त आचार-विचार इसी पर अवलंबित है। इसी से जैन दर्शन अनेकांतवादी दर्शन कहलाता है। वस्तु सत् ही है या असत् ही है, नित्य ही है अथवा अनित्य ही है—इस प्रकार की मान्यता को एकांत कहते हैं और उसका निराकरण करके वस्तु को अपेक्षा भेद से सत्-असत्, नित्य-अनित्य आदि मानना अनेकांतवाद है।

आगम युग में अनेकांत प्राचीन तत्त्व-व्यवस्था में भगवान महावीर ने क्या नया अर्पण किया—इसे जानने के लिए आगमों के अतिरिक्त हमारे पास कोई साधन नहीं है। भगवान महावीर के काल में 363 मतवाद थे—यह समवायगत सूत्रकृतांग के विवरण तथा सूत्रकृतांग निर्युक्ति से ज्ञात होता है। यथा—

असियसयं किरियाणं अक्किरियाणं च होइ चुलसीति।
अन्नाणिय सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसा।।
तेसि मताणुमतेणं पन्नवणा वण्णिया इहऽज्झयणे।
सब्भावणिच्छयत्थं समोसरणमाहु तेणं ति।।

(सूत्रकृताङ्ग निर्युक्ति गाथा, 112-113)

सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध के समवसरण अध्ययन में चार प्रमुख वादों का वर्णन प्राप्त होता है—1. क्रियावाद, 2. अक्रियावाद, 3. अज्ञानवाद, 4. विनयवाद। इनमें क्रियावादियों के 180, अक्रियावादियों के 84, अज्ञानवादियों के 67 तथा विनयवादियों के 32 प्रकार बतलाए गए हैं।

ज्ञानी मनुष्य सत्य के प्रति समर्पित होता है। वह ऐसा कोई वचन नहीं बोलता जिसमें सत्य की प्रतिमा खंडित हो। सत्य है—द्रव्य और पर्याय। भगवान महावीर ने अपने समय में आत्मा, लोक, कर्म, शरीर आदि के संबंध में होने वाले प्रश्नों का समाधान द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव दृष्टि से करके विभिन्न मतवादों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया जो उनकी अनेकांत दृष्टि का परिचायक है।

वस्तु के बारे में अनाग्रह के दृष्टिकोण का विकास ही अनेकांत व्यवस्था का मूल आधार है। अपने ही पक्ष को सत्य मानने और दूसरे की दृष्टि का तिरस्कार करने से विसंवादों की समाप्ति संभव नहीं है। सूत्रकृतांग में लिखा है—

सयं सयं पसंसंता गरहंता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्संति संसारं ते विउस्सिया।।

अर्थात् अपने-अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मतों की निंदा करते हुए जो गर्व से उछलते हैं वे संसार (जन्म-मरण) की परंपरा को बढ़ाते हैं।

उपर्युक्त श्लोक के पाद-टिप्पण में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी ने लिखा है—अपने सिद्धांत की प्रशंसा और दूसरे सिद्धांत की गर्हा करना वर्तमान की ही मनोवृत्ति नहीं है, यह पुरानी मनोवृत्ति है। 'यही सत्य है, दूसरा सिद्धांत सत्य नहीं है' इसी आग्रह ने संघर्ष को जन्म दिया है। 'इदमेवैकं सत्यं, मम सत्यं' इस आग्रह से जो असत्य जन्म लेता है, उससे बचने के लिए अनेकांत को समझना आवश्यक है। अनेकांत दृष्टि वाला दूसरे सिद्धांत के विरोध



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में या प्रतिपक्ष में खड़ा नहीं होता, किंतु सत्य को सापेक्ष दृष्टि से स्वीकार करता है। नियतिवादी नियति के सिद्धांत को ही परम सत्य मानकर दूसरे सिद्धांतों का खंडन करते थे, तब भगवान महावीर ने कहा—'नियतिवाद ही तत्त्व है—इस प्रकार का गर्व दुख से पार पहुंचाने वाला नहीं है, दुख के जाल में फंसाने वाला है।' इस श्लोक को अनेकांतदृष्टि की पृष्ठभूमि के रूप में देखा जा सकता है।

पं. सुखलाल संघवी ने सन्मति-तर्क की प्रस्तावना में अनेकांत के ऐतिहासिक विकास के संबंध में लिखा है—'भगवान महावीर से पहले भारतीय वांग्मय में अनेकांत दृष्टि नहीं थी, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, परंतु प्राचीन जैन आगमों के पूर्ववर्ती और सम-समयवर्ती दूसरे दार्शनिक साहित्य के साथ तुलना करने पर यह तो स्पष्ट ही लगता है कि अनेकांत दृष्टि का स्पष्ट एवं व्यवस्थित निरूपण तो भगवान महावीर के उपदेशरूप माने जाने वाले जैन आगमों में ही है। उपलब्ध जैन अंग ग्रंथों में अनेकांत दृष्टि की तथा उसमें से फलित होने वाले दूसरे वादों की चर्चा तो है, परंतु वह बहुत संक्षिप्त, बहुत ही थोड़े ब्यौरे वाली तथा कम उदाहरणों वाली है। आगम के निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि जैसे प्राकृत साहित्य में यह चर्चा बहुत लंबी तो अवश्य दिखाई पड़ती है, परंतु उसमें तर्क शैली एवं दार्शनिक वाद-प्रतिवाद बहुत ही कम हैं। जैन वांग्मय में संस्कृत भाषा का और उसके द्वारा तर्क शैली तथा दार्शनिक खंडन-मंडन का प्रवेश होते ही अनेकांत की चर्चा विस्तृत बनती है, उसमें नई-नई सचाइयों का समावेश होता है।

**आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने लिखा है—अनेकांत ने तत्त्व की व्याख्या की। तत्त्व के दो पहलू हैं। एक है द्रव्य और दूसरा है पर्याय। द्रव्य मूल में होता है और पर्याय अपर होता है। परिवर्तन के बिना कोई अपरिवर्तनीय नहीं होता और अपरिवर्तन के बिना कोई परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन और अपरिवर्तन—दोनों साथ-साथ चलते हैं। एक मूल में रहता है और एक फूल में रहता है। फूल हमें दिख जाता है। मूल गहरे में होता है, सामने नहीं दिखता। कभी-कभी कुछेक लोग मूल को उखाड़ने का प्रयत्न करते हैं। वे परिवर्तन को स्वीकार करते हैं। मूल को अस्वीकार करते हैं। कभी-कभी कुछेक लोग मूल पर ही अपना सारा ध्यान केंद्रित कर देते हैं और सामने दीखने वाले फूल को अस्वीकार कर देते हैं। यह एकांगी दृष्टिकोण है। अनेकांत ने दोनों को स्वीकृति दी। मूल का भी मूल्य है और फूल का भी मूल्य है।**

ईसा के बाद होने वाले जैन दार्शनिकों ने जैन तत्त्व-विचार को अनेकांतवाद के नाम से प्रतिपादित कर भगवान महावीर को उस वाद का उपदेशक बताया है। 'लघीयस्त्रय' में आचार्य अकलंक ने लिखा है—

सर्वज्ञाय निरस्तबाधकधिये स्याद्वादिने ते नम-
स्तात्प्रत्यक्षमलक्षयन् स्वमतमभ्यस्याप्यनेकान्तभाक्।
तत्त्वं शक्यपरीक्षणं सकलविन्नैकान्तवादी ततः,
प्रेक्षावानकलङ्क याति शरणं त्वामेव वीरं जिनम्।।

प्रमाण और नय से जीवादि तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान होता है, अतः एकांतवादी बौद्ध आदि अपने मत का अभ्यास करके, प्रत्यक्ष से ग्राह्य और परीक्षा करने के लिए शक्य भी अनेकांतात्मक तत्त्व की ओर लक्ष्य नहीं करते। अतः वे सर्वज्ञ नहीं हो सकते। इसलिए विचारशील निर्दोष परीक्षक जन आप वीर जिनेंद्र की ही शरण में जाते हैं। अतः सर्वज्ञता, दोष और आवरण से रहित ज्ञानवान तथा स्याद्वादी आपके लिए हमारा नमस्कार है।

इसको स्पष्ट करते हुए पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने लिखा है—विचार करने पर वस्तु तत्त्व अनेकांतात्मक ही सिद्ध होता है, फिर भी जो एकांतवादी हैं—वे अपने मत के अभ्यास से इतने बंध गए हैं कि प्रत्यक्ष से प्रतीत और जिसकी परीक्षा भी की जा सकती है, ऐसे तत्त्व को भी दुर्लक्ष्य करते हैं। तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को न जानने वाले एकांतवादी कैसे सर्वज्ञ हो सकते हैं? इसी से विचारक जन स्याद्वादी महावीर भगवान की शरण में जाते हैं, क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं, उनके ज्ञान की सब अंतरंग और बाह्य बाधाएं दूर हो गई हैं।

प्राचीन दार्शनिक मतों, वादों और दृष्टिकोणों के अध्ययन के लिए सूत्रकृतांग का अत्यंत महत्त्व है। इस आगम में भिक्षु कैसी भाषा का प्रयोग करे? इस प्रश्न के प्रसंग में बताया गया है—

संकेज्ज याऽसंकितभाव भिक्खू
विभज्जवायं च वियागरेज्जा।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भासादुगं धम्मसमुट्ठितेहिं
वियागरेज्जा समयाऽऽसुपण्णे।। (1/14-22)

भिक्षु किसी पदार्थ के प्रति अशंकित हो, फिर भी सत्य के प्रति विनम्र होकर प्रतिपादन करे। प्रतिपादन में विभज्यवाद (भजनीयवाद या स्याद्वाद) का प्रयोग करे। आशुप्रज्ञ मुनि धर्म के लिए समुत्थित पुरुषों के साथ विहार करता हुआ दो भाषाओं (सत्य भाषा और व्यवहार भाषा) का समतापूर्वक प्रयोग करे। इस श्लोक में प्रयुक्त शंकित का तात्पर्य संदिग्ध नहीं किंतु अनाग्रह है।

विभज्यवाद के चूर्णिकार ने दो अर्थ किए हैं— भजनीयवाद या अनेकांतवाद। तत्त्वार्थ के प्रति अशंकित न होने पर भजनीयवाद का सहारा लेकर मुनि कहे—मैं इस विषय में ऐसा मानता हूं। इस विषय की विशेष जानकारी के लिए अन्य विद्वानों को भी पूछना चाहिए।

विभज्यवाद का दूसरा अर्थ है—अनेकांतवाद। जहां जैसा उपयुक्त हो वहां अपेक्षा का सहारा लेकर वैसा प्रतिपादन करे। अमुक वस्तु नित्य है या अनित्य? ऐसा प्रश्न करने पर अमुक अपेक्षा से यह नित्य है, अमुक अपेक्षा से यह अनित्य है—इस प्रकार उसको सिद्ध करे।

वृत्तिकार ने विभज्यवाद के तीन अर्थ किए हैं— 1. पृथक्-पृथक् अर्थों का निर्णय करने वाला, 2. स्याद्वाद और 3. अर्थों का सम्यक् विभाजन करने वाला वाद। जैसे द्रव्य की अपेक्षा से नित्यवाद, पर्याय की अपेक्षा से अनित्यवाद। सभी पदार्थों का अस्तित्व अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से है। परद्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से नहीं है।

**अनेकांत के फलित हैं—नयवाद और सप्तभंगीवाद। इन्हीं दो सिद्धांतों में परवर्ती आचार्यों ने सूक्ष्म रूप से गहन चर्चा कर अनेक प्रश्नों का सयोक्तिक समाधान किया। तात्त्विक और आचार-मीमांसा में अनेकांत के विविध प्रयोग जैन दार्शनिक साहित्य में उपलब्ध हैं। आचार्य महाप्रज्ञ ने 'जैन दर्शन और अनेकांत' में लिखा है कि—अनेकांत का अर्थ है—अभिन्नता को स्वीकार करना और भिन्नता में सह-अस्तित्व की संभावना को खोजना। प्रत्येक द्रव्य का स्वतंत्र अस्तित्व है। अनेकांत सह-अस्तित्ववादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत कर पक्ष के साथ प्रतिपक्ष की स्थिति को अनिवार्य मानता है। हमें 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' सूत्र को दृष्टिगत रखते हुए वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक समस्याओं के निराकरण में अनेकांत दृष्टि का प्रयोग करना चाहिए। वर्तमान संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में जैन दार्शनिक ग्रंथों का अनुशीलन अपेक्षित है।**

भगवान बुद्ध ने जिन तात्त्विक प्रश्नों—जैसे— लोक, आत्मा आदि को अव्याकृत कहकर छोड़ दिया। भगवान महावीर ने उनका निरूपण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की दृष्टि से किया। गुण व पर्यायों को धारण करने वाली वस्तु स्वयं एक द्रव्य है। उस द्रव्य का आकार या संस्थान उसका क्षेत्र है, क्योंकि आकार क्षेत्रात्मक परिमाण वाला होता है। परिणमनशील पर्यायें उस द्रव्य का काल है, क्योंकि पर्यायों की स्थिति काल परिमाण वाली होती है। उसके गुण द्रव्य के स्वभाव कहलाते हैं क्योंकि वे भावात्मक होते हैं। प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय की अपेक्षा से सत् है और परचतुष्टय की अपेक्षा से असत् है, जैसा कि स्वामी समन्तभद्र ने लिखा है—

सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादि चतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते।।
(आप्तमीमांसा, 15)

**दर्शन-युग में अनेकांत—** आचार्य कुन्दकुन्द ने वस्तु-स्वरूप के निरूपण में निश्चय नय और व्यवहार नय की दृष्टि का प्रयोग किया। आगम में जहां द्रव्य और पर्याय का भेद और अभेद माना गया है वहां आचार्य स्पष्ट करते हैं कि द्रव्य और पर्याय का भेद व्यवहार के आश्रय से है, जबकि निश्चय से दोनों का अभेद है। प्रवचनसार और पंचास्तिकाय ग्रंथों में द्रव्य, गुण, पर्याय तथा सप्तभंगीवाद का निरूपण किया गया है।

तत्त्वार्थ सूत्र में वस्तु के अधिगम में प्रमाण और नय को साधन कहा गया है। यद्यपि यहां अनेकांत शब्द नहीं है, परंतु वस्तु-लक्षण में 'उत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' तथा 'अर्पितानर्पित सिद्धेः' सूत्रों में अनेकांत की दृष्टि स्पष्ट रूप से परिलक्षित है। 'अर्पितानर्पित सिद्धेः' सूत्र को स्पष्ट करते हुए पं. सुखलाल संघवी ने लिखा है—प्रत्येक वस्तु अनेक



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मात्मक है, क्योंकि अर्पित-अर्पणा अर्थात् अपेक्षा विशेष से और अनर्पित-अनर्पणा अर्थात् अपेक्षांतर से विरोधी स्वरूप सिद्ध होता है।

परस्पर विरुद्ध, किंतु प्रमाण-सिद्ध धर्मों का समन्वय एक वस्तु में कैसे हो सकता है तथा विद्यमान अनेक धर्मों में से कभी एक का और कभी दूसरे का प्रतिपादन क्यों होता है, यही इस सूत्र में दर्शाया गया है—जिसे आचार्य अमृतचन्द ने निम्नांकित श्लोक में और अधिक स्पष्ट किया है—

एकेनाकर्षयन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थान नेत्रमिव गोपी।।
(पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, 225)

जिस प्रकार दधि मंथन करने वाली ग्वालिनी मथानी की रस्सी को एक हाथ से आकर्षित करती है, दूसरे से ढीली कर देती है और दोनों की क्रिया से दही से मक्खन बनाने की सिद्धि करती है, उसी प्रकार जिनवाणीरूपी ग्वालिनी सम्यक् दर्शन से तत्त्व स्वरूप को अपनी ओर खींचती है, सम्यक् ज्ञान से पदार्थ के भाव को ग्रहण करती है और दर्शन, ज्ञान की आचरण रूप क्रिया से अर्थात् सम्यक् चारित्र से परमात्मपद सिद्धि करती है।

अनेकांत की चर्चा विस्तृत रूप से आचार्य समन्तभद्र तथा सिद्धसेन के ग्रंथों में उपलब्ध होती है। उनके ग्रंथों में अनेकांत शब्द भी उपलब्ध होता है। नयों के प्रसंग में आचार्य सिद्धसेन ने लिखा है—

ण य तइओ अत्थि णओ ण य सम्मत्तं ण तेसु पडिपुण्णं।
जेण दुवे एगंता विभज्जमाणा अणेगंतो।।
(सन्मति प्रकरण, 1/14)

इस गाथा की व्याख्या में लिखा है, मिथ्यापना और सम्यक्पना—ये दोनों विरुद्ध धर्म एक आश्रय में कैसे संभव हैं? इसका उत्तर देते हुए कहा गया—'जब ये दोनों नय एक-दूसरे से निरपेक्ष होकर केवल स्व-विषय को ही सद्-रूप से समझने का आग्रह करते हैं, तब अपने-अपने ग्राह्य एक-एक अंश में संपूर्णता मान लेते हैं और इसीलिए ये मिथ्या रूप हैं; परंतु जब ये ही दोनों नय परस्पर सापेक्ष रूप से प्रवृत्त होते हैं—अर्थात् दूसरे प्रतिपक्षी नय का निरसन किए बिना उसके विषय में तटस्थ रहकर जब अपने वक्तव्य का प्रतिपादन करते हैं—तब दोनों में सम्यक्पना आता है, क्योंकि ये दोनों नय एक-एक अंशग्राही होने पर भी एक-दूसरे की अवगणना किए बिना अपने-अपने प्रदेश में प्रवर्तित होने से सापेक्ष हैं और इसीलिए दोनों यथार्थ हैं।' आप्त-मीमांसा में भी लिखा है—

निरपेक्षा नयो मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत।।

अर्थात् निरपेक्ष नय मिथ्या होते हैं और सापेक्ष नय सम्यक् होते हैं।

**अनेकांत की अनेकांतरूपता**—स्वामी समन्तभद्र ने अनेकांत को भी अनेकांतरूप कहा है। वे लिखते हैं—

अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः।
अनेकांतः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्।।
(अर जिन स्तवन, 18)

अर्थात् अनेकांत भी प्रमाण और नय साधनों को लिए हुए अनेकांतस्वरूप है। वह प्रमाण की अपेक्षा से अनेकांतरूप है और विवक्षित नय की अपेक्षा से एकांतरूप है।

यहां प्रश्न है कि जिस प्रकार जीवादि समस्त पदार्थ अनेकांतरूप हैं, क्या उसी प्रकार अनेकांत भी अनेकांतरूप है? इस प्रश्न का तात्पर्य यह है कि अनेकांत को सर्वथा अनेकांतरूप मानने पर अनेकांतवादी को स्व-मत हानि का प्रसंग प्राप्त होता है, क्योंकि अनेकांतवाद में सर्वथा नियम का त्याग है, अर्थात् किसी भी वस्तु-तत्त्व का प्रतिपादन करते समय सर्वथा शब्द का प्रयोग वर्जित है।

उक्त प्रश्न के समाधान में आचार्य अकलंक ने 'तत्त्वार्थवार्तिक' में लिखा है— प्रमाण और नय की विवक्षा से भेद है। एकांत दो प्रकार का है—सम्यक् एकांत और मिथ्या एकांत। अनेकांत भी सम्यक् अनेकांत और मिथ्या अनेकांत के भेद से दो प्रकार का है। प्रमाण के द्वारा निरूपित वस्तु के एक देश को हेतु विशेष के सामर्थ्य की अपेक्षा से ग्रहण करने वाला सम्यक् एकांत है। एक धर्म का सर्वथा (एकांत रूप से) अवधारण करके अन्य धर्मों का निराकरण करने वाला मिथ्या एकांत है। एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध अनेक विरोधी धर्मों को ग्रहण करने वाला सम्यक् अनेकांत है तथा वस्तु को तत् अतत् आदि स्वभाव से शून्य कहकर उसमें अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करने वाला अर्थशून्य वाग्विलास मिथ्या अनेकांत है। सम्यक् एकांत नय कहलाता है तथा सम्यक् अनेकांत प्रमाण।

अखंडित चित्रण रूप ज्ञान को ही आगम में प्रमाण शब्द का वाच्य बनाया गया है, क्योंकि इसमें कोई संशय या



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विपरीतपना या क्या-कुछ है या नहीं—इस प्रकार के अनध्यवसायपने का अभाव रहता है, इसीलिए इसी अखंडित चित्रण रूप प्रमाण ज्ञान को ही सम्यक् ज्ञान कहा जाता है। अखंडित चित्रण बन जाने के पश्चात् धारा रूप चित्रण वाले ज्ञान में पड़े हुए पृथक-पृथक भाव जो धारा-प्रवाही वचनों से पर से ग्रहण करने में आए हैं, नय ज्ञान कहलाता है। प्रमाण ज्ञान अनेकांत वस्तु के अनुरूप अखंड चित्रण होने के कारण अनेकांत है और नय ज्ञान उस अनेकांत वस्तु के पृथक-पृथक अंशों के खंडित चित्रण होने के कारण एकांगी या एकांत है।

**सहानेकांत और क्रमानेकांत**—अनेकांत के संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण चर्चा का प्रारंभ आचार्य सिद्धसेन ने 'सन्मति-तर्क' में किया। जैन दर्शन में गुण और पर्याय युक्त को द्रव्य कहा गया है। इस पर शंका की गई कि 'गुण' संज्ञा तो जैनेतरों की है, जैनों की नहीं है। जैनों के यहां तो द्रव्य और पर्याय रूप ही तत्त्व वर्णित किया गया है और इसीलिए द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, इन दो ही नयों का उपदेश दिया गया है। यदि गुण भी कोई वस्तु है तो तद्विषयक तीसरा गुणार्थिक मूल नय भी होना चाहिए, परंतु जैन दर्शन में उसका उपदेश नहीं है।

इस शंका का उत्तर सिद्धसेन, अकलंक और विद्यानन्द—इन तीनों तार्किकों ने दिया है। सिद्धसेन कहते हैं कि गुण पर्याय से भिन्न नहीं है। पर्याय में ही 'गुण' शब्द का प्रयोग जैनागम में किया गया है और इसलिए गुण और पर्याय एकार्थक होने से पर्यायार्थिक और द्रव्यार्थिक—इन दो ही नयों का उपदेश है, गुणार्थिक नय का नहीं—अतः उक्त शंका युक्त नहीं है।

आचार्य अकलंक का कहना है—'द्रव्य का स्वरूप सामान्य और विशेष है और सामान्य उत्सर्ग, अन्वय, गुण—ये सब पर्यायवाची हैं तथा विशेष, भेद, पर्याय—ये एकार्थक शब्द हैं। इनमें सामान्य को विषय करने वाला नय द्रव्यार्थिक नय है और विशेष को विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय है। सामान्य और विशेष इन दोनों का अपृथक सिद्धरूप समुदाय द्रव्य है। इसलिए गुण विषयक भिन्न तीसरा नय नहीं है, क्योंकि नय अंशग्राही है और प्रमाण समुदायग्राही अथवा गुण और पर्याय अलग-अलग नहीं हैं। गुणों का नाम ही पर्याय है, अतः उक्त दोष नहीं है।

सिद्धसेन और अकलंक के इस समाधान के बाद फिर प्रश्न उपस्थित हुआ कि यदि गुण और पर्याय दोनों एक हैं—भिन्न नहीं हैं तो द्रव्य लक्षण में उन दोनों का निवेश किसलिए किया गया है? इस प्रश्न का सूक्ष्मप्रज्ञता से भरा हुआ उत्तर देते हुए आचार्य विद्यानन्द 'तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक' में कहते हैं—

गुणवद् द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये।
तथा पर्यायवद् द्रव्यं क्रमानेकान्तसिद्धये।।

अर्थात् सहानेकांत की सिद्धि के लिए तो गुणयुक्त को द्रव्य कहा गया है और क्रमानेकांत के ज्ञान के लिए पर्याययुक्त को द्रव्य बतलाया गया है और इसलिए गुण तथा पर्याय दोनों का द्रव्य लक्षण में निवेश युक्त है।

आचार्य अकलंक ने 'अष्टशती' में अनेकांत को परिभाषित करते हुए लिखा है—'सदसन्नित्यानित्यादि-सर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणोऽनेकान्तः'।

इस युग में वस्तुगत समस्याओं का निराकरण अनेकांतवाद के द्वारा किया गया।

आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने लिखा है—अनेकांत ने तत्त्व की व्याख्या की। तत्त्व के दो पहलू हैं। एक है द्रव्य और दूसरा है पर्याय। द्रव्य मूल में होता है और पर्याय अपर होता है। परिवर्तन के बिना कोई अपरिवर्तनीय नहीं होता और अपरिवर्तन के बिना कोई परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन और अपरिवर्तन—दोनों साथ-साथ चलते हैं। एक मूल में रहता है और एक फूल में रहता है। फूल हमें दिख जाता है। मूल गहरे में होता है, सामने नहीं दिखता। कभी-कभी कुछेक लोग मूल को उखाड़ने का प्रयत्न करते हैं। वे परिवर्तन को स्वीकार करते हैं। मूल को अस्वीकार करते हैं। कभी-कभी कुछेक लोग मूल पर ही अपना सारा ध्यान केंद्रित कर देते हैं और सामने दीखने वाले फूल को अस्वीकार कर देते हैं। यह एकांगी दृष्टिकोण है। अनेकांत ने दोनों को स्वीकृति दी। मूल का भी मूल्य है और फूल का भी मूल्य है।

**अनेकांतात्मक वस्तु में ही अर्थक्रियाकारित्व**—'कार्तिकियानुप्रेक्षा' में आचार्य कुमार ने लिखा है—

जं वत्थु अणेयंतं तं चिय कज्जं करेइ णियमेण।
बहुधम्मजुदं अत्थं कज्जकरं दीसए लोए।।225।।

जो वस्तु अनेकांतस्वरूप है वही नियम से कार्यकारी होती है, क्योंकि बहुत धर्मों से युक्त अर्थ ही लोक में कार्यकारी देखा जाता है। किंतु एकांतरूप द्रव्य लेश मात्र भी कार्य करने में समर्थ नहीं होता और जब वह कार्य नहीं कर


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सकता तो उसे द्रव्य कैसे कहा जा सकता है, अर्थात् नहीं कहा जा सकता।

जैन दर्शन में वस्तु का स्वरूप कथंचित् नित्यानित्यात्मक है। आचार्य अकलंकदेव ने लिखा है—

अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयोः।
क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता।।
(लघीयस्त्रय प्रमाण प्रवेश, ४)

अर्थात् नित्यपक्ष में और क्षणिक पक्ष में क्रम और अक्रम से अर्थक्रिया नहीं बनती और उस अर्थक्रिया को परमार्थभूत अर्थों का लक्षण माना गया है।

बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति ने 'प्रमाणवार्तिक' में लिखा है कि जो अर्थक्रिया करने में समर्थ है वही वस्तु परमार्थ सत् है, यथा—

अर्थक्रियासमर्थं यत् तदत्र परमार्थसत्।
अन्यत् संवृति सत् प्रोक्तं ते स्वसामान्यलक्षणे।।

बौद्ध दर्शन विशेषवादी है। सामान्य के विषय में बौद्धों की एक विशिष्ट कल्पना है। वे मनुष्य, गोत्व आदि को कोई वास्तविक पदार्थ नहीं मानते। जितने मनुष्य हैं वे सब अमनुष्य (गौ आदि) से व्यावृत्त हैं तथा सब एक-सा कार्य करते हैं। अतः उनमें एक मनुष्यत्व सामान्य की कल्पना कर ली गई है। सामान्य अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं है। इसी तरह गोत्व सामान्य से दुग्ध दोहन, भार वहन आदि अर्थक्रिया संभव नहीं है, इसलिए सामान्य को काल्पनिक माना गया है।

आचार्य अकलंकदेव लिखते हैं कि अर्थक्रिया या तो क्रम से होती है या अक्रम से (अर्थात् युगपत्) होती है, किंतु वस्तु को सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक मानने पर न तो क्रम से ही अर्थक्रिया होना संभव है और न अक्रम से ही अर्थक्रिया होना संभव है। इसका खुलासा इस प्रकार है—अर्थक्रिया का मतलब है कुछ काम करना। पहले एक कार्य किया, फिर दूसरा कार्य किया—इसे क्रम कहते हैं। इस प्रकार का क्रम नित्य वस्तु में नहीं बनता, क्योंकि नित्य वस्तु जिस स्वभाव से पहले कार्य को करती है, उसी स्वभाव से यदि दूसरे कार्य को करती है तो दोनों कार्य एक काल में ही हो जाएंगे। इसी तरह नित्य वस्तु जिस स्वभाव से पीछे होने वाले दूसरे कार्य को करती है, यदि उसी स्वभाव से पहले होने वाले प्रथम कार्य को भी करती है तो पहले होने वाला कार्य भी पीछे होने वाले कार्य के काल में ही हो सकेगा, क्योंकि दोनों कार्य एक ही स्वभाव से जन्मे हैं और वह स्वभाव नित्य वस्तु में सदा विद्यमान है। उस स्वभाव के सदा विद्यमान रहते हुए भी कार्य एक साथ न होकर आगे-पीछे कैसे हो सकते हैं? शायद कहा जाए कि यद्यपि दोनों कार्य एक स्वभावजन्य हैं, किंतु दोनों के सहकारी कारण भिन्न-भिन्न हैं, अतः दोनों कार्य क्रम से होते हैं, किंतु ऐसी स्थिति में तो वह कार्य सहकारी कारणजन्य ही कहा जाएगा।

संभवतः तर्क दिया जाए कि नित्य वस्तु भी तो उपस्थित रहती है, तभी तो कार्य होता है, किंतु अकिंचित्कर नित्य के उपस्थित रहने से भी क्या लाभ है? जिसके रहते हुए भी कार्य नहीं होता और सहकारी कारण के आ जाने पर कार्य होता है। अतः नित्य वस्तु क्रम से कार्य नहीं कर सकती और युगपद् भी कार्य नहीं कर सकती, क्योंकि ऐसी स्थिति में एक ही क्षण में सब कार्यों की उत्पत्ति का प्रसंग उपस्थित हो जाने से आगे के क्षणों में उसे कुछ करने के लिए शेष नहीं रहेगा और ऐसा होने पर वह अर्थक्रिया से शून्य हो जाएगा और अर्थक्रिया से शून्य होने पर नित्य वस्तु का अभाव ही हो जाएगा, क्योंकि जो 'अर्थक्रियाकारी होता है—वही वास्तव में सत् है' ऐसा सिद्धांत है। अतः नित्य वस्तु न तो क्रम से कार्य करने में समर्थ है और न अक्रम से कार्य करने में समर्थ है, अतः वह अवस्तु ही है, क्योंकि जो क्रम और अक्रम से अर्थक्रिया नहीं करता, वह वस्तु नहीं है—जैसे आकाश के फूल।

अब प्रश्न उठता है कि नित्य पदार्थ में कार्य करने का स्वभाव सर्वदा रहता है, अथवा कभी-कभी? यदि सर्वदा रहता है तो सर्वदा ही सब कार्यों की उत्पत्ति हुआ करेगी, क्योंकि नित्य पदार्थ में कार्यों को उत्पन्न करने का स्वभाव सदा विद्यमान रहता है। यदि कभी-कभी रहता है तो इसका यह मतलब हुआ कि नित्य पदार्थ पहले तो कार्य को उत्पन्न करने में असमर्थ रहता है और पीछे वह उसे करने में समर्थ हो जाता है। तब पुनः प्रश्न होता है कि जब वह नित्य पदार्थ कार्य को उत्पन्न करता है तो उस समय अपने असमर्थपने को छोड़ देता है या नहीं? यदि नहीं छोड़ता, तब तो वह उस कार्य को कभी भी उत्पन्न नहीं कर सकता, क्योंकि जो वस्तु जिस कार्य को उत्पन्न करने में असमर्थ अपने पूर्व स्वभाव को नहीं छोड़ती, वह वस्तु उस कार्य को कभी भी उत्पन्न नहीं कर सकती। जैसे जौ से शालि धान्य के अंकुर कभी भी उत्पन्न नहीं होते।


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यदि नित्य वस्तु अपने पूर्व असमर्थ स्वभाव को कार्यकाल में छोड़ देती है तो उसे सर्वथा नित्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो वस्तु अपने पूर्व स्वभाव को छोड़ देती है वह नित्य एकरूप नहीं रहती। तब तो उसे परिणामी मानना होगा, क्योंकि परिणामी हुए बिना पूर्व स्वभाव का परित्याग करके समर्थ स्वभाव का ग्रहण नहीं बन सकता। पूर्व स्वभाव का त्याग और उत्तर स्वभाव का ग्रहण तो तभी बन सकता है जब वस्तु अपने एकरूप को छोड़कर परिणमनशील हो और ऐसा होने पर सर्वथा नित्यता का घात होता है। अतः नित्य वस्तु में क्रम और युगपद् अर्थक्रियाकारित्व नहीं बनता।

इसी तरह सर्वथा क्षणिक वस्तु में भी क्रम और अक्रम से अर्थक्रिया नहीं बनती। क्षणिक पदार्थ भी क्रम से अर्थक्रिया करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि उसमें न देशक्रम ही संभव है और न कालक्रम ही संभव है। बौद्धों का कथन है कि—

> यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव सः।
> न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते।।

अर्थात् जो जहां है—वह वहीं है, जो जिस काल में है—वह उसी काल में है। क्षणिकवाद में पदार्थों में न देशव्याप्ति संभव है, न कालव्याप्ति संभव है। भाव यह है कि जो एक क्षणवर्ती होता है—उसे क्षणिक कहते हैं। एक क्षणवर्ती पदार्थ न तो एक देश से दूसरे देश में जा सकता है और न एक काल से दूसरे काल में जा सकता है और उसके बिना क्रम से कार्य करना संभव नहीं है। यदि संभव हो तो वह क्षणिक नहीं हो सकता। शायद कहा जाए कि संतान की अपेक्षा क्रम बन सकता है, किंतु संतान तो अवस्तु है, वास्तविक नहीं है। यहां प्रश्न है कि संतान ही कार्यकारी है या स्वलक्षणरूप क्षणिक अर्थ कार्यकारी है, या दोनों कार्यकारी हैं? यदि संतान कार्यकारी है तो वही वस्तु कहलाएगी, तब क्षणिक वस्तु की कल्पना बेकार है? यदि स्वलक्षण कार्यकारी है तो संतान अवस्तु ठहरती है, ऐसी स्थिति में उसकी अपेक्षा से क्षणिक को कार्यकारी सिद्ध करना भी अवास्तविक ही ठहरेगा। यदि दोनों ही कार्यकारी हैं तब तो वस्तु कथंचित् नित्यानित्यात्मक ही सिद्ध होती है। अतः क्षणिक अर्थ क्रम से काम नहीं कर सकता। एक साथ भी कार्य नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा होने पर कारण के काल में ही कार्य की उत्पत्ति हो जाएगी।

शायद कहा जाए कि यदि क्षणिक और नित्य पक्ष में अर्थक्रिया नहीं बनती तो न बने, उससे क्या हानि है? किंतु ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सभी आस्तिक दर्शनों ने अर्थक्रिया को ही वस्तु का लक्षण माना है। अतः अर्थक्रिया से सत्त्व व्याप्य है। नित्य और क्षणिक पक्ष में व्यापक अर्थक्रिया के अभाव में व्याप्य सत्त्व का भी अभाव सिद्ध होता है और चूंकि सत्त्व प्रत्यक्षसिद्ध है, अतः वह अपनी व्यापक अर्थक्रिया को बतलाता है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य परिणति रूप अर्थक्रिया स्वव्यापक क्रम-यौगपद्य को बतलाती है और क्रम-यौगपद्य स्वव्यापक अनेकांत को सिद्ध करते हैं और एकांत का निषेध करते हैं। अतः उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप परिणाम वाले पदार्थ में ही अर्थक्रिया संभव होने से द्रव्य-पर्यायात्मक अर्थ ही प्रमाण का विषय होता है।

एकांतस्वरूप द्रव्य कार्यकारी कैसे नहीं होता? इस संबंध में स्वामी कुमार लिखते हैं—

> परिणामेण विहीणं णिच्चं दव्वं विणस्सदे णेय।
> णो उप्पज्जदि य संदा एवं कज्जं कहं कुणइ।।
> पज्जयमित्तं तच्चं खणे खणे वि अण्णाणं।
> अण्णइदव्वविहीणं ण य कज्जं किं पि साहेदि।।

(कातिकियानुप्रेक्षा, 227-228)

अपने परिणमन से हीन नित्य द्रव्य सर्वदा न तो विनाश को ही प्राप्त होता है और न उत्पन्न ही होता है, इसलिए वह कार्य को कैसे कर सकता है, इसलिए अन्वयी द्रव्य से रहित वह किसी भी कार्य को नहीं साध सकता।

अनेकांत के फलित हैं—नयवाद और सप्तभंगीवाद। इन्हीं दो सिद्धांतों में परवर्ती आचार्यों ने सूक्ष्म रूप से गहन चर्चा कर अनेक प्रश्नों का सयोक्तिक समाधान किया। तात्त्विक और आचार-मीमांसा में अनेकांत के विविध प्रयोग जैन दार्शनिक साहित्य में उपलब्ध हैं। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने 'जैन दर्शन और अनेकांत' में लिखा है कि—अनेकांत का अर्थ है—अभिन्नता को स्वीकार करना और भिन्नता में सह-अस्तित्व की संभावना को खोजना। प्रत्येक द्रव्य का स्वतंत्र अस्तित्व है। अनेकांत सह-अस्तित्ववादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत कर पक्ष के साथ प्रतिपक्ष की स्थिति को अनिवार्य मानता है। हमें 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' सूत्र को दृष्टिगत रखते हुए वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक समस्याओं के निराकरण में अनेकांत दृष्टि का प्रयोग करना चाहिए। वर्तमान संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में जैन दार्शनिक ग्रंथों का अनुशीलन अपेक्षित है। ❖



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अनेकांत की वैज्ञानिकता

निहालचंद जैन

•

**अनेकांत का अर्थ है—जीवन के सभी पहलुओं की एक साथ स्वीकृति। अनुभव के अनंत कोण हैं। प्रत्येक कोण पर खड़ा हुआ आदमी सही है। लेकिन भूल वहीं हो जाती है, जब वह अपने कोण को ही सर्वग्राही बनाना चाहता है।**

—महावीर जैसा नैसर्गिक और वीतरागी पुरुष खोज पाना मुश्किल है। उनकी दिव्य-देशना मानवीय-मूल्यों की पुनर्स्थापना और प्रतिष्ठा के लिए हुई।

—समता, सहिष्णुता, सह-अस्तित्व, संयम और स्वतंत्रता के पंचशील सूत्रों ने उन्हें सार्वदिशिक और सार्वकालिक बना दिया।

—महावीर की खोज इंद्रियजनित नहीं, अतींद्रिय-मूलक थी। इंद्रियों का संबंध पदार्थों से है। पदार्थ—विज्ञान की खोज का मूल है, जबकि अतींद्रिय की खोज—वीतराग विज्ञान पर टिकी है।

—वीतराग विज्ञान के हिमालय से समता और सहिष्णुता-मूलक सह-अस्तित्व की पावन गंगा अवतरित होती है। उस गंगा को बुलाने के लिए आत्म-पुरुषार्थ का भगीरथ चाहिए।

—जीवन-मृत्यु में, जय-पराजय में, सुख-दुख में, प्रशंसा और निंदा में समताशील बने रहना वीतरागी का करिश्मा हो सकता है। संसारी सुवर्ण और मृत्तिका को समभाव से नहीं देख पाता।

—सह-अस्तित्व के कार्य में अनाग्रह के बीज छिपे होते हैं।

—वस्तुतः संघर्ष का जनक हमारी आग्रहवृत्ति है। आग्रहवृत्ति सत्-असत् और हेय-उपादेय को नहीं, स्वार्थ को देखती है। आग्रहवृत्ति जहां है, वहां अविवेक है और अविवेक संघर्ष और युद्ध रचता है। 'महाभारत' अविवेक का संग्राम था, जो आग्रह की भूमि पर लड़ा गया था।

—भगवान महावीर ने 'स्याद्वाद और अनेकांत' के आलोक में सह-अस्तित्व को रोशनी दी, प्राण दिए। सह-अस्तित्व की अनुकंपा से अनेकांत का सिद्धांत आचरण में, जीवन में रूपायित होता है।

—अनेकांत के आंगन में 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' का आचार्य उमास्वाति का अमर-सूत्र, पुष्प बनकर फला-फूला। प्रत्येक प्राणी सापेक्षता और सह-अस्तित्व से जुड़ा है। एक का उपहार दूसरे को उपकृत कर रहा है। इसके बिना न जीवन संभव है और न ही जीवन का विकास।

—प्रकृति में कुछ भी अकारण नहीं है, भले ही हमारा अज्ञान उसमें कारण न ढूंढ पाए। मनुष्य मनुष्य से ही नहीं वृक्षों, पेड़-पौधों से भी जुड़ा है। वृक्ष हमारी निश्वासित वायु से भोजन बना रहा और बदले में हमें प्राण-वायु दे रहा है।

आज विवाद वस्तुओं के कारण नहीं है। विवाद है—विचारों के कारण। देखने वाले की दृष्टि के कारण विवाद है। हम इसी आग्रह में हैं कि हमें जो दिख रहा है वह संपूर्ण है, वही सत्य है। हमें जो दिख रहा है वह सत्य का एक भाग हो सकता है, संपूर्ण सत्य नहीं। समुद्र में तैरता हिमखंड (आइसवर्ग) समुद्र सतह पर जितना दिखाई दे रहा है—क्या उतना ही है? नहीं, दृश्य का 9 गुना उसके भीतर मौजूद है, पानी के अंदर। दृश्य के आधार पर यदि कोई जहाज उससे टक्कर लेने लगे तो उसे भारी नुकसान उठाना पड़ सकता है।

अनेकांत वस्तु के बहुआयामी गुण-धर्मों में एक समन्वय और सह-अस्तित्व की रचनात्मक भूमिका प्रदान करता है। कोई वस्तु निरपेक्ष नहीं है। वह अनेक विरोधी



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

धर्मों का समूह है। वस्तु जो भी है, वह संबंधों की एक अमराई है। भाषा केवल उस वस्तु के एक आयाम, गुण या संदर्भ को ही एक समय में व्यक्त कर सकती है। भाषा की यह लाचारी है कि वह एक साथ विरुद्ध संदर्भों को अभिव्यक्त नहीं कर सकती।

अध्यात्मवादी डी.टी. सुजकी का कहना है कि भाषा हमारी स्वानुभूति को संप्रेषित करने में असमर्थ है। स्वानुभव भाषा की पकड़ से परे है। विज्ञान में भी ऐसा होता है। जब-जब शब्द असमर्थ हुआ है, उसने गणितीय प्रतीकों की सहायता ली है।

स्याद्वाद अनेकांतात्मक वस्तु के स्वरूप को बताने में, भाषा की एक व्यवस्था है। वस्तु को, उसकी अस्मिता को जानने के लिए चार संदर्भों का ध्यान रखना होगा—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव (देश)।

भगवान महावीर का 'अनेकांत-दर्शन' एकांगिक दृष्टियों का निराकरण करने, विविध और परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली मान्यताओं का समन्वय करने, सत्य का शोध करने और चिंतन के विविध पक्षों को मणिमाला के समान एक सूत्र में निबद्ध करने के लिए है।

भौतिकवेत्ता अल्बर्ट आइन्स्टीन (1905-1919) के 'स्पेशल थ्योरी आफ रिलेटिविटी' तथा जैन दर्शन के अनेकांतवाद में बहुत समानता है।

आइन्स्टीन की घोषणा है—'One thing may be true but may not be real true. We can know only the relative truth. The absolute truth is known only by the universal observer'—हम केवल सापेक्ष सत्य को ही जान सकते हैं। निरपेक्ष सत्य को सर्वज्ञ ही जान सकता है।

आइन्स्टीन सत्य को दो संदर्भों में लेता है—एक सापेक्ष सत्य और दूसरा नित्य सत्य। अनेकांतवाद 'सापेक्ष सत्य' पर आधारित है।

आइन्स्टीन इसे एक सटीक उदाहरण द्वारा प्रस्तुत करते हैं। अचल विद्युत (Static charge) के आसपास कोई चुंबकीय क्षेत्र नहीं होता जबकि चल विद्युत के आस-पास चुंबकीय क्षेत्र होता है।

किसी सुदूर ग्रह पर एक वैज्ञानिक बैठा है और पृथ्वी पर रखे आवेश पर प्रयोग कर रहा है। पृथ्वी गतिमान है, अतः वह देखता है कि आवेश के आस-पास विद्युत-चुंबकीय क्षेत्र है। जब वह पृथ्वी पर उतरकर यह अध्ययन करता है, तो वह स्वयं आवेश के साथ पृथ्वी पर घूम रहा है, अतः उस आवेश के आस-पास कोई चुंबकीय क्षेत्र नहीं पाता। अतः विज्ञान के सभी निष्कर्ष, सापेक्ष होकर ही समीचीन हो पाते हैं।

'रिलेटिविटी' किसी वस्तु में स्थित परस्पर विरोधी स्थितियों को जानने के लिए बहुत जरूरी है। जैसे—क्रोध बुरा है। लेकिन कब? जब यह अपनी बुराई पर न करके बाहरी वस्तुओं या व्यक्तियों पर करते हैं। क्रोध यदि हम अपने अज्ञान के विनाश के लिए करें तो वह क्रोध कल्याणकारी भी बन सकता है। पेड़ की जड़ विरोधी दिशा में जाकर ही उसे आकाश में ऊपर उठाने में मदद करती है। दो विरोधी तलों के कारण ही समतल का अस्तित्व है। हाथ की चार अंगुलियां एवं अंगूठे की विरोधी दिशाएं-दशाएं, हाथ में शक्ति लाती हैं।

अनेकांत का अर्थ है—जीवन के सभी पहलुओं की एक साथ स्वीकृति। अनुभव के अनंत कोण हैं। प्रत्येक कोण पर खड़ा हुआ आदमी सही है। लेकिन भूल वहीं हो जाती है, जब वह अपने कोण को ही सर्वग्राही बनाना चाहता है।

वस्तुतः हमारा अहंकार हमें तोड़ता है। अहंकार समस्याएं पैदा करता है। अनेकांत सह-अस्तित्व की वकालत कर समस्याओं का निरसन करके विश्वशांति स्थापना में मुख्य भूमिका निभाता है। सापेक्षता-सिद्धांत के पहले—पदार्थ (matter) और ऊर्जा (energy) दो विभिन्न द्रव्य (antities) माने जाते रहे। साथ ही यह धारणा थी कि न तो पदार्थ को ऊर्जा में बदला जा सकता है और न ही ऊर्जा को पदार्थ में। लेकिन स्पेशल थ्योरी आफ रिलेटिविटी के द्रव्यमान—ऊर्जा सूत्र $E=mc^2$ के अनुसार यह परस्पर रूपांतरण संभव हो गया। विज्ञान कहता है कि एक किलोग्राम उपयुक्त पदार्थ से $9 \times 10^{16}$ जूल ऊर्जा प्राप्त की जा सकती है। जैन दर्शन पहले से ही पदार्थ और ऊर्जा—दोनों को पुद्‌गल की पर्याय मानता है।

महावीर—एक संभावनाओं के पुंज-पुरुष रेखांकित किए जा सकते हैं। महावीर का दर्शन संभावनाओं का प्रतिफल है। संभावनाओं को ही सारे शास्त्र और ज्ञान संबोधित हैं। जो निरपेक्ष और अंतिम है—वह महावीर हो गया है।

**वीतराग-मूर्तियां क्या हैं?**

वहां भौतिक रूप गौण बन गया। इन मूर्तियों में अनेकांत की धारणा का कला में वितरण हो गया। रूपाकार



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

होकर भी रूप विसर्जित हो गया। 'ॐकार' आदि प्रतीक चिह्न, जीवन संभावनाओं के ही रूप हैं।

आइन्स्टीन के सापेक्षवाद ने निरपेक्ष को मान्यता नहीं दी। उन्होंने वस्तु की संहति (mass), लंबाई, चौड़ाई रूप क्षेत्र को, उसके अबंधित समय को तथा अवगाह रूप जुड़े अंतरिक्ष (स्पेस) को निरपेक्ष नहीं है—ऐसा सिद्ध किया।

उन्होंने कहा कि वेग के कारण तथा संदर्भ-भेद के कारण अंतर आ जाता है। जैसे प्रकाश-वेग से गतिशील वस्तु की लंबाई, विरामावस्था की वस्तु की लंबाई से कम हो जाती है, जबकि घटनाएं एक साथ घटित हों। लेकिन एक उसे प्रकाश-वेग से गतिमान राकेट में बैठकर देखे और दूसरा स्थिर अवस्था में रहकर देखे, तो दोनों अवलोकन-कर्ताओं को वे अलग-अलग समय की दो घटनाएं प्रतीत होंगी।

अंतर्नक्षत्रीय यात्राओं में, गति की अवस्थाओं में, देश के संकुचन एवं काल के प्रसारण के विचित्र परिणाम होते हैं। यदि हम पृथ्वी से एक प्रकाशवर्ष की दूरी पर स्थित एक नक्षत्र की यात्रा पर प्रकाश-वेग से जाएं, तो जाने और लौटने में कम-से-कम 18 वर्ष लगेंगे। लेकिन यह हमारा केवल भ्रम है। यदि हम प्रकाश-वेग से चलें तो हमारी घड़ियां, हृदय पिंड, श्वासोच्छ्वास, रक्त-परिवहन, पाचन-क्रिया आदि सभी सत्तर हजार गुणन से मंद हो जाएंगे और हमारा एक मिनट पृथ्वीवासियों के सत्तर हजार मिनट के बराबर होगा। 18 वर्ष की पार्थिव-अवधि हमारे लिए कुछ घंटों के बराबर होगी। यदि सुबह का नाश्ता लेकर हम वहां पहुंचे तब तक दोपहर की भूख लगेगी और वापस पृथ्वी लौटने तक रात का समय हो जाएगा। लेकिन यहां विचित्र घटना घटेगी। पृथ्वी के 18 वर्ष व्यतीत हो चुके होंगे। वह पुत्र, जो 17 वर्ष छोटा था अपने पिता से, एक वर्ष बड़ा हो जाएगा।

विज्ञान के इन तथ्यों से निरपेक्षवाद का खंडन होता है। सर्वथा निरपेक्ष कुछ नहीं चल सकता।

जीवन-व्यवहार जितना अधिक व्यापक दृष्टिकोण वाला होगा वह अनेकांत दृष्टि वाला ही होगा।

समन्तभद्र स्वामी ने युक्त्यनुशासन में कहा है—

एकांत धर्माभिनिवेशमूला, रागादयोग कृतिजा जनानाम्। एकांत हानाच्च यमदेव, स्वाभाविकत्वाच्च सम् मनस्ते।।5।। अर्थात् एकांत आग्रह से एकांती, अहंकारी हो जाता है। अहंकार से राग-द्वेष और पूर्वाग्रह हो जाते हैं, जिससे वस्तु-स्वरूप का यथार्थ दर्शन नहीं हो पाता। अनेकांती को न अहंकार पैदा हो पाता है, न रागादि विचार भाव।

अनेकांत के पथ पर चलकर अहिंसा की साधना सहिष्णु बनती है। इस प्रकार अनेकांत सह-अस्तित्व का पक्षधर होता हुआ सहिष्णु होने की बात करता है। वह ऐसा कुछ नहीं करना चाहता कि आपकी हस्ती मिटे और स्वयं भी मिट जाए।

महावीर जानते थे कि मनुष्य का अहंकार अहिंसा का रास्ता रोक लेगा, इसलिए उन्होंने अनेकांतरूपी राडार मनुष्य के हाथ थमाया। अनेकांत के बिना अहिंसा वस्तुतः पंगु है।

यदि राष्ट्रीय एकता और भावात्मक एकता को मजबूत बनाना है, विश्व समस्याओं का एक सम्मत समाधान खोजना है, जिससे संघर्ष, रक्तपात रुक सके तो शलाका पुरुष महावीर के अनेकांत को अंगीकार करना होगा।

एक वैचारिक क्रांति के द्वार पर बैठे सजग प्रहरी की भांति है यह अनेकांत। इसमें समाजवादी समाज-संरचना और धर्म-निरपेक्षता की भावना विद्यमान है। अनेकांत के गवाक्षों से प्रत्येक व्यक्ति व प्रत्येक संप्रदाय, सत्य के द्वार खोलकर, मानवता को गौरवान्वित कर सकता है।

**सत्य-दर्शन का त्रिभंगी एवं सप्तभंगी सिद्धांत**

सत्य-दर्शन एवं वस्तु-स्वरूप की संपूर्ण व्याख्या तीन 'स्यात्' से की जा सकती है—

(1) स्यात्—'है' (2) स्यात्—'नहीं है'

(3) स्यात्—'नहीं भी और है भी'। यह त्रिभंगी के नाम से जाना गया। महावीर की दृष्टि में 'ही' नहीं 'भी' समाहित है।

वे चाहते हैं कि दूसरों के लिए भी हाशिया छोड़ा जाए।

शब्द को पकड़कर बैठने से प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती।

जैसे हिंसा का अर्थ है—किसी के प्राणों का वियोग करना। परंतु देश-रक्षा के लिए, शत्रु-आतताई का वध करना हिंसा नहीं है। अनेकांत सभी संभावनाओं के द्वार खोलता है।

उक्त त्रिभंगी को महावीर ने सप्तभंगी बनाया।

उन्होंने कहा—अब तीन से काम नहीं चलेगा। सत्य कहना बड़ा जटिल है। जैसे कोई कहता है—'यह घड़ा है'


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दूसरा कहता है—'यह मिट्टी है'। तीसरी संभावना कि यह घड़ा नहीं मिट्टी है। भगवान महावीर ने चौथा भंग (दृष्टिकोण) जोड़ा—'स्यात् अनिर्वचनीय' अर्थात् कुछ ऐसा भी है जो कहा नहीं जा सकता। घड़ा अणु भी है, परमाणु भी है, इलेक्ट्रॉन भी है, प्रोटोन-विद्युत भी है। सब-कुछ हो सकता है। इन सबको इकट्ठा करना बड़ा मुश्किल है। घड़े में अस्तित्व का होना—वह अनिर्वचनीय है। पांचवां स्यात् है और अनिर्वचनीय है। छठा स्यात् नहीं है और अनिर्वचनीय है।

ईश्वर के संबंध में विभिन्न दर्शन भिन्न-भिन्न मत रखते हैं।

जहां उपनिषद् ब्रह्म की व्याख्या को असमर्थ कहता है वहीं बाईबिल कहता है कि ईश्वर की व्याख्या नहीं हो सकती। भगवान महावीर कहते हैं—ईश्वर या ब्रह्म की बात तो बड़ी है, एक घड़े की व्याख्या नहीं हो सकती। 'स्यात्' शब्द संशय का सूचक नहीं है। स्यात् यह इंगित करता है कि किसी के बारे में कोई आग्रह नहीं, कोई एक दावा नहीं।

अब तक विज्ञान में यह समझा जाता रहा कि अणु एक बिंदु है, जिसकी लंबाई-चौड़ाई नहीं होती। लेकिन प्रयोगों द्वारा जो निष्कर्ष निकले उनसे पता चला कि यह अणु कभी बिंदु की तरह व्यवहार करता है तो कभी तरंग की तरह।

अणु की व्याख्या के लिए आइन्स्टीन को एक नया शब्द खोजना पड़ा—'क्वांटा'। क्वांटा का मतलब है कि परमाणु कण भी है और तरंग भी। उन्होंने कहा—दोनों संभावनाएं एक साथ भी हैं। इस विचार क्रांति के बाद निरपेक्ष सत्य की सभी मान्यताएं डगमगा गईं। विज्ञान अब सापेक्ष के भवन पर खड़ा हो गया। इस वैज्ञानिक संदर्भ में महावीर स्वामी की स्यात् भाषा परम सार्थक हो गई है।

विज्ञान सापेक्षता का संबल पकड़कर 'कम्प्यूटर' युग में प्रवेश कर मंगल ग्रह तक अपने पांव बढ़ा आया है। अध्यात्म अनेकांत की संपदा से इतना समृद्ध होने पर भी, निमित्त-उपादान और नयवाद के विवाद में इतना क्यों उलझा है। धर्म अपने वैचारिक द्वंद्वों में क्यों झूल रहा है?

एक ने वस्तु की उपादान क्षमता को इतना महत्त्व दे डाला कि उसने 'निमित्त' को अकिंचित्कर कह डाला। निमित्त को गौण और महत्त्वहीन बना दिया। दूसरा निमित्त की 'डफली' बजा रहा है।

भगवान महावीर ने केवल किताबी ज्ञान से 'तत्त्व-ज्ञान' प्राप्त नहीं किया। उन्होंने अपने चिंतन, मनन और साधना से सत्य को उपलब्ध किया। डॉ. जयकुमार 'जलज' ने एक आलेख में इस पर बहुत सपाट लिखा है—'हर वस्तु खुद अपना उपादान है। सबको अपने पांवों से चलना है। कोई दूसरा हमारे लिए उपादान नहीं बन सकता।' उन्होंने भगवान महावीर के चिंतन को बहुत सारगर्भित ढंग से प्रस्तुत किया। दूसरों के लिए हम उपादान नहीं बन सकते, लेकिन निमित्त बन सकते हैं। 'जीओ और जीने दो'—बहुत सरल शब्दों में महावीर का दर्शन प्रकट है।

जीएंगे हम अपने उपादान से परंतु दूसरों को जीने का मौका देगें अपने निमित्त से। कोई किसी पर एहसान, कृपा, दया नहीं कर रहा है। परंतु हमारी ऐकांतिक दृष्टि पक्ष व्यामोह में अटकी है। हम 'ही' पर ठहरकर कूटस्थ बन गए हैं।

'एक' भी कूटस्थ नहीं है। वह कई एकांशों का बना है। सूर्य का सफेद प्रकाश देखने में एक है, परंतु वह भी सात रंगों की प्रकाश तरंगों का सम्मिलन है।

इसी प्रकार 'नय' विवक्षापूर्वक हमें अध्यात्म में प्रवेश करके इसे जीवन से जोड़ना है। क्योंकि जीवन अध्यात्म के लिए नहीं, बल्कि अध्यात्म जीवन के लिए है। जैसे चेतन-आत्मा—कर्मों का कर्ता भी है और अकर्ता भी। वह भोक्ता भी है और अभोक्ता भी। वह कर्तृत्व-बुद्धि वाला भी है और अकर्तृत्व भी। वह साकार भी है और निराकार भी। वह कब कैसा है, इसे सापेक्ष और अनेकांत का आश्रय लेकर ही समझना होगा। गन्ने में रस होता है, परंतु छिलके के संयोग से वह देखने में नहीं आता। इसी प्रकार आत्मा कर्म की संयोगावस्था में राग-द्वेष और अज्ञान के विकारी भाव से सहित है, परंतु उपादान से अखंड, अविकारी ध्रुव है। भेद लक्ष्य से वह रागमय है और अखंड गुण लक्ष्य से, राग से अलिप्त है। ऐसी दृष्टि अनेकांत की देन है।

अनेकांत और स्याद्वाद से हमारी अभिव्यक्ति फलती-फूलती है। प्रस्तुत आलेख में इसकी वैज्ञानिकता पर एक अकिंचन प्रयास किया गया। इसकी सातत्यता के लिए प्रज्ञावान पाठकों, विद्वानों और वैज्ञानिकों के विचारों के लिए बहुत हाशिया है। ❖



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# समस्याओं का समाधान : अनेकांत

हेमलता बोलिया

•

वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक अराजकता, उलझाव और टूटन के युग में यदि इस सिद्धांत का व्यापक समझ के साथ उपयोग हो तो पारस्परिक अविश्वास, वैमनस्य और आपाधापी के झंझावात की गति में अवरोध आ सकता है। विद्वेष, अनाचार और कदाचार की आंधी रुक सकती है। परिवार में सास यदि यह समझ ले कि दूसरे के घर से आई बहू जो-कुछ कह रही है—वह उस घर के दृष्टिकोण, वहां के पारिवारिक वातावरण—जहां से वह आई है—उस दृष्टिकोण से सही हो सकता है। इसी प्रकार बहू यह समझ ले कि सास जो-कुछ कह रही है, वह उसके अपने पति-परिवार के खट्टे-मीठे अनुभवों के आधार पर कह रही है। दोनों द्वेष छोड़कर वस्तुनिष्ठ विचार करें, एक-दूसरे के विचार को सम्मान दें, तो प्रतिदिन के कलह टाले जा सकते हैं। कलह के अभाव में परस्पर प्रेम और विश्वास बना रहेगा तो परिवार एक रहेगा।

आज का सामाजिक-राजनीतिक परिदृश्य किसी से छिपा नहीं है। वर्तमान में समाज और राजनीति की जो स्थिति है, उसे न तो स्वस्थ ही कहा जा सकता है और न शांत। समाज की लघुतम इकाई परिवार है। परिवारों के समूह मोहल्ले के रूप में तथा एक-से धर्म-आचार, विश्वास तथा कर्म में आस्था रखने वाले परिवारों के समूह जाति या समुदाय कहलाते हैं। यही समुदाय परस्पर आवागमन, सांस्कृतिक आदान-प्रदान, सामाजिक-आर्थिक विनियोजन के माध्यम से समाज का स्वरूप ग्रहण करते हैं। परस्पर सामंजस्य और शांतिमय जीवन के लिए ये समुदाय कुछ नियम या आचार-संहिता भी बनाते हैं। इसी आचार-संहिता के माध्यम से वे अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं।

परिवार या परिवारों के वातावरण का सामूहिक रूप ही सामाजिक वातावरण है, किंतु विडंबना यह है कि आज प्रत्येक परिवार में भौतिक सुख-समृद्धि के होते हुए भी तनाव दिखाई देता है। व्यक्ति जो-कुछ सोचता या चाहता है, वैसा लाभ या अपेक्षा की पूर्ति परिवार के अन्य सदस्यों से न होने के कारण उसकी सोच की प्रक्रिया सकारात्मक नहीं होने से नसों में खिंचाव होता है, जो सोचने-समझने की शक्ति को ही अवरुद्ध कर देता है। परिणामस्वरूप परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति मन में क्रोध उत्पन्न होता है और यही क्रोध जब झुंझलाहट में बदलता है तो परिवार के अन्य सदस्यों के प्रति विश्वास में कमी और टकराहट उत्पन्न करता है। यथा—सास बहू के प्रति और बहू सास के प्रति सशंक हो उठती है। शंका की स्थिति उन्हें कुछ छिपाने को बाध्य करती है, एक-दूसरे के बढ़ते आरोप-प्रत्यारोप परिवार में विघटन-अलगाव पैदा करते हैं। फलतः दोनों ही पक्ष अपने-आप को असहाय अनुभव करते हैं। उस असहायता की अनुभूति में उन्हें मात्र अर्थ ही अपना अवलंबन प्रतीत होता है। सास चाहती है, अर्थ पर उसका आधिपत्य रहे, उसकी योजनानुसार कार्य हो, बहू भी अपने पक्ष में यही चाहती है। यही द्वंद्व अलगाव और रिश्तों की टूटन को जन्म देता है। फलस्वरूप एकल परिवार अधिकाधिक अर्थार्जन को अपना लक्ष्य बना लेता है। उसे इस धुन में उचित-अनुचित का विवेक भी नहीं रहता और शुरू हो जाती है भ्रष्टाचार, बेईमानी, ऐश्वर्य प्रदर्शन की ललक, पारिवारिक हिंसा, दहेज प्रताड़ना, उत्पीड़न, नैतिक मूल्यों का ह्रास, वृद्धों की उपेक्षा, नारी के जीवन की द्विधा, बढ़ता बोझ, धार्मिक उन्माद आदि। यही क्रम परिवार के समूहस्वरूप समुदाय और सामाजिक गतिविधियों में दृष्टिगत होता है।

राजनीति का परिदृश्य भी कुछ ऐसा ही है। राजनीति का अर्थ है—'राज्ञा नीति' अर्थात् शासक या शासन संचालन की नीति। वर्तमान में राजनीति में आए 'राजन्' शब्द का लोकतंत्रात्मक शासन पद्धति में अर्थ होगा 'सत्ता



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या सत्तारूढ़ दल की नीति'। अपने सिद्धांतों को केंद्र में रखकर वह शासन संचालन हेतु दिशा-निर्देश देता है, कर्मचारी-तंत्र को आदेश देता है। राजनीति का आदर्श व्यवस्थाओं का नियमन, राष्ट्र की सुरक्षा और प्रजा की समृद्धि होना चाहिए। सभी दल अपना आदर्श भी यही बताते हैं, किंतु यथार्थ कुछ और ही दृश्य दिखाता है। सत्ता पाना यहां चरम लक्ष्य बन जाता है। सिद्धांत—दिखाने के दांत रह जाते हैं। हर दल अपनी सत्ता हेतु सभी तरह के हथकंडे अपनाते हैं। फलतः कल तक जो समूह एक दल के समर्थन में होता है वह दूसरे पल में पक्षद्रोह कर दूसरे दल को समर्थन दे देता है। इस अंधी दौड़ में शासन में अस्थिरता, परस्पर अविश्वास, अर्थ को अनावश्यक महत्त्व, घोटाले, भ्रष्टाचार, राजनीति का अपराधीकरण, भाई-भतीजावाद, राष्ट्र-विमुखता, सांस्कृतिक-द्रोह और राष्ट्र-द्रोह की दहलीज पारकर शत्रुओं और विदेशी कंपनियों के हस्तग तक बनने की शृंखला शुरू हो जाती है।

भगवान महावीर के आविर्भाव के समय भी कुछ स्थितियां ऐसी ही रही होंगी, तभी उन्होंने अनेकांत को व्याख्यायित किया। 'अनेक अन्तः धर्मा यस्य स अनेकान्तः' अर्थात् वस्तु में विद्यमान अनंत धर्मों का युगपत् स्वीकार अनेकांत है। वस्तु एक है, उस पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से विचार करने पर उसकी पृथक-पृथक विशेषताएं दृष्टिगोचर होती हैं। अतः अनेकांत का अर्थ है—विभिन्न कोणों या पहलुओं से वस्तु की अखंड सत्ता का आकलन।

स्याद्वादमंजरी[1] में हेमचंद्राचार्य ने अनेकांत का लक्षण दिया है—'अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम्' अर्थात् प्रत्येक पदार्थ में अनंत धर्म हैं, पदार्थों में अनंत धर्म माने बिना वस्तु की सिद्धि नहीं होती।

भगवतीसूत्र[2] में कहा गया है कि अस्तित्व और नास्तित्व परस्पर विरोधी नहीं हैं, अपितु दोनों सहभावी हैं। दोनों साथ में रहकर ही वस्तु को वास्तविकता प्रदान करते हैं। इस प्रकार अनंत कोणों का होना विरोध नहीं है। उनका हमारी बुद्धि की पकड़ में न आना विरोध प्रतीत होता है। यथा—किसी वस्तु के विषय में एक दृष्टि से कही गई बात सच है तो उसी वस्तु के विषय में दूसरे दृष्टिकोण से देखी गई बात भी उतनी ही सत्य हो सकती है। एक दृष्टिकोण से जो बात सत्य है, दूसरे दृष्टिकोण से वह बात असत्य भी हो सकती है। इस तरह एक ही वस्तु के विषय में सात नयों से कही गई सात बातें एक साथ सत्य, असत्य और सत्यासत्य हो सकती हैं। यही दृष्टिकोण स्याद्वाद, सप्तभंगी नय या अनेकांत कहलाता है।[3] हो सकता है जो बात हम कह रहे हैं, वह दूसरे के समझ में न आए अथवा जो बात दूसरा कह रहा है वह हमारी समझ में न आए। सामान्यतया आदमी अपनी बात को सत्य और दूसरे की बात को असत्य सिद्ध करने का यत्नपूर्वक प्रयत्न करता है। अतः तत्त्वचिंतक आचार्य ने सलाह दी—

तत्रापि न द्वेष कार्यो विषयवस्तु यत्नतो मृग्यः।
तस्यापि च सद्वचनं सर्वं यत्प्रवचनादन्यत्।।[4]

अर्थात् हमारे वचन से अन्यथा बात कहने वाले व्यक्ति से भी द्वेष नहीं करना चाहिए, वस्तु पर विशेष ध्यान देकर विचार करना चाहिए। हो सकता है उसका वचन भी सद्वचन हो।

भगवान महावीर द्वारा प्रवर्तित अनेकांत एकदम नवीन हो—ऐसी बात भी नहीं है। इसके बीज हमें वैदिक साहित्य में भी मिलते हैं, जहां उषा को 'पुरातनी युवतिः' (415116) कहा गया है। ब्रह्म को अनेक देवों के रूप में व्याख्यायित एक ही तत्त्व मानते हुए कहा गया—एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति। इन्द्र यमं मातरिश्वानमाहुः।'

किंतु महावीर ने साढ़े बारह वर्षों की कठोर साधना और तपस्या के बाद प्राप्त सत्य के दर्शन को सर्वतः देखकर यह अनुभूति की और यही अनुभूति उन्होंने अपने शिष्यों को दी कि दूसरों की बात को भी सुनो। सुनो ही नहीं ध्यानपूर्वक सुनो, हो सकता है उसमें भी कोई तथ्य हो। शांति, धैर्य और विश्वास से उसकी बात सुनकर अपनी बात कहो। जीवन संचालन की यह पद्धति एक दृढ़ स्तंभ के रूप में स्वीकार कर दर्शन में सम्मिलित की गई। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अनेकांत का सिद्धांत मौलिक नहीं है। मौलिक है—एक वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों का स्वीकार और प्रतिपादन। इसीलिए यह आज भगवान महावीर और जैन धर्म-दर्शन का पर्याय बन गया है।

वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक अराजकता, उलझाव और टूटन के युग में यदि इस सिद्धांत का व्यापक समझ के साथ उपयोग हो तो पारस्परिक अविश्वास, वैमनस्य और आपाधापी के झंझावात की गति में अवरोध आ सकता है। विद्वेष, अनाचार और कदाचार की आंधी रुक सकती है। परिवार में सास यदि यह समझ ले कि दूसरे के घर से आई बहू जो-कुछ कह रही है—वह उस घर के दृष्टिकोण, वहां के पारिवारिक वातावरण—जहां से वह



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आई है—उस दृष्टिकोण से सही हो सकता है। इसी प्रकार बहू यह समझ ले कि सास जो-कुछ कह रही है, वह उसके अपने पति-परिवार के खट्टे-मीठे अनुभवों के आधार पर कह रही है। दोनों द्वेष छोड़कर वस्तुनिष्ठ विचार करें, एक-दूसरे के विचार को सम्मान दें, तो प्रतिदिन के कलह टाले जा सकते हैं। कलह के अभाव में परस्पर प्रेम और विश्वास बना रहेगा तो परिवार एक रहेगा। अलग होने की स्थिति में किए जाने वाले अनेक प्रबंध व संसाधनों के जुगाड़ के स्थान पर एक से ही काम चलेगा, अर्थ-व्यय कम होगा और साधनों का अनावश्यक आकर्षण कम होगा, अर्थ-मोह की कमी से अनेक दुष्चक्र रुक जाएंगे। कार्य के ठीक उत्तरदायित्वपूर्ण विभाजन से द्विधा-बोझ कम होगा और परस्पर प्रसन्नता व शांति रहेगी। यही शांति और समृद्धि परिवार से समुदाय में और समुदाय से समाज तक जाएगी।

राजनीतिक पटल पर भी मतवादों एवं स्व-सिद्धांत प्रसार के आग्रह के कारण फैलते झगड़े कम होंगे। एक-दूसरे के द्वारा कही हुई बात का बुरा मानने के स्थान पर दूसरे को सम्मान देते हुए, उसका आदर करते हुए अपनी बात कही जाएगी और दूसरे को भी यदि यह विश्वास होगा कि मेरी उचित बात हमेशा मानी जाएगी तो सत्ता-मोह कम होगा, सत्ता-मोह का अभाव पारस्परिक 'आयाराम-गयाराम' की नीति को हतोत्साहित करेगा, शासन में स्थिरता आएगी। राष्ट्र तथा संस्कृति रक्षण ही सर्वोपरि आदर्श होंगे। फिर हमें बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हाथों कठपुतली नहीं बनना पड़ेगा।

उद्योग एवं कर्मचारी तंत्र में फैलती परस्पर अविश्वास की खाई, यूनियनों के परस्पर झगड़े एवं कर्मचारी-वर्ग पर प्रभुत्व जमाने की राजनीति के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। सरकार अनेक बार यह समझती है कि कर्मचारियों की यह आवश्यकता उचित है, उसे देना भी चाहती है; फिर भी वह चाहती है कि इस सुविधा को दिलाने का श्रेय अमुक संगठन को देना है—तो वह स्वयं संकेत करती है, हड़तालें होती हैं, देय सुविधा दी जाती है और अदेय सुविधाओं के न मिलने का दोष दूसरे संगठनों पर डालती है। उसका राजनीतिक लाभ चुनाव में लिया जाता है। यदि सरकार सत्ता-मोह से हटकर देय सुविधाएं बिना परेशान किए दे दें तो अव्यवस्था दूर हो सकती है। साथ ही कर्मचारी-वर्ग भी यह समझे कि सरकार जिस कार्य के लिए पैसा देती है, हमें वह कार्य निष्ठा से करना है और राजस्व की बहती सरिता में से अपने घर की ओर कुल्याएं (नाले) न निकालें तो शायद सरकार के पास भी आर्थिक तंगी न हो। फिर परस्पर कर्म-विराम और तोड़-फोड़ की नौबत न आए। यह तभी हो सकता है जब राजनेता और जनसामान्य के जीवन का अंग महावीर की अनेकांत दृष्टि बने।

निष्कर्ष के रूप में सिद्धसेन दिवाकर के शब्दों में कहा जा सकता है कि—'सिंधु में जैसे सरिताएं मिलती हैं वैसे ही अनेकांत दृष्टि में सारी दृष्टियां आकर मिल जाती हैं।'[5] अतः आज आवश्यकता इस बात को हृदयंगम करने की है कि 'सत्य शब्दातीत होता है, वह अनुभूति का ही विषय है, वाच्यता में उसका एक अंश ही ग्राह्य होता है। बहुधा व्यक्ति एक अंश को ही पूर्ण मानकर आग्रहशील हो जाता है। इसीलिए महावीर ने श्रोता और वक्ता—दोनों को, वाच्य अंश को अन्य अंशों से निरपेक्ष न करने का चिंतन दिया। इसका फलितार्थ है—'जो मेरा है केवल वही सत्य नहीं, अपितु दूसरे के पास जो है वह भी सत्य हो सकता है। पूर्ण सत्य अनुभूति का विषय है।'[6]

आचार्यश्री तुलसी के शब्दों में—'हमारी सबसे बड़ी गलती यही रही है कि तत्त्व की व्याख्या में तो हमने 'अनेकांत' को जोड़ा, पर जीवन की व्याख्या में उसे जोड़ना भूल गए, जबकि महावीर ने जीवन के हर कोण के साथ अनेकांत को जोड़ने का प्रयत्न किया।'[7]

अब हमें भी महावीर की भांति जीवन के हर पहलू को अनेकांत के साथ जोड़ने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। यदि इस दिशा में हम गतिशील होंगे तो समस्याओं के समाधान स्वतः ही हो जाएंगे। इससे अच्छा उपाय और क्या हो सकता है? ❖

### संदर्भ


1. कारिका—22
2. द्रष्टव्य 1/133-88
3. (क) अपर्ययं वस्तु समस्यमानमद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम्।
   आदेशभेदोदितसप्त भङ्गमदीदृशस्त्वबुधरूपवेद्यम्।।
   —स्याद्वादमंजरी, श्लोक-23

   (ख) विस्तार के लिए द्रष्टव्य—वही
4. मूल उद्धरण षोडषक, 16/19
   कर्मयोगी केसरीमल सुराणा अभिनंदन ग्रंथ, चतुर्थ खंड, पृ. 262
5. द्रष्टव्य—मुनि नथमल कृत श्रमण महावीर, पृ. 178
6. मुनि महेन्द्रकुमार 'प्रथम'—महामानव महावीर, लेख महावीर जयंती स्मारिका, रुड़की, 1994
7. समणी कुसुमप्रज्ञा कृत—गुरुदेव तुलसी, पृ. 176 ❖❖





Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अनेकांतवाद : जैनेतर परंपरा में

प्रकाश सोनी (वर्मा)

•

**अनेकांत को प्रधानतया जैन दर्शन का पर्याय माना जाता है। अनेकांतवाद का विकास और तार्किक आधारों पर उसकी पुष्टि जैन दार्शनिकों ने ही की है। जैनेतर दर्शनों में अनेकांत को अपेक्षित मान्यता प्रदान नहीं की गई है, परंतु अनेक स्थलों पर वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों की स्वीकृति एवं उनका समन्वय उनमें भी दृष्टिगोचर होता है, जो अनेकांतवाद की स्वीकृति माना जा सकता है। भगवान महावीर और बुद्ध के समय में ही नहीं, उससे पूर्व भी वस्तु स्वरूप का अनेक दृष्टियों से प्रतिपादन करने की परंपरा थी।**

जो वस्तु तत्स्वरूप है, वह वस्तु असत् स्वरूप भी है। जो सत् है, वह असत् भी है। जो एक है, वह अनेक भी है। जो नित्य है, वह अनित्य भी है। अनेकांत परस्पर अनेक विरोधी धर्मों का समन्वय करता है। अनेकांत-दृष्टि वस्तु के किसी एक ही धर्म को लेकर विचार नहीं करती, वह वस्तु के अनंत धर्मों का सत्कार करती है। वस्तु के किसी एक ही अंश को ग्रहण करके चलने वाली दृष्टि एकांगी होती है। फलतः वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान पाती।

अनेकांत को प्रधानतया जैन दर्शन का पर्याय माना जाता है। अनेकांतवाद का विकास और तार्किक आधारों पर उसकी पुष्टि जैन दार्शनिकों ने ही की है। जैनेतर दर्शनों में अनेकांत को अपेक्षित मान्यता प्रदान नहीं की गई है, परंतु अनेक स्थलों पर वस्तु में परस्पर विरोधी धर्मों की स्वीकृति एवं उनका समन्वय उनमें भी दृष्टिगोचर होता है, जो अनेकांतवाद की स्वीकृति माना जा सकता है। भगवान महावीर और बुद्ध के समय में ही नहीं, उससे पूर्व भी वस्तु स्वरूप को अनेक दृष्टियों से प्रतिपादित करने की परंपरा थी। ऋग्वेद का 'एकंसदविप्राबहुधावदन्ति' (ऋग्वेद 1/164/46) वाक्य इसी अभिप्राय को सूचित करता है। यथा 'देवानां पूर्वे युगे असतः सद्जायत' (ऋग्वेद 10/72/7) से यही फलित होता है कि वैदिक ऋषि अनाग्रही अनेकांत-दृष्टि के ही संपोषक रहे हैं। बुद्ध विभज्यवादी थे। वे प्रश्नों का उत्तर एकांश में 'हां' या 'ना' में न देकर अनैकांशिक भी देते हैं (दीघनिः पोट्ठपादसुत्त) जो व्याकरणीय है, उन्हें ऐकांशिक यानी सुनिश्चित रूप से जिनका उत्तर हो सकता है, कहा है—जैसे आर्यसत्य है ही। बुद्ध ने प्रश्नव्याकरण चार प्रकार का बताया है। (दीघनिः 33 संगीति परियाय) एकांश व्याकरण, प्रतिपृच्छा व्याकरणीय प्रश्न, विभज्य व्याकरणीय प्रश्न में एक ही वस्तु का विभाग करके उसका अनेक दृष्टियों से वर्णन किया जाता है।

भारतीय षड्दर्शनों में भी अनेकांतवाद का दर्शन समुचित रूप में देखने को मिलता है।

### सांख्य दर्शन में अनेकांतवाद

सांख्य भी जैन दर्शन के जीव एवं अजीव की तरह पुरुष एवं प्रकृति—ऐसे दो मूल तत्त्व मानता है। उसमें पुरुष को कूटस्थ नित्य और प्रकृति को परिणामी नित्य माना गया है। इस तरह उसके द्वैतवाद में एक तत्त्व परिवर्तनशील और दूसरा अपरिवर्तनशील है। इस प्रकार सत्ता के दो पक्ष परस्पर विरोधी गुणधर्मों से युक्त हैं। फिर भी उनमें एक सह-संबंध है। पुनः यह कूटस्थ नित्यता भी उस मुक्त पुरुष के संबंध में है, जो प्रकृति से अपनी पृथकता अनुभूत कर चुका है। सामान्य संसारी पुरुष/जीव में तो प्रकृति के संयोग से अपेक्षा भेद से नित्यत्व और परिणामीत्व दोनों ही मान्य किए जा सकते हैं। पुनः प्रकृति तो जैन दर्शन के सत् के समान परिणामी-नित्य मानी गई है, यानी उसमें परिवर्तनशील एवं अपरिवर्तनशील दोनों विरोधी गुणधर्म अपेक्षा भेद से रहे हुए हैं। पुनः त्रिगुण—सत्त्व, रजस् और तमस् आपस में विरोधी हैं, फिर भी प्रकृति में वे तीनों एक साथ रहे हुए हैं। सांख्य दर्शन का सत्त्वगुण स्थिति का, रजोगुण उत्पाद का, तमोगुण विनाश का प्रतीक है। द्रव्य की



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नित्यता और पर्याय की अनित्यता जैन दर्शन के समान सांख्य दर्शन को भी मान्य है।

**वेदांत में अनेकांतवाद**

भारतीय दर्शनों में वेदांत दर्शन वस्तुतः एक दर्शन नहीं, अपितु दर्शन-समूह वाचक है। आचार्य शंकर सृष्टिकर्ता ईश्वर के प्रसंग में स्वयं ही प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति रूप दो परस्पर विरोधी गुणों को स्वीकारते हैं। वे लिखते हैं—

ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात्, सर्व शक्तिमत्वात्।
महामायत्वाच्च प्रवृत्यप्रवृती न विरुध्यते।।
(ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य 2/2/4)

पुनः माया को न ब्रह्म से पृथक कहा जा सकता है और न अपृथक, क्योंकि पृथक मानने पर अद्वैत खंडित होता है और अपृथक मानने पर ब्रह्म माया के कारण विकारी सिद्ध होता है। माया को न असत् कह सकते हैं और न सत्। यदि माया असत् है तो सृष्टि कैसी होगी और अगर माया सत्, तो फिर मुक्ति कैसे होगी? वस्तुतः माया न असत् है और न सत्, न ब्रह्म से अभिन्न है और न भिन्न। यहां अनेकांतवाद जिस बात को विधिमुख से कह रहा है— आचार्य शंकर उसे ही निषेधमुख से कह रहे हैं।

आचार्य शंकर के अतिरिक्त वेदांत दर्शन के प्रसिद्ध 'ब्रह्मसूत्र' ग्रंथ के 'तत्तुसमन्वयात्' (1/1/4) सूत्र का भाष्य करते हुए प्रख्यात विद्वान भास्कराचार्य ने लिखा है—

कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना।
हेमात्मना यथाऽभेद कुण्डलाद्यात्मनाभिदा।। (पृ. 16-17)

अर्थात् ब्रह्म कार्यरूप से भिन्न-भिन्न—इस कारण अनेकरूप हैं और कारणरूप से एक एवं अभिन्नरूप है। जैसे कि कुंडल, कंटक आदि सोने की अपेक्षा से एक अभिन्नरूप है, किंतु कंटक कुंडलादि रूप से अनेक और भिन्नरूप हैं।

प्रवर विज्ञान भिक्षु ने ब्रह्मसूत्र पर विज्ञानामृत भाष्य लिखा है, उसमें वे अपने भेदाभेदवाद का न मात्र पोषण करते हैं, अपितु अपने मत की पुष्टि में कूर्मपुराण, स्कंदपुराण, नारद पुराण आदि से संदर्भ भी प्रस्तुत करते हैं। यथा—

त एते भगवद्रूपं विश्वं सदासदात्कम्।
(विज्ञानामृत भाष्य, पृ. 111)
चैतन्यापेक्षया प्रोक्तं व्यमादि सकल जगत्।।
असत्यं सत्यरूपं तु कुम्भकुंडाद्यपेक्षया।।
(वही, पृ. 63)

ये समस्त संदर्भ अनेकांत के संपोषक हैं—यह तो स्वतःसिद्ध है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदांत दर्शन में भी अनेकांतवादी दृष्टि अनुस्यूत है।

**योग दर्शन में अनेकांतवाद**

योग दर्शन भी जैन दर्शन के तुल्य ही सत्ता को सामान्य विशेषात्मक मानता है। योगसूत्र में कहा गया है—

'सामान्य विशेषात्मनोऽर्थस्य' (समाधिपाद का सूत्र 7)। मात्र इतना ही नहीं, योग दर्शन में द्रव्य की नित्यता को उसी रूप में स्वीकृत किया गया है, जिस रूप में अनेकांत दर्शन में। परिणाम का लक्षण भी योगभाष्य (3/13) में अनेकांतरूप से ही किया है। यथा—'अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः।' अर्थात् स्थिरद्रव्य के पूर्वधर्म की निवृत्ति होने पर नूतन धर्म की उत्पत्ति होना परिणाम है।

जैन दर्शन में द्रव्य और पर्याय या गुण, दूसरे शब्दों में धर्म और धर्मों में एकांत अभेद को स्वीकृत नहीं करके उनमें भेदाभेद स्वीकृत करता है और यही उसके अनेकांतवाद का आधार है। यही दृष्टिकोण हमें योगसूत्र भाष्य में भी प्राप्त होता है—

न धर्मीत्र्यध्वा धर्मास्तु त्र्यधूवान ते लक्षिता-अलक्षिताश्च तान्तामवस्थां प्राप्नुवन्तोऽन्यत्वेन प्रतिनिर्दिश्यन्ते अवस्थान्तरतोः न द्रव्यान्तरतः। यथैक रेखा शतृस्थाने शतंदशस्थाने दशैकं चैकस्थाने। यथाचैकत्वेपि स्त्री माताचोच्येत दुहिता च स्वसा चेति (योगसूत्र विभूतिपाद, भाष्य 13)। उपर्युक्त तथ्य को इस तरह भी प्रकट किया गया है—'यथा सुवर्ण भाजनस्य भित्वाऽन्यथा क्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वम्।'

इन दोनों संदर्भों से सुस्पष्ट है कि जिस तरह एक नर (पुरुष) अपेक्षा भेद से पिता, पुत्र, श्वसुर आदि कहलाता है, उसी प्रकार एक ही द्रव्य अवस्थांतर को प्राप्त होकर भी वही रहता है। जो जैन दर्शन में अनेकांतवाद का आधार है। इस प्रकार योग दर्शन की पृष्ठभूमि में कहीं-न-कहीं अनेकांत दृष्टिकोण अनुस्यूत है।

**न्याय दर्शन में अनेकांत**

न्याय दर्शन में उल्लिखित है कि सत्ता सत्-असत् रूप है। जो कि कार्य-कारण की व्याख्या के संदर्भ में प्रकारांतर में स्वीकार है। पूर्वपक्ष के रूप में यह कहा गया है कि उत्पत्ति के पूर्व कार्य न तो असत् कहा जाता है, न सत्


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहा जा सकता है और न उभय रूप ही कहा जा सकता है, क्योंकि दोनों में वैधर्म्य है। यथा—

नासन्न सन्नसदसत् सदसतोवैधर्म्यात्।

—न्यायसूत्र 4/1/48

भाष्यकार वात्स्यायन लिखते हैं—यच्च केषांचिदभेदं कुतश्चिद् भेदं करोति तत्सामान्य विशेषो जातिरिति।

यहां पर सामान्य विशेषात्मक मानकर अनेकांतवाद की पुष्टि की गई है। क्योंकि अनेकांतवाद व्यष्टि में समष्टि और समष्टि में व्यष्टि का अंतर्भाव मानता है। व्यक्ति के बिना जाति की और जाति के बिना व्यक्ति की कोई प्रभुसत्ता नहीं है। उनमें कथंचित् भेद और अभेद है। विशेष में सामान्य और सामान्य में विशेष अपेक्षा भेद से निहित रहते हैं। यही तो अनेकांतवाद है।

**वैशेषिक दर्शन में अनेकांत**

वैशेषिक दर्शन में सामान्य और विशेष नामक दो स्वतंत्र पदार्थ माने गए हैं। पृथिवीत्व आदि सामान्य विशेष स्वीकार करते हैं। एक ही पृथिवी स्व-व्यक्तियों में अनुगत होने से सामान्यात्मक होकर भी जलादि से व्यावृत्ति कराने के कारण विशेष कहा जाता है। उनके यहां 'सामान्य ही विशेष है' इस प्रकार पृथिवीत्व आदि को सामान्यविशेष माना गया है। अतः उनके यहां भी एक आत्मा के उभयात्मकथन-विशेष प्राप्त नहीं होते।

वस्तु सत्-असत् रूप है, इस तथ्य को भी कणाद महर्षि ने अन्योन्यभाव के संदर्भ में स्वीकृत किया। वे लिखते हैं—सच्चासत्। यच्चान्यदसदतस्तदसत। व्याख्या में उपस्कारकर्ता ने जैन दर्शन के समतुल्य ही कहा है—

यत्र सदैव घटादि असदितित्यवद्धियते तत्र तादात्म्याभावः प्रतीयेत। अर्थात् वस्तु स्व-स्वरूप की अपेक्षा से अस्ति रूप है और पर-स्वरूप की अपेक्षा से अस्ति रूप है और पर- स्वरूप की अपेक्षा नास्ति रूप है। वस्तु में स्व की सत्ता की स्वीकृति और पर की सत्ता का अभाव मानना—यही तो अनेकांत है जो कि वैशेषिकों को भी स्वीकृत है, मान्य है।

**मीमांसा दर्शन में अनेकांतवाद—**

भट्ट कुमारिल लिखते हैं—

1. वर्द्धमानक भंगे च रूचक क्रियते यद्।
तदापूर्वार्थिन शोकः प्रीतिश्चाभ्युत्तरार्थिनः।।
2. हेमर्थिनस्तु माध्यस्थं तस्माद्वस्तु भयात्मकम्।
नोत्पाद स्थिति भंगानामभावे स्यान्मतित्रयम्।।
3. न नाशेन बिना शोको नोत्पादेन बिना सुखम्।
स्थित्या बिना न माध्यास्थ्यं तेन सामान्य नित्यता।।

(मीमांसा श्लोकवार्तिक, 21-23)

उत्पत्ति, विनाश और स्थिति के रूप में मीमांसा दर्शन में जो वर्णन है वही जैन दर्शन में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप त्रिपदी की स्थापना है। भट्ट कुमारिल के द्वारा पदार्थ को उत्पत्ति, विनाश और स्थितियुक्त मानना, अवयवी और अवयव में भेदाभेद मानना, सामान्य और विशेष को सापेक्ष मानना आदि तथ्य इसी बात को परिपुष्ट करते हैं कि दार्शनिक चिंतन की पृष्ठभूमि में कहीं-न-कहीं अनेकांत के तत्त्व उपस्थित रहे हैं।

**गीता में अनेकांतवाद**

गीता के ब्रह्म विषयक निर्वचन को पढ़ते ही अनेकांतवाद की स्मृति हो जाती है। ब्रह्म न सत् है और न असत् 'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते' (गीता 1/1/12) वह सर्वेंद्रिय व्यापारों से व्यावृत है और सर्वेंद्रिय गुणों से वर्जित है। वह ब्रह्म भी है और निकटस्थ भी है।

'सर्वेंद्रिय गुणाभासं विवर्जितम्' (गीता 13/14-15) इस प्रकार गीता में भी अनेकांत का पक्ष उजागर होता है।

**पाश्चात्य दर्शन में अनेकांतवाद**

जर्मन तत्त्ववेत्ता हेगल की मान्यता है कि विरुद्ध धर्मात्मकता ही संसार का मूल है। हमें किसी वस्तु का वर्णन करते हुए उसकी वास्तविकता का तो वर्णन करना ही चाहिए, परंतु उसके साथ उन विरुद्ध धर्मों का समन्वय किस प्रकार हो सकता है, यह भी बताना चाहिए। (Ibid, P. 467)

ब्रैडले का विश्वास है कि प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तु की तुलना में आवश्यक भी है और तुच्छ भी है। हर विचार में सत्य है, चाहे वह कितना ही झूठ हो, हर सत्ता में वास्तविकता है, चाहे वह कितनी ही तुच्छ हो।

(Appearance and Reality, P. 482)

इसी प्रकार और भी अनेक दार्शनिक हुए हैं, जिन्होंने पदार्थ में विरुद्ध धर्मात्मकता को स्वीकार किया है, एक वस्तु के विभिन्न रूपों को सापेक्ष माना है और किसी सत्त्व को निरपेक्ष नहीं माना। जाहिर है, भारतीय और पश्चिमी दर्शनों में अनेकांतवाद का मूल रूप स्वीकृत होने पर भी अनेकांत को स्वतंत्र दार्शनिक सिद्धांत का उच्चासन देने का गौरव केवल जैन दर्शन को ही है। ❖


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

# अनेकांत : न एकांत

हेमन्तकुमार डूंगरवाल

**अनेकांतवाद पदार्थ के उन अनंत धर्मों की ओर ध्यान केंद्रित करता हुआ कहता है, वस्तु अनंत गुणात्मक है, उसमें एक नहीं अनंत गुण हैं। उन अनंत गुणों को जानने के लिए अपेक्षा दृष्टि की आवश्यकता है और यह अपेक्षा दृष्टि ही अनेकांतवाद है।**

भारतीय दर्शन के इतिहास में जैन दर्शन एक अनोखी देन है। भारतीय दर्शन परंपरा के पन्नों को पलटकर उनमें उल्लिखित दर्शनशास्त्र की दीर्घ परंपरा को यदि हम देखें और समझने का प्रयत्न करें तो किसी तरह का संदेह नहीं रहता कि भारतीय दार्शनिक परंपरा को अनेकांतवाद के रूप में जैन दर्शन ने एक विशिष्ट सिद्धांत प्रदान किया है।

अहिंसा और अनेकांत जैन दर्शन के प्राणभूत हैं। हमारे शरीर में जो स्थान मन और मस्तिष्क का है, वही स्थान जैन दर्शन में अहिंसा और अनेकांत का है। अहिंसा आचारप्रधान है और अनेकांत विचारप्रधान है। अहिंसा व्यावहारिक है—उसमें प्राणीमात्र के प्रति दया, करुणा व मैत्री की निर्मल भावना निवास करती है, तो अनेकांत बौद्धिक अहिंसा है, उसमें विचारों की विषमता, मनोमालिन्य, दार्शनिक विचारभेद और उससे उत्पन्न होने वाला संघर्ष नष्ट होता है और सह-अस्तित्व, सद्‌व्यवहार के विमल विचारों के पुष्प महकने लगते हैं।

भगवान महावीर की मूल वाणी में जो अनेकांतवाद बीज रूप में सुरक्षित था उसे बाद के आचार्यों ने पल्लवित-पुष्पित ही नहीं किया, अपितु इस पर होने वाले आक्षेपों और प्रहारों का भी तर्कसंगत उत्तर दिया। इसके व्याख्याकारों में उमास्वाति, सिद्धसेन, समंतभद्र, मल्लिषेणसूरि, अकलंक, हरिभद्र, उपाध्याय यशोविजय, आचार्यश्री महाप्रज्ञ आदि के नाम प्रमुख हैं।

उमास्वाति के तत्त्वार्थाधिगमसूत्र और तत्त्वार्थ भाष्य में अनेकांतवाद पर विवेचन देखने को मिलता है।[1] अनेकांतवाद के व्याख्याकारों में सिद्धसेन का नाम प्रमुख है। उन्होंने अपने ग्रंथ 'सन्मतितर्क' में अनेकांतवाद की प्रौढ़ भाषा में और तर्कपुष्ट पद्धति से व्याख्या की है।

आचार्य समंतभद्र ने भी आप्त-मीमांसा ग्रंथ में जो अनेकांत की विशद व गहन व्याख्या की है वह अपने ढंग की अनूठी है। आचार्य हरिभद्र ने अपने 'अनेकांतवाद-प्रवेश' और 'अनेकांतवाद-पताका' जैसे विशिष्ट ग्रंथों में अनेकांत का तर्कपूर्ण प्रतिपादन किया है। आचार्य अकलंक ने 'सिद्धिविनिश्चय' ग्रंथ में अनेकांत का उज्ज्वल रूप उपस्थित किया है। उपाध्याय यशोविजयजी ने 'अनेकांतवाद-व्यवस्था', 'अनेकांतवाद-प्रवेश' आदि ग्रंथों में नव्य न्याय की शैली में अनेकांत की महत्त्वपूर्ण व्याख्या की है जो अपने-आप में अद्‌भुत है।

पाश्चात्य विचारकों में थॉमस, आइन्स्टीन आदि इस सिद्धांत के प्रबल समर्थक रहे हैं। आइन्स्टीन ने सापेक्षवाद के सिद्धांत को इसी भूमिका पर प्रतिष्ठित किया। थॉमस ने इस सिद्धांत के विषय में कहा है—'स्याद्वाद का सिद्धांत बड़ा गंभीर है, यह वस्तु की भिन्न-भिन्न स्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है।' जैन दर्शन के अनेकांतवाद की भारतीय मनीषियों ने भी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

महान दार्शनिक सिद्धसेन दिवाकर ने सन्मतितर्क में अनेकांतवाद को विश्व का गुरु कहा है। उनका मंतव्य है कि—

जेण विणा लोगस्य वि, ववहारो सव्वहा न निव्वडइ।
तस्स भुवणेक्क-गुरुणो णमो अणेगंत-वायस्य।।[2]

अर्थात् 'इस अनेकांतवाद के बिना लोक का व्यवहार चल नहीं सकता। मैं उस अनेकांत को नमस्कार करता हूं जो जन-जन के जीवन को आलोकित करने वाला गुरु है।'



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनेकांतवाद केवल तर्क का सिद्धांत नहीं, किंतु अनुभवमूलक सिद्धांत है।

आचार्य हरिभद्र[3] ने भी विचार व्यक्त करते हुए कहा है—

आग्रही बत निनीषति युक्तिं तत्र-यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्।।

'कदाग्रही व्यक्ति की जिस विषय में मति होती है, उसी विषय में वह अपनी युक्ति लगाता है, परंतु एक निष्पक्ष व्यक्ति उस बात को स्वीकार करता है जो युक्ति-सिद्ध होती है।'

ऋग्वेद में भी 'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'[4] अर्थात् एक ही सत् तत्त्व का विद्वान विभिन्न प्रकार से वर्णन करते हैं, के रूप में अनेकांतवाद अथवा स्याद्वाद का बीजवाक्य उपलब्ध होता है।

जैन दर्शन का स्पष्ट मंतव्य है कि 'प्रत्येक पदार्थ में अनंत धर्म हैं'।[5] वह अनंत गुणों और विशेषताओं को धारण करने वाला है। वस्तु के अनंत धर्मात्मक होने का अर्थ है, सत्य आकाश की तरह अनंत है और उस अनंत सत्य को निहारने के लिए दृष्टि भी अनंत चाहिए। विराट दृष्टि के द्वारा ही उस अनंत सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है। एकांगी व सीमित दृष्टि से सत्य के पूर्ण रूप को, कभी भी देखा व परखा नहीं जा सकता। एक ही दृष्टि से पदार्थ के पर्यालोचन की पद्धति एकांगी व अप्रमाणित है।

अनेकांत का तात्पर्य है 'न एकांत अनेकांत' अर्थात् जो एकांत नहीं है वह अनेकांत है[6] और वाद का अर्थ है सिद्धांत या मंतव्य। दोनों का अर्थ हुआ जो एकांत नहीं है वह मंतव्य।

**अनेकांतवाद अथवा स्याद्वाद वस्तुतः सुरभित फूलों का बगीचा है जिसमें नाना रंग और नाना प्रकार की सौरभ में महकते हुए अनेक प्रकार के फूल खिले रहते हैं। प्रत्येक फूल अपनी मोहक सौरभ महकाता है, किंतु दूसरे की सौरभ व सुंदरता पर किसी प्रकार का आघात नहीं करता। इसी प्रकार अनेकांतवाद के उद्यान में विविधता में एकता और एकता में विविधता, नित्यत्व में अनित्यत्व व अनित्यत्व में नित्यत्व आदि प्रकार के विचार-पुष्पों के दर्शन किए जा सकते हैं। इस विराट सिद्धांत के द्वारा विश्व के समस्त दर्शनों व धर्मों का समन्वय सहजता से किया जा सकता है, लेकिन खेद का विषय यह है कि हमने इसे सिद्धांत रूप में तो स्वीकारा, परंतु जीवन से जोड़ नहीं पाए।**

अनेकांतवाद पदार्थ के उन अनंत धर्मों की ओर ध्यान केंद्रित करता हुआ कहता है—वस्तु अनंत गुणात्मक है, उसमें एक नहीं अनंत गुण हैं। उन अनंत गुणों को जानने के लिए अपेक्षा दृष्टि की आवश्यकता है और यह अपेक्षा दृष्टि ही अनेकांतवाद है।

मुनि नथमल (वर्तमान आचार्यश्री महाप्रज्ञ) के शब्दों में—'वस्तु के अनंत पर्याय हैं, अनंत कोण हैं। वस्तु के धरातल पर अनंत कोणों का होना ही परम सत्य है। अनंत कोणों का होना विरोध नहीं है। उनका हमारी बुद्धि की पकड़ में न आना विरोध प्रतीत होता है। तरंगित समुद्र का दर्शन, निस्तरंग समुद्र के दर्शन से भिन्न होता है, निस्तरंग होना और तरंगित होना पर्याय हैं। इन दोनों पर्यायों के नीचे जो अस्तित्व है, वह पहले और पीछे—दोनों क्षणों में होता है।[7] उनका समग्र दर्शन अनंत दृष्टिकोणों से ही हो सकता है। उनका प्रतिपादन भी अनंत वचनभंगियों से ही हो सकता है। वस्तु के समग्र धर्मों को जाना जा सकता है पर कहा नहीं जा सकता। एक क्षण में एक शब्द द्वारा एक ही धर्म कहा जा सकता है। एक धर्म का प्रतिपादन समग्र का प्रतिपादन नहीं हो सकता है और समग्र को एक साथ कह सके, वैसा कोई शब्द नहीं है। इस समस्या को निरस्त करने के लिए भगवान ने सापेक्ष-दृष्टिकोण के प्रतीक शब्द 'स्यात्' का चुनाव किया।[8] स्याद्वाद का आशय है 'एक खंड के माध्यम से अखंड वस्तु का निर्वचन।[9]

अतः अनेकांत दृष्टि को जिस भाषा के माध्यम से व्यक्त किया जाता है—वह स्याद्वाद है। अनेकांत दृष्टि है और स्याद्वाद उस दृष्टि की अभिव्यक्ति की वचन शैली है। अनेकांतवाद और स्याद्वाद में मुख्य अंतर यह है कि अनेकांत विचार-प्रधान है और स्याद्वाद भाषा-प्रधान है। देवेन्द्रमुनि शास्त्री ने कहा कि 'अनेकांतवाद तर्क का सिद्धांत नहीं, अपितु अनुभवमूलक सिद्धांत है'।[10]


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन दर्शन का वज्रघोष है कि वस्तु में अनेक धर्म हैं। इन धर्मों में से किसी एक धर्म का निषेध नहीं किया जा सकता। जो एक धर्म का निषेध कर दूसरे धर्म का समर्थन करते हैं वे एकांतवाद से ग्रसित हो जाते हैं। व्यक्ति जब तक एकांतवाद के आग्रह का परित्याग नहीं करता तब तक तत्त्व का सही स्वरूप समझ नहीं सकता। किसी वस्तु के एक धर्म को सर्वथा सत्य मानना और दूसरे धर्म को सर्वथा असत्य कहना, वस्तु की पूर्णता को खंडित करना है। परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले धर्म अवश्य ही एक-दूसरे के विरोधी हैं, किंतु संपूर्ण रूप से विरोधी नहीं हैं।

मल्लिषेणसूरि ने स्याद्वाद मंजरी[11] में अनेकांतवाद के चार भेद बताए हैं—

स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव।
विपश्चितां नाथ निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गार परम्परेयम्।।

अर्थात् प्रत्येक वस्तु को (1) कथंचित् अनित्य, कथंचित् नित्य (2) कथंचित् सामान्य, कथंचित् विशेष (3) कथंचित् वाच्य, कथंचित् अवाच्य (4) कथंचित् सत् और कथंचित् असत् प्रतिपादित किया है।

अनेकांत में सम्यक्त्व का प्रकाश जगमगा रहा है। अनेकांतवाद की यह विशेषता है कि वह वस्तु के अन्य विद्यमान धर्मों की उपेक्षा करके किसी एक ही धर्म को ग्रहण नहीं करता। वह जिस वस्तु का निरूपण करता है उसके विविध धर्मों का परिज्ञान कराता है। इस अपेक्षा से ऐसा है और अन्य अपेक्षा से ऐसा भी है, वह 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करता है। 'ही' और 'भी' में बहुत अंतर है 'ही' में एकांतवाद का आग्रह है तो 'भी' में अनेकांतवाद है।[12]

भगवान महावीर का यह अनेकांतवाद मुख्य रूप से हमें तीन बातों की प्रेरणा देता है[13]—

1. कोई भी मत या सिद्धांत पूर्णतः सत्य या असत्य नहीं है, अर्थात् सिद्धांतों के प्रति दुराग्रह नहीं होना चाहिए।

2. विरोधियों द्वारा गृहीत और मान्य सत्य भी सत्य है इसलिए उस सत्य का अपने जीवन में उपयोग न करते हुए भी उसके प्रति सम्मान का भाव रखना चाहिए। इस प्रकार से विरोधियों के सत्य में भी हमारे लिए सृजनशील संभावनाएं निहित मिलेंगी, अन्यथा, विरोधियों के सत्य के प्रति हमारा उपेक्षाभाव विध्वंसक भावों को जन्म देगा।

3. मनुष्य का ज्ञान अपूर्ण है और ऐसा कोई एक मार्ग नहीं है, जिस पर चलकर एक ही व्यक्ति सत्य के सभी पक्षों की जानकारी प्राप्त कर सके—अतः सत्य के लिए कथित अन्य मार्ग भी उतने ही श्रेष्ठ हैं, जितना हमारा मार्ग। इस सत्य को स्वीकार कर लेने पर हमारे ज्ञान की अभिवृद्धि होती रहेगी और चिंतन के द्वार अवरुद्ध नहीं होंगे।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अनेकांतवाद अथवा स्याद्वाद वस्तुतः सुरभित फूलों का बगीचा है जिसमें नाना रंग और नाना प्रकार की सौरभ में महकते हुए अनेक प्रकार के फूल खिले रहते हैं। प्रत्येक फूल अपनी मोहक सौरभ महकाता है, किंतु दूसरे की सौरभ व सुंदरता पर किसी प्रकार का आघात नहीं करता। इसी प्रकार अनेकांतवाद के उद्यान में विविधता में एकता और एकता में विविधता, नित्यत्व में अनित्यत्व व अनित्यत्व में नित्यत्व आदि प्रकार के विचार-पुष्पों के दर्शन किए जा सकते हैं। इस विराट सिद्धांत के द्वारा विश्व के समस्त दर्शनों व धर्मों का समन्वय सहजता से किया जा सकता है, लेकिन खेद का विषय यह है कि हमने इसे सिद्धांत रूप में तो स्वीकारा, परंतु जीवन से जोड़ नहीं पाए।

आचार्य तुलसी ने सच ही कहा कि 'हमारी सबसे बड़ी गलती यही रही है कि तत्त्व की व्याख्या में हमने अनेकांत को जोड़ा, पर जीवन की व्याख्या में उसे जोड़ना भूल गए, जबकि महावीर ने जीवन के हर कोण के साथ अनेकांत को जोड़ने का प्रयत्न किया है'।[14] ❖

**संदर्भ :**

1. स्याद्वादमंजरी, पृ. 19
2. सन्मति-तर्क, 3/68
3. मु.द्व.अ.ग्र., पृ. 141
4. ऋग्वेद, 164, 46
5. अनंत धर्मात्मकमेव तत्त्वम्। स्याद्वाद मंजरी, श्लोक 22
6. अहिंसा की बोलती मीनारें, पृ. 111
7. श्रमण महावीर, पृ. 174
8. वही, पृ. 177
9. वही, पृ. 178
10. जैन धर्म और दर्शन, पृ. 60
11. (क) द्रष्टव्य, पृ. 231
    (ख) स्यादस्ति च नास्तीति च, नित्यमनित्यं त्वनेकमेकं च
    तदतच्चेनिचतुष्टय युग्मैरिव गुम्फितं वस्तु।।
    द्रष्टव्य—श्री पु.मु.अ.ग्र., चतुर्थ भाग, पृ. 354
12. अहिंसा की बोलती मीनारें, गणेश मुनि, पृ. 109
13. भगवान महावीर आधुनिक संदर्भ में, पृ. 129
14. साधना के शलाका पुरुष : गुरुदेव तुलसी, पृ. 176 ❖❖



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

बोध कथन

# अपराध और दंड तथा पांच प्रेरक प्रसंग

मुनि दुलहराज

•

**एक व्यक्ति छोटा या बड़ा अपराध करता है, किंतु वह उतना वाक्‌पटु है कि अपने अपराध को छिपाकर, दूसरे के सिर मढ़ देता है। दूसरा व्यक्ति अपने बचाव में सक्षम नहीं है। फिर भी वह अपने-आप को निर्दोष घोषित करने के लिए अनेक प्रयत्न करता है परंतु वह सफल नहीं होता। इसका कारण केवल यही नहीं कि अपराध करने वाला वाक्‌पटु है, परंतु उसके साथ एक शक्ति काम करती है, जो अपनी नहीं है, अपने आश्रय की है, जिससे कि वह उस अपराध से छूट जाता है, और दूसरा व्यक्ति अपराध नहीं करने पर भी दंडित होता है, क्योंकि उसका सहयोगी इतना प्रबल और शक्तिशाली नहीं है, तो इसका यह अर्थ हुआ कि अपराध को पोषण सहयोग से मिलता है। यदि सहयोग न हो तो अपराध अपनी मौत मर जाता है। वह पनप ही नहीं सकता।**

मिथिला के नरेश नमि अभिनिष्क्रमण कर रहे थे। नगरी की सारी जनता शोकाकुल थी। नमि प्रव्रज्या-ग्रहण के लिए उपस्थित हुए। इन्द्र ब्राह्मण का रूप बनाकर नमि के वैराग्य की परीक्षा करने हेतु उपस्थित हुआ।

इन्द्र ने कहा—'महाराज! आप प्रव्रजित हो रहे हैं। इससे पूर्व क्या यह आपका कर्तव्य नहीं हो जाता कि आप अपनी नगरी में सुरक्षा के समस्त साधनों को जुटाकर फिर अभिनिष्क्रमण करते?'

राजर्षि नमि ने कहा—'ब्राह्मण! संसार का स्वरूप विचित्र-सा है। यहां बहुत बार मनुष्य 'मिथ्या-दंड' का प्रयोग करते हैं। जो अपराधी होते हैं, वे छूट जाते हैं और निरपराध व्यक्ति दंडित होते हैं। ऐसी स्थिति में सुरक्षा कैसी?'

यह आगमकालीन एक प्रसंग है। इसमें राजर्षि नमि ने एक शाश्वत सत्य को अनावृत किया है।

अच्छाई और बुराई, अपराध और अनपराध—ये सब आपेक्षिक तथ्य हैं। जहां अपेक्षा है, वहां व्यक्ति, क्षेत्र, काल और अपना मनोभाव उससे जुड़ जाते हैं। इस चतुर्विध संयोजन से एक सत्य को परखा जाता है। वहां वह सत्य अंतिम सत्य नहीं रहता, आपेक्षिक बन जाता है। वहां उसकी कोई निश्चित इयत्ता नहीं होती, अतः निष्कर्ष या परिणाम भी भिन्न-भिन्न होते हैं।

जो व्यक्ति धर्म-संघ में है और यदि वह अपने संघ की मर्यादाओं की अवहेलना या अस्वीकार करता है तो वह अपराधी समझा जाता है। राजनीति के क्षेत्र में, अपने-अपने गुट के नियमों का अनादर या अस्वीकार अपराध माना जाता है और सामाजिक क्षेत्र में समाज की पारस्परिक नीतियों की अवहेलना अपराध समझा जाता है। क्षेत्रों की भिन्नताओं के कारण अपराधों के स्वरूप में भी भिन्नता आ जाती है। इसी प्रकार काल और व्यक्ति के आधार पर भी अपराध की परिभाषा भिन्न-भिन्न होती है।

एक व्यक्ति छोटा या बड़ा अपराध करता है, किंतु वह उतना वाक्‌पटु है कि अपने अपराध को छिपाकर, दूसरे के सिर मढ़ देता है। दूसरा व्यक्ति अपने बचाव में सक्षम नहीं है। फिर भी वह अपने-आप को निर्दोष घोषित करने के लिए अनेक प्रयत्न करता है परंतु वह सफल नहीं होता। इसका कारण



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

केवल यही नहीं कि अपराध करने वाला वाक्पटु है, परंतु उसके साथ एक शक्ति काम करती है, जो अपनी नहीं है, अपने आश्रय की है, जिससे कि वह उस अपराध से छूट जाता है, और दूसरा व्यक्ति अपराध नहीं करने पर भी दंडित होता है, क्योंकि उसका सहयोगी इतना प्रबल और शक्तिशाली नहीं है, तो इसका यह अर्थ हुआ कि अपराध को पोषण सहयोग से मिलता है। यदि सहयोग न हो तो अपराध अपनी मौत मर जाता है। वह पनप ही नहीं सकता।

एक प्रश्न होता है कि अपराध-रहित व्यक्ति दंडित क्यों होता है? इसके अनेक कारण हैं। उनमें एक है—अपने-आप को खोकर भी दूसरे को प्रसन्न रखने की मनोवृत्ति और दूसरा है बुराई के प्रतिकार हेतु साहस का अभाव। ये दोनों कारण उसके सहजात नहीं हैं, परिस्थिति से उत्पन्न होते हैं। वह सोचता है—व्यवहार का पालन जीवन का अनिवार्य अंग है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का जीवन व्यावहारिक भूमिकाओं पर चलता है। व्यवहार की अपेक्षा कर वह मानसिक शांति बनाए नहीं रख सकता और जहां अशांति होती है, वहां उसके पदच्युत होने की आशंका बनी ही रहती है। वह व्यवहार का पोषण करता है। उसमें अनेक व्यवहार उसकी विचारधारा से टकराते हैं, परंतु वह उनसे अविचलित होते हुए, व्यवहार से समझौता करता है—यह उसकी सैद्धांतिक पराजय है, किंतु व्यावहारिक विजय है। इस विजय के आलोक में वह इतस्ततः मित्र बनाते हुए एक सुंदर व्यावहारिक जीवन की पृष्ठभूमि तैयार करता है और उसी पर बढ़ता चला जाता है। यह पद्धति एक में नहीं, सबमें मात्रा-भेद से पाई जाती है। जब इसमें मात्रा का अतिरेक होता है, तब हम उसे चापलूस कह देते हैं और जब उचित मात्रा का निर्वाह नहीं होता, तब हम उसे उद्दंड कह देते हैं। मात्रा का संतुलन व्यावहारिक जीवन का मर्यादा-सूत्र है, और इसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

परंतु जब व्यक्ति दंडित होता है, तब उनके विचार विद्रोह करते हैं और वह अपराध या अपराधी को अनावृत करने के लिए उतावला हो उठता है। इस आवेश का कभी-कभी अत्यंत दुखद अवसान होता है, परंतु इसको रोकना अत्यंत कठिन है। वह व्यक्ति यह सोचता है कि जब मैं अत्यंत निर्दोष हूं, तब दंडित क्यों होऊं? क्या यह मेरे स्वतंत्र चैतन्य का अनादर नहीं है? क्या मैं इस दंड को स्वीकार कर अपनी क्लीवता नहीं दिखा रहा हूं? क्या मैं प्रतिकार करने में असमर्थ हूं? क्या नेता ने मुझे अपराधी समझकर दंड दिया है या मुझको अनपराधी समझते हुए भी किसी दूसरे व्यक्ति के अपराध को मुझ पर मढ़कर, उसको बचाने के लिए, मुझे दंडित किया है? क्या मेरे प्रति कोई ऐसा वातावरण बनाकर मुझे अपमानित करने का तो यह उपक्रम नहीं है? ऐसे ही अनेक प्रश्न उसके मन को कचोटते हैं और उसमें अव्यक्त विद्रोह की आग भभक उठती है, किंतु असहाय होने के कारण वह उस आग में तिल-तिल कर जलता है और तब तक जलता रहता है, जब तक कि उसे समाधान नहीं मिल जाता।

### नन्द-उपनन्द

भगवान बंभणगाम नगर में आए। गोशाला साथ में था। वहां नन्द तथा उपनन्द दो भाई रहते थे। उस ग्राम के दो पाड़े (भाग) थे। एक भाग नन्द के अधीन था, दूसरा उपनन्द के। भगवान महावीर नन्द पाड़े में नन्द के घर गए। नन्द ने भगवान को आहार आदि से प्रतिलाभित किया। गोशाला उपनन्द के पाड़े में उपनन्द के घर गया और भिक्षा की याचना की। भिक्षा तैयार नहीं थी। तब उपनन्द ने बासी चावल देने चाहे। गोशाला ने उन्हें लेने से इनकार कर दिया। उपनन्द को यह उचित नहीं लगा। उसने अपनी दासी से कहा—'जा, तू इन चावलों को उसी भिक्षुक के ऊपर डाल दे।' दासी ने वैसा ही किया। इस व्यवहार से गोशाला कुपित हो गया। आंखें लाल करता हुआ वह बोला—'यदि मेरे धर्माचार्य का कोई तेज या तपस्या का बल है तो इसका घर जलकर भस्म हो जाए।' पास में ही एक वाणव्यंतर देव का आयतन था। देवता ने यह जाना। उसने सोचा, भगवान का तेज अन्यथा न हो। उपनन्द का घर जल गया। घर वालों ने गोशाला को बहुत बुरा-भला कहा, वह भयभीत होता हुआ भगवान के पास शीघ्र ही आ गया।



Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

## नियति

भगवान गोशाला के साथ 'सुवर्ण खलय' ग्राम की ओर जा रहे थे। रास्ते में कई ग्वाले 'खीर' बनाने का उपक्रम कर रहे थे। उनके पास गायों का दूध तथा नए तंदुल थे। गोशाला ने यह देखा। उसने भगवान से कहा—'भगवन्! आज यहीं भोजन करें।' भगवान ने कहा—'यह खीर नहीं बनेगी। बर्तन फूट जाएगा और खीर जमीन पर गिर जाएगी।' गोशाला को भगवान के वचन पर विश्वास नहीं हुआ। वह ग्वालों के पास गया और उनसे कहा—'तीन काल के ज्ञाता ने कहा है कि खीर का यह पात्र फूट जाएगा। अतः तुम इसकी सुरक्षा के लिए प्रयत्न करो।' ग्वालों ने पात्र को बांस के पत्रों से बांधकर अग्नि पर चढ़ा दिया और उसमें बहुत-सारे चावल डाले। कुछ समय बाद अति चावलों से वह पात्र फूट गया। खीर नीचे गिर गई। ग्वालों ने कुछ-कुछ आस्वाद लिया। गोशाला को कुछ नहीं मिला। नियति पर उसका विश्वास दृढ़ हो गया।

## गोशाला

ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान महावीर चंपा नगरी में पधारे। तीसरा वर्षावास यहीं व्यतीत करने का निश्चय कर लिया। भगवान सदा तपस्या को प्रधानता देते। इस वर्षावास में दो-दो मास की तपस्या करने का निश्चय किया। तपस्या में ध्यान और ध्यान में उत्कटुक आसन से भगवान स्थित थे। प्रथम दो मास बीते। पारणा हुआ। दूसरे दो मास की तपस्या पूर्ण हुई। पारणा चंपा की बाहिरिका में किया। वहां से भगवान 'कालाय' सन्निवेश में पधारे। एक शून्य गृह में ठहरे। गोशाला साथ था। भगवान एकांत में जा ध्यान में लीन हो गए। गोशाला द्वार पथ पर बैठ गया। उसी नगर का सिंह नामक श्रेष्ठी पुत्र अपनी गोष्ठया दासी के साथ रमण करने वहां आया। सर्वप्रथम उसने शून्य गृह को ध्यान से देखा कि कोई भीतर तो नहीं है। भगवान तथा गोशाला उसे नहीं दिखे! गोशाला ने उन्हें क्रीड़ा करते देख लिया। जब वह रमण कर जाने लगा तब गोशाला ने कहा—'छीः-छीः!' सिंह को क्रोध आया। उसने गोशाला को खूब पीटा। वह भगवान के पास गया और कहा—'भगवन्! लोग मुझे पीटते हैं; आप उसका निषेध नहीं करते।' भगवान ने कहा—'तू संयम क्यों नहीं रखता? उपयुक्त स्थान को छोड़कर बाहर क्यों बैठा रहता है?'

## चक्रवर्ती महावीर

सुरभिपुर के पास वाली गंगा नदी को पार कर भगवान 'थूणाग' सन्निवेश की ओर आगे बढ़े। नदी के तट की चिकनी मिट्टी में भगवान के पैरों की रेखाएं उत्कीर्ण हुईं। पूष नामक सामुद्रिक शास्त्री ने रेखाओं को देखकर सोचा—'यह चक्रवर्ती होगा। एकाकी है। मैं इसकी इस कुमार अवस्था में उपासना करूं। आगे चलकर यह सेवा मेरे लिए लाभप्रद होगी।' वह भगवान के पास गया। भगवान प्रतिमा में स्थित थे। भगवान को देखकर उसने सोचा—'मेरा ज्ञान निरर्थक है। क्या इन रेखाओं से युक्त व्यक्ति अकिंचन श्रमण हो सकता है? चलो, ऐसी विद्या से मुझे क्या?' इतने में ही देवराज इन्द्र वहां आए। भगवान की स्तवना कर पूष से कहा—'तुम लक्षण विद्या नहीं जानते। यह महात्मा अपरिमित लक्षण वाला है। इसके आभ्यंतर लक्षण भिन्न हैं। शास्त्रवाणी कभी झूठी नहीं होती। तुम्हारा यह अनुमान कि यह चक्रवर्ती होगा, सही है। यह पुण्यात्मा धर्म-तीर्थ का चक्रवर्ती है। देवेंद्र और नरेंद्रों से पूजित है।' सामुद्रिक शास्त्री पूष को संतोष हुआ। अपने ज्ञान की अविकलता पर उसे हर्ष हुआ और वह भगवान के अतिशयों की मन-ही-मन प्रशंसा करता हुआ आगे बढ़ चला।

## नौका में महावीर

भगवान 'सुरभिपुर' ग्राम में पधारे। वहां गंगा नदी को पार करने के लिए एक नौका में बैठे। अन्यान्य लोग भी उसमें बैठे। 'सिद्धयात्र' नामक नाविक नौका खे रहा था। उस नौका में 'खेमलक' नामक व्यक्ति शकुनशास्त्र का पारंगत विद्वान भी था। नौका चली।

खेमलक ने कहा—'शकुन के अनुसार नाव में बैठे हुए हम सब व्यक्तियों की मृत्यु होगी। किंतु हमारे मध्य में बैठे हुए इस महान ऋषि के प्रभाव से हम जीवित रह सकेंगे।' नौका कुछ आगे बढ़ी। इधर देव नागकुमार के राजा सुन्द्रष्टा ने भगवान को नौका में बैठे


Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हुए देखा। पूर्वजन्म का वैर उभर आया। उसने भगवान से बदला लेना चाहा। (पूर्वजन्म में यह नागकुमार एक सिंह था और भगवान ने अपने पूर्वजन्म में जब वासुदेव थे, तब उस सिंह को मारा था।) आवेग बढ़ा। नागकुमार देव ने नदी में संवर्तक वायु की विकुर्वणा कर नौका को उलटना चाहा, परंतु उसका प्रयत्न सफल नहीं हुआ। कंबल संबल नामक नागकुमार देव वहां आए। सुन्द्रष्टा को उपसर्ग करने से रोका। सविधि नदी को पार कर भगवान नौका से उतरे। ईर्यापथ का प्रतिक्रमण कर आगे चले। ❖


## फार्म-4 (नियम 8 देखिए)

| | | |
|---|---|---|
| 1. | प्रकाशन स्थान | : गंगाशहर, बीकानेर |
| 2. | प्रकाशन अवधि | : मासिक |
| 3. | मुद्रक का नाम | : दीपचन्द सांखला |
| | क्या भारतीय नागरिक है | : हां |
| | पता | : सांखला प्रिण्टर्स, सुगन निवास<br>चन्दनसागर, बीकानेर |
| 4. | प्रकाशक का नाम | : भंवरलाल सिंघी |
| | क्या भारतीय नागरिक है | : हां |
| | पता | : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा<br>शाखा कार्यालय तेरापंथी भवन,<br>गंगाशहर 334401 (बीकानेर) राजस्थान |
| 5. | संपादक का नाम | : शुभू पटवा |
| | क्या भारतीय नागरिक है | : हां |
| | पता | : भीनासर, बीकानेर |
| 6. | उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार पत्रों के स्वामी हों तथा जो समस्त पत्रों के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों। | : जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा<br>3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 |

मैं भंवरलाल सिंघी एतद्द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

**भंवरलाल सिंघी**

प्रकाशक के हस्ताक्षर





Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन भारती, मार्च-मई (संयुक्तांक), 2002 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/2000

जो धर्म हमारे दैनंदिन व्यवहार को प्रभावित नहीं कर सकता, उसका जीवन के लिए कोई लाभ नहीं। —आचार्य तुलसी

श्रद्धा अंधविश्वास नहीं है, पवित्र चेतना का विकास है, शक्ति का अजस्र और अक्षय स्रोत है। —आचार्य महाप्रज्ञ

भावशुद्धि उत्कृष्ट धर्म है, उसके द्वारा आचरण शुद्ध होता है, शुद्ध आचार चित्त के भावों का शोधन करता है। —युवाचार्य महाश्रमण

महासभा के निवर्तमान अध्यक्ष श्री भंवरलाल डागा से श्रद्धानिष्ठ श्रावक स्व. घीसूलालजी का अलंकरण स्वीकारते हुए उनके सुपुत्र श्री पुखराजजी परमार

जीवन की सफलता का सबसे बड़ा सूत्र है—आस्था। यदि आस्था और श्रद्धा केंद्रित है, गहरी है तो सफलता मिल सकती है। यदि आस्था विकेंद्रित है, बिखरी हुई है तो सफलता नहीं मिल सकती। —आचार्य महाप्रज्ञ

*शुभकामनाओं के साथ*

# प्रकाश ज्वैलर्स

**32, नारायणप्पा निकेतन गली, पुराना वाशरमैन पेट, चैन्नई-21**

**फोन : (O) 5954765, (R) 5957612**

भँवरलाल सिंघी, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org